भारतीय संस्कृति का विकास

प्रथम खण्ड

[भूमिका-खण्ड-सहित]

卐

वैदिक धारा

卐

ग्रन्थकार
डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री
एम० ए०, डी० फिल० (ऑक्सन)
पूर्व प्रिंसिपल, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस

प्रकाशक :
समाज विज्ञान परिषद्
काशी विद्यापीठ, बनारस

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक डॉ० मगलदेव शास्त्री द्वारा समाज विज्ञान परिषद्, बनारस, के सम्मुख दी गई व्याख्यानमाला का निबन्धन है। भारतीय सस्कृति को तीन दृष्टियो से देखा जाता है। एक तो परम्परावादियो की सकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टि है और दूसरी इसके प्रतिवाद स्वरूप आधुनिकतावादियो की दृष्टि है जो सारी प्राचीन परम्परा को अन्धविश्वास और प्रतिक्रियावादिता ही मानती है। तीसरी दृष्टि ऐतिहासिक समन्वय की दृष्टि है, जो प्राचीन तथा नवीन, प्राच्य तथा पाश्चात्य को ऐतिहासिक दृष्टि से समन्वित करके भारत के विभिन्न समुदायो तथा धर्मो के योग से भारतीय सस्कृति का स्वरूप निर्मित करती है। स्पष्ट है कि यही वैज्ञानिक दृष्टि सकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओ और विषमताओ को दूर करके देश के समस्त समुदायो मे एकसूत्रता ला सकती है, सबके अभिमान की वस्तु बन सकती है, राष्ट्र मे एकात्मता की भावना उत्पन्न कर सकती है और देश की अनेक नवीन तथा विषम समस्याओ का समाधान कर सकती है।

यह समन्वय का कार्य आज ही नही आरम्भ हुआ है, वरन् प्राचीन काल से ही होता आया है। विद्वान् लेखक ने दिखाया है कि परम्परागत हिन्दू धर्म के प्रसिद्ध नाम 'निगमागम धर्म' का अर्थ स्पष्टत. यही है कि इसका आधार केवल 'निगम' न होकर 'आगम' भी है और वह निगम-आगम-धर्मों का समन्वित रूप है। लेखक की दृष्टि मे 'निगम' का अभिप्राय वैदिक परम्परा से है और 'आगम' का अभिप्राय प्राचीनतर प्राग्वैदिक काल से आती हुई वैदिकेतर धार्मिक या सास्कृतिक परम्परा से है। एक ओर देव और दूसरी ओर असुर, दास या दस्यु जिन्हें 'अयज्ञा' तथा 'अनिन्द्रा' अर्थात् यज्ञ-प्रथा और इन्द्र को न माननेवाले कहा गया है, एक ओर ऋग्वेदीय रुद्र तथा अनेक वैदिक देवता और दूसरी ओर पौराणिक शिव तथा अन्य प्रचलित उपास्यदेव और कर्मकाण्ड, एक ओर कर्म और अमृतत्व तथा दूसरी ओर सन्यास और मोक्ष की भावना, एक ओर ऋषि-सम्प्रदाय और दूसरी ओर मुनि-सम्प्रदाय, एक ओर हिसामूलक मासाहार तथा असहिष्णुता और दूसरी ओर अहिसा तथा तन्मूलक निरामिषता और विचार-सहिष्णुता अथवा अनेकान्तवाद, एक ओर वर्ण और दूसरी ओर जाति, एक ओर पुरुषविध देवता और दूसरी ओर स्त्रीविध देवता, एक ओर कृषिमूलक ग्राम-व्यवस्था और दूसरी ओर शिल्पमूलक नगर-व्यवस्था इत्यादि द्वन्द्व प्राचीन काल की दो सस्कार-धाराओ की ओर सकेत करते है। पुराण, रामायण, महाभारत

आदि मे यक्ष, राक्षस, विद्याधर, गन्धर्व, किन्नर, नाग आदि अनेक प्राग्-ऐतिहासिक जातियो का उल्लेख भी मिलता है। निगमागम धर्म का आधार केवल श्रुति न होकर श्रुति-स्मृति–पुराण है। पुराण शब्द ही अत्यन्त प्राचीन सस्कृति की ओर सकेत करता है।

अतएव भारतीय सस्कृति के वैज्ञानिक अनुसधान के लिए वैदिक तथा वैदिकेतर साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन तथा लोकसाहित्य, लोकव्यवहार और लोकश्रुति तथा ऐतिहासिक और प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व-विज्ञान, भाषाविज्ञान, मानव-जाति-विज्ञान, पुराणविज्ञान आदि अनेक नवीन विज्ञानो के अनुशीलन की आवश्यकता है। यह कार्य डॉ० मगलदेव शास्त्री जैसे प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्या के अधिकारी विद्वानो द्वारा ही हो सकता है। विद्वान् लेखक ने अपने अध्ययन को मौलिक आधारो पर ही प्रस्तुत किया है, उसमें उतनी ही और वे ही बाते प्रस्तुत की गई है जो वेद आदि प्रमाणो से प्रत्यक्ष रूप से निष्पन्न होती है। किसी बात का कल्पना के आधार पर अप्रमाणित विस्तार नही किया गया है। इस मौलिक अध्ययन का एक आवश्यक परिणाम यह भी हुआ है कि आजकल प्रचलित अनेक वैज्ञानिक शब्दो के लिये सुन्दर पर्याय प्राप्त हुए है।

भारतीय सस्कृति का सम्पूर्ण विकास ही प्रस्तुत ग्रथ का प्रतिपाद्य विषय है, इसके लिये लेखक ने उसकी विभिन्न धाराओ, जैसे 'वैदिक, औपनिषद, जैन, बौद्ध, पौराणिक, सत, इस्लाम और इसाइयत पर विवेचनात्मक दृष्टि से विचार करने तथा अन्त मे उसके भावी विकास पर भी दृष्टि डालने का सत्सकल्प किया है। यह कार्य ग्रथ के आठ या नौ खण्डो में पूर्ण होगा। इसका भूमिका खण्ड तथा प्रथम खण्ड—वैदिकधारा ही इस समय प्रस्तुत किया जा रहा है। मुझे विश्वास है कि भारतीय सस्कृति के अध्ययन मे यह पुस्तक पथ-निर्देश का काम करेगी और भारतीय सस्कृति तथा समाजशास्त्र के विद्यार्थियो के लिये तो यह आवश्यक पाठ्यग्रंथ होगी ही, अन्य जिज्ञासु तथा विद्वान् पाठक भी इससे लाभान्वित होगे और इस सेवा का समुचित आदर करेगे।

लखनऊ,
तिथि १ जनवरी, १९५६

नरेन्द्रदेव
अध्यक्ष
समाज विज्ञान परिषद्, बनारस

प्रस्तावना

'भारतीय संस्कृति का विकास' नामक इस ग्रन्थ को प्रायेण आठ खण्डों मे समाप्त करने का हमारा विचार है। भारतीय संस्कृति की वैदिक धारा के सबन्ध में उसी के (भूमिका-खण्ड-सहित) प्रथम खण्ड को इस समय हम विज्ञ पाठकों के सामने उपस्थित कर रहे हैं।

भूमिका-खण्ड (परिच्छेद १—४) का सबन्ध समग्र ग्रन्थ से है, केवल प्रथम खण्ड से नही।

ग्रन्थ की मुख्य विशेषता

ग्रन्थकी मुख्य विशेषता उसकी रचना के लक्ष्य, दृष्टिकोण और विषय-प्रतिपादन की प्रक्रिया या पद्धति में है। भूमिका-खण्ड में विस्तार से इन सब विषयो को स्पष्ट करने का हमने यत्न किया है। तो भी इस सबन्ध मे यहाँ कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है।

इधर कुछ वर्षों से, विशेषत स्वतन्त्रता-प्राप्ति के अनन्तर, भारतीय संस्कृति की चर्चा विशेष रूप से देश में रही है। अनेक ग्रन्थ इस के सबन्ध में प्रकाशित हो चुके हैं और हो रहे है। इसपर भी उसके स्वरूप के विषय में, ऐकमत्य न होकर, विभिन्न दृष्टियाँ ही पायी जाती है। किन्ही किन्ही दृष्टियो मे तो आकाश-पाताल का अन्तर है।

भारत के राजनीतिक इतिहास में संप्रदाय-निरपेक्षता (अथवा सप्रदाय-सम-भाव) तथा मानवता के सिद्धान्तों के आधार पर 'लोकतन्त्रात्मक गणराज्य' की स्थापना एक अनोखी घटना है, न केवल सैकड़ों वर्षों के दास्य के पश्चात् स्वतन्त्रता-प्राप्ति के कारण, अपितु अपने आधार-भूत सिद्धान्तों की महत्ता के कारण

भी । अत' उक्त गण-राज्य के रूप में स्वराज्य-प्राप्ति के अनन्तर हमारा प्रथम कर्तव्य है उक्त मौलिक सिद्धान्तों के आधार पर नव्य-भारत का सुदृढ और स्थायी पुनर्निर्माण ।

परन्तु यह किससे छिपा है कि इधर चिरकाल से सप्रदाय-वाद, जातिवाद तथा वर्गवाद की सकीर्ण और विघटनात्मक प्रवृत्तियाँ भारतीय इतिहास में बराबर काम करती रही हैं । सप्रदाय, वर्ण, जाति-पाँति की परम्परागत पृथक्त्व की भावनाओं से परिपूर्ण भारतवर्ष का अभिनव निर्माण विभिन्न सप्रदायों और वर्गो मे एकसूत्र-रूप से व्याप्त , समन्वयात्मक तथा अखिल-भारतीय भावना से युक्त भारतीय संस्कृति के आधार पर ही हो सकता है । उसी भारतीय सस्कृति के वास्तविक स्वरूप और स्वभाव को समझना प्रत्येक राष्ट्र-प्रेमी का आवश्यक कर्तव्य है ।

ऐसा होने पर भी , जैसा ऊपर कहा है, भारतीय सस्कृति के स्वरूप के विषय में , ऐकमत्य न होकर, विभिन्न दृष्टियाँ ही पायी जाती हैं ।

भारतीय सस्कृति के विषय में अब तक के लेखकों को प्रायेण तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—

प्रथम वर्ग तो उन सकीर्ण साप्रदायिक दृष्टि रखने वालो का है, जिनके सामने प्रगतिशील समष्टयात्मक भारतीय सस्कृति-जैसी कोई वस्तु या भावना रह ही नही सकती । विभिन्न भारतीय सप्रदायों में भी वे पारस्परिक पूरकता के स्थान में समानान्तरता और प्रतिद्वन्द्विता की भावना को ही सामने रख कर कुछ लिखने मे प्रवृत्त होते हैं । अपने ही सप्रदाय को सर्वोत्कृष्ट और सर्वांश मे सत्य मानने के कारण, वे दूसरे सप्रदायो के विषय में न्याय्य वुद्धि से काम नही ले सकते ।

दूसरे वर्ग के लेखक प्राय· वे विदेशी विद्वान् हैं, जिन्होने वहुत-कुछ अपने राजनीतिक स्वार्थ या अभिनिवेश के कारण, जाने या अनजाने, भारतीय संप्रदायो की ऊपरी प्रतिद्वन्दिता पर ही वल दिया है। ऐसे ही लेखको के प्रभाव के कारण हमारे जातीय जीवन में आर्य-अनार्य, वैदिक-अवैदिक, ब्राह्मण-अब्राह्मण, वर्णाश्रमी-वर्णाश्रमेतर, हिन्दू-अहिन्दू, हिन्दू-मुसलमान, हिन्दू-सिक्ख जैसी प्रतिद्वन्द्वी भावनाओं ने जड पकड कर नई समस्यायों को खडा कर दिया है ।

तीसरे वर्ग मे उन भारतीय विद्वान् लेखको का स्थान है, जो भारतीय चिर-परम्परा से प्राप्त जाति - वर्ण - या सम्प्रदाय-मूलक गहरे अभिनिवेश के कारण, जनता के वास्तविक जीवन के प्रवाह की उपेक्षा करके, वहुत कुछ 'शास्त्रीय दृष्टि' को ही सामने रख कर भारतीय सस्कृति की एकदेशी व्याख्या मे प्रवृत्त होते हैं ।

केवल शास्त्रो मे प्रतिपादित, पर व्यावहारिक जीवन मे असपृक्त, सस्कृति को सस्कृति कहा भी जा सकता है या नही, इसमे हमे सन्देह है। व्यवहारपक्ष या जनता-पक्ष की उपेक्षा करके, विशुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से किसी भी सस्कृति का ऐसा मनोमोहक चित्र खीचा जा सकता है, जिसका अस्तित्व, किसी दिव्यलोक मे भले ही हो, इस मर्त्यलोक मे तो नही हो सकता। फिर, शास्त्रीय अभिनिवेश वाला लेखक विभिन्न सप्रदायो का कहाँ तक न्याय-पूर्ण वर्णन कर सकता है?

इस सवन्ध मे **हमारा दृष्टि-कोण और लक्ष्य**, दोनो ही दूसरे लेखको से वहुत-कुछ भिन्न हैं।

प्रकृत ग्रन्थ मे हमारा प्रयत्न वरावर यही रहेगा कि हम, अपने को सकीर्ण अनुदार भावनाओं से पृथक् रखते हुए, प्रगतिशील भारतीय सस्कृति के अविच्छिन्न प्रवाह और विकास को इस प्रकार दिखा सके, जिससे—

(१) एक समन्वयात्मक भारतीय सस्कृति के आधार पर हमारे भारतीय राष्ट्र को दृढता और पुष्टि प्राप्त हो सके,

(२) भारतीय सस्कृति की प्रगति मे, वास्तविकता के आधार पर, विभिन्न सप्रदायों की देन और साहाय्य को दिखलाते हुए हम उनमें प्रतिद्वन्द्विता के स्थान में पूरकता की भावना का विकास कर सके,

(३) सप्रदायो में नैतिकता, नागरिकता और मानवता की दृष्टि से सहयोग के साथ-साथ, परस्पर समादर और सद्भावना की भी वृद्धि हो सके,

(४) सप्रदायो के स्वरूप और प्रभाव के निरूपण मे हम पूर्ण सद्भावना और न्याय्य-बुद्धि से काम ले सके। इस सवघ मे जो कुछ हम लिखे, उसका आधार, केवल पुस्तकाध्ययन न होकर, यथासभव उनके व्यावहारिक जीवन का आन्तरिक अवेक्षण भी हो। दूसरे शब्दो मे, शास्त्रीय और जनता-गत, दोनो पक्षों को साथ लेकर ही हम चलना चाहते हैं।

हमारी दृष्टि में भारतीय संस्कृति की विभिन्न धाराओ मे पारस्परिक विरोध-भावना के लिए वास्तव में कोई स्थान न होना चाहिए।

हम उन सव को समष्ट्यात्मक, अविच्छिन्न-प्रवाहिणी एक ही व्यापक भारतीय सस्कृति का पूरक और पोषक समझते हैं।

हमारे लिए वे सव धाराएँ, उनका उत्कृष्ट साहित्य और उनके मान्य महा-पुरुष, सव सम्माननीय और आदरणीय हैं।

हम चाहते हैं कि भारतीय राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को उन सब मे गर्व और गौरव की भावना के साथ साथ ममत्व की बुद्धि भी हो।

उपर्युक्त लक्ष्य और दृष्टिकोण को लेकर ही हम प्रकृत ग्रन्थ के लिखने में प्रवृत्त हुए हैं।

प्रक्रिया या पद्धति

ग्रन्थ की विषय-प्रतिपादन की प्रक्रिया या पद्धति के विषय में यहाँ अधिक कहने की आवश्यकता नही है। भूमिका-खण्ड (परिच्छेद ३) मे विस्तार से इसके सबन्ध में हम कह चुके हैं। यह स्पष्ट है कि समस्त भारतीय सप्रदायों मे एकसूत्र-रूप से व्याप्त समष्टयात्मक भारतीय सस्कृति के विकास के अध्ययन मे सकुचित तथा अनुदार **साम्प्रदायिक विचार-पद्धति** से काम ही नही चल सकता। उसमे **वैज्ञानिक विचार-पद्धति** का अवलम्बन अनिवार्य-रूप से आवश्यक है।

वैज्ञानिक विचार-पद्धति का मुख्य आधार उसकी तुलनात्मक और ऐतिहासिक प्रक्रिया है। किसी विषय के स्वरूप को उपपत्ति और युक्ति के सहित समझने के लिए हमे उसके इतिहास और विकास के साथ-साथ उसकी वर्तमान आपेक्षिक परिस्थिति को भी ठीक-ठीक जानना आवश्यक होता है।

इसलिए व्यापक दृष्टि से भारतीय सस्कृति के स्वरूप, स्वभाव और विकास को, उसकी अत्यत प्राचीन काल से आने वाली धारावाहिक जीवित परम्परा को, ठीक-ठीक समझने के लिए उसके इतिहास को जानने की अत्यन्त आवश्यकता है। इसके लिए स्पष्टत सत्य के अन्वेषण मे तत्पर विवेचनात्मक व्यापक ऐतिहासिक बुद्धि के साथ-साथ अन्य प्राचीन-परम्परागत सस्कृतियो के परिज्ञान की भी अपेक्षा है।

सत्यान्वेपण की भावना से प्रवत्त ऐतिहासिक का कर्तव्य है कि वह सब प्रकार के पूर्वग्रह और पक्षपात से रहित होकर भारतीय सस्कृति के विभिन्न कालो की वस्तु-स्थिति का निरूपण करे। उसे किसी भी वस्तु-स्थिति को अच्छे या बुरे रूपान्तर मे दिखाना अपनी न्याय्य-बुद्धि के विपरीत ही समझना चाहिए।

एक काल को दूसरे काल मे अध्ययन या आरोप करने की प्रवृत्ति (Anachronism) अबुद्धिपूर्वक साप्रदायिकों के अतिरिक्त अन्य लोगों मे भी देखी जाती है। सच्चे ऐतिहासिक को इस प्रवृत्ति की ओर से अपने को सदा सचेत रखना पड़ता है।

भारतवर्ष मे हम लोगो की प्रायेण यही प्रवृत्ति रही है कि हम बड़े-बड़े धार्मिक आन्दोलनो को, अवतारी महापुरुषो को और बड़ी-बड़ी ऐतिहासिक घटनाओं

को पूर्वापर परिस्थितियों से असंबद्ध तथा असंपृक्त अथवा आकस्मिक घटना के रूप में ही देखते हैं। परन्तु वास्तव में महान् आन्दोलनों, ऐतिहासिक घटनाओं और अवतारी महापुरुषों की पूर्ववर्ती और परवर्ती परिस्थितियों में कार्यकारण-भाव की परम्परा रहती है। वैज्ञानिक पद्धति का कर्तव्य है कि, वह उसका पता लगाए और उसका निरूपण करे।

किसी भी इतिहास के समान ही, भारतीय संस्कृति का इतिहास भी इसी प्रकार की कार्यकारण-भाव की परम्पराओं से निर्मित है। वैज्ञानिक पद्धति के अवलम्बन से ही हम उन परम्पराओं का अध्ययन कर सकते हैं।

भारतीय संस्कृति के लम्बे इतिहास में काल-भेद से विभिन्न स्तरों का पाया जाना स्वाभाविक है। हमारा कर्तव्य है कि हम, न केवल उनके परस्पर सम्बन्ध का ही, किन्तु प्रत्येक स्तर की पूर्वावस्था और अनन्तरावस्था का भी, उन-उन त्रुटियों का भी, जिनके कारण एक स्तर के पश्चात अगले स्तर का आना आवश्यक होता गया, पता लगावें। इसी प्रकार एक धारावाहिक जीवित परम्परा के रूप में भारतीय संस्कृति को हम समझ सकते हैं।

उपर्युक्त प्रकार के अध्ययन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति के विभिन्न कालों के साथ हमारी न केवल ममत्व की या तादात्म्य की ही भावना हो, किन्तु सहानुभूति भी हो।

वैज्ञानिक पद्धति के इन्ही मौलिक सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए हम भारतीय संस्कृति की विभिन्न धाराओं का और उसकी लम्बी परम्परा का अध्ययन प्रकृत ग्रन्थ में करना चाहते हैं।

विषय-निर्देश

ऊपर हमने भारतीय संस्कृति की विभिन्न धाराओं का उल्लेख किया है। इसका अभिप्राय यही है कि चिरन्तन काल से अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में आनेवाली भारतीय संस्कृति की धारा में, भगवती गंगा की धारा में मिलनेवाली सहायक नदियों की धाराओं के समान, तत्तत्कालीन विशिष्ट परिस्थितियों और आवश्यकताओं से उत्पन्न होनेवाली नवीन सांस्कृतिक उपधाराओं का समावेश होता रहा है। वे उपधाराएँ मूलधारा में अपृथक्-रूप से मिलकर एक होती रही हैं। उन्होंने सतत-प्रगति-शील मूलधारा के साथ विरोध-भाव न रखकर, पूरकता के रूप में उसको समृद्ध ही बनाया है।

इसके लिए अपनी अनुमति दे दी। इसलिए प्रकृत ग्रन्थ का, कई प्रकार से, बहुत बडा श्रेय श्री पित्ती जी को है। स्वभावत हम उनके कृतज्ञ हैं।

उसी लेखमाला के आधार पर, आवश्यक परिवर्तन और परिवर्धन के साथ, '**भारतीय संस्कृति का विकास**' ग्रन्थ का यह **प्रथमखण्ड** पाठकों की सेवा मे उपस्थित हो रहा है।

विशेप प्रसन्नता की बात है कि पुस्तक का प्रकाशन '**समाज-विज्ञान-परिषद्, काशी विद्यापीठ, बनारस**' जैसी प्रतिष्ठित सस्था की ओर से हो रहा है। इसके लिए हम विशेषत अपने मित्र श्री राजाराम शास्त्री, प्राध्यापक, काशी विद्यापीठ, के कृतज्ञ हैं, क्योंकि वास्तव मे उन्ही की प्रेरणा से उक्त परिषद् इसको प्रकाशित कर रही है।

अन्त मे हम 'विद्यामन्दिर प्रेस, लिमिटेड, बनारस' के अध्यक्ष श्रीकृष्णचन्द्र बेरी के भी अनुगृहीत हैं। उन्होने पुस्तक को शुद्ध और सुन्दर छापने मे यथाशक्य प्रयत्न किया है।

वैदिक-स्वाध्याय-मन्दिर,
ज्योतिराश्रम, बनारस कैंट,
माघ कृष्ण ५, २०१२
(१।२।१९५६)

मङ्गलदेव शास्त्री

विषय-सूची

भूमिका-खण्ड

(परिच्छेद १—४)

पहला परिच्छेद

भारतीय संस्कृति के आधार

दूसरा परिच्छेद

भारतीय संस्कृति का दृष्टिकोण

तीसरा परिच्छेद

भारतीय संस्कृति की वैज्ञानिक विचार-पद्धति

चौथा परिच्छेद

भारतीय संस्कृति की विचारधारा का लक्ष्य

—— ० ——

प्रथम खण्ड

भारतीय संस्कृति की दिकधारा

परिच्छेद ५—१

पाँचवाँ परिच्छेद

वैदिक वाङ्मय की रूपरेखा

छठा परिच्छेद

वैदिकधारा की दार्शनिक भूमिका

सातवाँ परिच्छेद

वैदिक धारा की तीन अवस्थाएँ

आठवाँ परिच्छेद

वैदिक उदात्त भावनाएँ

नवाँ परिच्छेद

वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि

दसवाँ परिच्छेद

वैदिक धारा की देन

ग्यारहवाँ परिच्छेद

वैदिक धारा का ह्रास

— ० —

प्रथम परिशिष्ट

(क) वैदिक धारा का अमृतस्रोत

(ख) वैदिक-सूक्ति-मञ्जरी

(ग) ब्राह्मणीय-सूक्ति-मंजरी

(घ) व्रत से आत्म-शुद्धि

(ङ) ब्रह्मचर्य

— ० —

द्वितीय परिशिष्ट

(क) संस्कृत साहित्य में ग्रन्थ-प्रणयन

(ख) वेदों का वास्तविक स्वरूप

अथवा

वेदों के महान् आदर्श

(ग) यजुर्वेद तथा वैदिक कर्मकाण्ड

(घ) वेदों के जीवन-प्रद संदेश

(ङ) भगवद्गीता का एक असाम्प्रदायिक अध्ययन

(च) वर्णभेद तथा जातिभेद का परस्पर सम्बन्ध

—.०—

उद्धृत अथवा उल्लिखित

ग्रन्थों की सूची

[निम्ननिर्दिष्ट सूची में तारा-चिह्नांकित ग्रन्थो का उद्धरण या उल्लेख केवल परिशिष्ट-भाग में हुआ है ।]

अथर्व-परिशिष्ट
अथर्ववेद-सहिता (शौनक-शाखा)
अमरकोष
अर्थशास्त्र (कौटिल्यकृत)
अष्टाध्यायी (पाणिनिमुनिकृत, अथवा पाणिनिसूत्र)
आपस्तम्बधर्मसूत्र (माइसोर, १८६८ ई०)
*आपस्तम्बधर्मसूत्र-टीका (माइसोर, १८६८ ई०)
आपस्तम्बयज्ञपरिभाषासूत्र
आर्यविद्यासुधाकर (डा० मङ्गलदेव शास्त्री द्वारा सपादित)
आर्योद्देश्यरत्नमाला (स्वामीदयानन्द-कृत)
आश्वलायनगृह्यसूत्र
आश्वलायनश्रौतसूत्र
उत्तररामचरित
उपवेद (आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थशास्त्र)
ऋक्सर्वानुक्रमणी
ऋग्वेद-खिल
*ऋग्वेदप्रातिशाख्य
*ऋग्वेदप्रातिशाख्यटीका (विष्णुमित्रकृत)
ऋग्वेदसहिता (शाकलशाखा)

ऋग्वेद (सायण) भाष्योपक्रमणिका
❁ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (स्वामीदयानन्द कृत)
ऐतरेयब्राह्मण
ऐतरेयब्राह्मणपर्यालोचन (ग्रन्थकर्ता, डा० मङ्गलदेव शास्त्री, १९५०)
ऐतरेयारण्यक
ऐतरेयारण्यकपर्यालोचन (ग्रन्थकर्ता, डा० मङ्गलदेव शास्त्री, १९५३)
कठोपनिषद्
❁'कल्पना' पत्रिका (हैदराबाद)
'कल्याण' पत्रिका (संस्कृति-विशेषांक)
काठकसंहिता (कृष्णयजुर्वेदीय)
काण्वसंहितासायणभाष्योपक्रमणिका
कात्यायन-श्रौतसूत्र (अच्युतग्रन्थमाला, बनारस, संवत् १९८७)
काशिका
कौषीतकि-ब्राह्मण
गीता (अथवा भगवद्गीता)
गोपथब्राह्मण (जीवानन्द विद्यासागर का संस्करण)
❁गोभिलगृह्यसूत्र
❁गोभिलगृह्यसूत्रभाष्य
गौतमधर्मसूत्र (पृ० १९९ पर माइसोर संस्करण, १९१७ ई०,
अन्यत्र आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला संस्करण, १९१०ई०)
चरकसंहिता
छन्द सूत्र (पिङ्गलकृत)
छान्दोग्योपनिषद्
जैमिनीयन्यायमालाविस्तर
❁तत्त्वबोधिनी (व्याकरणसिद्धान्तकौमुदी की टीका)
ताण्ड्यमहाब्राह्मण
तुलसीरामायण
तैत्तिरीयसंहिता
❁तैत्तिरीयारण्यक
दुर्जनकरिपञ्चानन (रङ्गाचार्यकृत 'व्यामोहविद्रावण' का उत्तर)
धम्मपद
नाट्यशास्त्र (भरतमुनिकृत)
निघण्टु (वैदिक)

निरुक्त (यास्काचार्यकृत)
*निरुक्तटीका (दुर्गाचार्यकृत)
निर्णयसिन्धु
न्यायमञ्जरी (जयन्तभट्टकृत, बनारस, १९३६)
न्यायसूत्र (गौतमन्यायसूत्र)
न्यायसूत्रवात्स्यायनभाष्य
पाणिनिसूत्रवार्त्तिक
पाणिनीयशिक्षा
पारस्कर-गृह्यसूत्र
प्रबन्धप्रकाश, भाग २ (ग्रन्थकर्ता, डा० मङ्गलदेव शास्त्री)
प्रस्थानभेद
बृहदारण्यकोपनिषद्
बृहद्देवता ('हारवर्ड ओरिएन्टल सीरीज़' १९०४)
बौधायनधर्मसूत्र (काशी संस्कृत सीरीज़, १९३४ ई०)
*बौधायनधर्मसूत्रटीका (माइसोर)
भागवत (श्रीमद्भागवत)
भागवत-माहात्म्य
मध्वतन्त्रमुखमर्दन (अप्पय दीक्षित-कृत)
मध्वमतविध्वसन ((अप्पय दीक्षित कृत)
मनुस्मृति (निर्णयसागर प्रेस का संस्करण)
मनुस्मृति पर कुल्लूकभट्ट की टीका
मन्त्र-ब्राह्मण
महाभारत (चित्रशाला प्रेस, पूना)
महाभाष्य (व्याकरणमहाभाष्य)
*महाभाष्यव्याख्या (कैयट कृत)
माध्वमुखभङ्ग (पृ० २३ पर 'चपेटिका' के स्थान मे 'भङ्ग' होना चाहिए, प० सूर्यनारायण-शुक्ल-कृत, बनारस)
माध्वमुखमर्दन (देखिए 'मध्व-तन्त्र-मुखमर्दन')
मालतीमाधवटीका, जगद्धरकृत
मीमांसासूत्र (जैमिनिमुनिकृत)
(पूर्वमीमांसासूत्र, मीमांसादर्शन)
मुण्डकोपनिषद्
मैत्रायणीसंहिता (कृष्णयजुर्वेदीय)

यजुर्वेदसहिता (शुक्ल तथा कृष्ण)
यजुर्वेदसहिता (शुक्लयजुर्वेदीय माध्यदिनी शाखा)
याजुषज्योतिप
योगसूत्र (पातञ्जलयोगसूत्र)
रघुवशमहाकाव्य
रश्मिमाला, अथवा 'जीवनसदेश-गीताञ्जलि' (ग्रन्थकर्ता, डा० मगलदेव शास्त्री, १९५४ ई०)
वायुपुराण (सस्करण, विब्लिओथेका इडिका सीरीज़, कलकत्ता, १८८०ई०)
वाल्मीकिरामायण (तिलकटीकासहित, निर्णयसागर प्रेस, वम्वई)
विक्रमोर्वशीय त्रोटक (कालिदासकृत)
विष्णुपुराण (पृ० ९७ पर जीवानन्दविद्यासागर का सस्करण, कलकत्ता, अन्यत्र गीताप्रेस, गोरखपुर, का सस्करण, स० १९९०)
विष्णुपुराण की श्रीधरी व्याख्या
*वृद्धमनुस्मृति
वेदाङ्गज्योतिष (लगधाचार्यकृत)
वेदान्तसूत्र
वेदान्तसूत्र-शाकरभाष्य
वैशेपिकसूत्र
शकरदिग्विजय (माधवाचार्य-कृत)
*शङ्ख-स्मृति
शतपथब्राह्मण
शाकुन्तलनाटक (अभिज्ञानशाकुन्तल)
श्रीगुरुग्रन्थसाहिव
*श्रीवेंकटेश्वरसमाचार, ववई
षड्दर्शनसमुच्चय (राजशेखरसूरिकृत)
षड् दर्शनसमुच्चय (हरिभद्रसूरिकृत)
सप्तम आल् इण्डिया ओरिएण्टल कान्फ्रेंस का विवरण (Proceedings)
*सपूर्णानन्द अभिनन्दन-ग्रन्थ (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी)
Sarasvati Bhavana Studies, Vol. X, 1938
साख्यतत्त्वकौमुदी
साख्यसूत्र (=कापिलसाख्यसूत्र)
सामवेदसहिता (राणायनीय शाखा)
सुश्रुतसहिता

सूतसंहिता
स्मृतिचन्द्रिका, संस्कारकाण्ड (माइसोर, १९१४ ई०)
हरिवंशपुराण
⊛हिरण्यकेशि-भाष्य, महादेवकृत
⊛The Social History of Kāmarūpa, Vol I, by
N N Vasu

---.o---

संक्षिप्त संकेत

उद्धृत अथवा उल्लिखित ग्रन्थो के नाम, प्रकृत ग्रन्थ में, प्रायेण पूरे दिये हैं। कही-कही दिये गये सक्षिप्त सकेत पास में आये हुए पूरे नाम से स्वत स्पष्ट हो जाते हैं। फिर भी निम्न-निर्दिष्ट सकेतो को यहाँ स्पष्ट कर देना उपयुक्त होगा—

अथर्व० =अथर्ववेद-सहिता (शौनक-शाखा)

ऋग्० =ऋग्वेदसहिता (शाकल-शाखा)

यजु० =यजुर्वेदसहिता (शुक्लयजुर्वेदीय माध्यन्दिन-शाखा)

साम० =सामवेदसहिता (राणायनीय शाखा)

——०——

मातृभूमेरभिनन्दनम्

सा नो माता भारती भूर्विभासताम्

येय देवी मधुना तर्पयन्ती
निस्रो भूमीरुद्धृता द्योरु.स्थात् ।
कामान् दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मी
मेधा श्रेष्ठा सा सदास्मासु दध्यात् ।।१।।

सर्वे वेदा उपनिषदश्च सर्वा
धर्मग्रन्थाश्चापरे निधयो यस्या ।
मृत्योर्मर्त्यानमृत ये दिशन्ति वै
सा नो माता भारती भूर्विभासताम् ।।२।।

या प्रच्युतामनु यज्ञा प्रच्यवन्ते
उत्तिष्ठन्ते ते भूय उत्तिष्ठमानाम् ।
यस्या व्रते प्रसवे धर्म एजते
सा नो माता भारती भूर्विभासताम् ।।३।।

या रक्षन्त्यनिश प्रतिवुध्यमाना
देवा ऋषयो मुनयो ह्यप्रमादम् ।
राजर्षयोऽपि ह्यनघा साधुवर्या
सा नो माता भारती भूर्विभासताम् ।।४।।

महान्तोऽस्या महिमानो निविष्टा
देवा गातु या क्षमन्ते न सद्य ।
सा नो वन्द्या भ्राजसा भ्राजमाना
माता भूमि प्रणुदता सपत्नान् ।।५।।

अभिनन्दनमिद पुण्य
दिव्यभावै समर्हितम् ।
मातृभूमे पठन्नित्य-
मात्मकल्याणमश्नुते ।।६।

भारतीय संस्कृति की दृष्टि से मातृभूमि का अभिनन्दन

विश्वप्रसिद्ध हमारी मातृभूमि भारत देदीप्यमान हो !

१ द्युलोक से मानो अवतीर्ण,
तीनो लोको को दिव्य माधुर्य से आपूर्ण करनेवाली,
अभिलषित कामनाओं को देनेवाली
तथा दुःख-दारिद्रय (अलक्ष्मी) को हटानेवाली,
देवीस्वरूपिणी भारत-माता
सद्विचारो की साधना मे हमारी सहायक हो !

२ मनुष्यो को मृत्यु से हटाकर
अमृतत्व की प्राप्ति का उपदेश देनेवाले
समस्त वेद, उपनिषद् तथा अन्य (बौद्ध, जैन आदि) धर्म-ग्रन्थ
जिस के निधि-स्वरूप है,
वह विश्वप्रसिद्ध हमारी मातृभूमि भारत देदीप्यमान हो !

३ जिसका अपकर्ष ससार मे
धर्माचरण के अपकर्ष का कारण होता है,
जिसके उत्कर्ष मे धर्माचरण का उत्कर्ष निहित है,
जिससे धर्म को प्रेरणा प्राप्त होती है,
वह विश्वप्रसिद्ध हमारी मातृभूमि भारत देदीप्यमान हो !

४ देवगण, ऋषि, मुनि, राजर्षि
और पवित्रात्मा सन्त-महात्मागण
सावधानता तथा तत्परता से
जिसके कल्याणमय स्वरूप की निरन्तर रक्षा करते आये है
वह विश्वप्रसिद्ध हमारी मातृभूमि भारत देदीप्यमान हो !

५ जिसकी महिमा महान् है,
देवगण भी जिसके स्वरूप का गान नहीं कर पाते,
समुज्ज्वल तेज से देदीप्यमान
वह सर्व-लोक-वन्दनीय हमारी मातृभूमि
विरोधी शत्रुओं को शमन (निराकरण) करनेवाली हो।

माहात्म्य

६. मातृभूमि भारत के दिव्य भावों से युक्त इस पवित्र अभिनन्दन का नित्य पाठ करने वाला मनुष्य आत्मकल्याण को प्राप्त होगा।

—— ० ——

भारतवर्ष-महिमा

सितासिते सरिते यत्र सगथे
तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति ।
ये वै तन्वं वि सृजन्ति धीरा-
स्ते जनासो अमृतत्व भजन्ते ॥

(ऋग्० खिल)

अर्थात्, वैदिक और वैदिकेतर दोनो धाराएँ जिसमें समन्वित होती हैं उस भारतीय सस्कृति की धारा में स्नान करनेवाले दिव्य प्रकाश को प्राप्त होते हैं। भारतवर्ष मे रहनेवाले ज्ञानी मनुष्य शरीर छोडने पर अमृतत्व का सेवन करते हैं।

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूयः पुरुषा सुरत्वात् ॥

(विष्णुपुराण २।३।२४)

अर्थात्, देवगण गीतों मे गान करते है कि जिन्होने स्वर्ग और निश्रेयस के मार्ग को दिखानेवाले भारतवर्ष में जन्म लिया है वे मनुष्य हम देवताओं की अपेक्षा अधिक धन्य हैं।

अहो भुव सप्तसमुद्रवत्या
द्वीपेषु वर्षेष्वधिपुण्यमेतत् ।

(भागवत ५।६।१३)

अर्थात्, अहो ! सात समुद्रों वाली इस पृथ्वी के समस्त द्वीपों और वर्षों में भारतवर्ष अत्यन्त पवित्र स्थान है।

—— o ——

शुद्धाशुद्धसूची

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३	३२	तस्प	तस्य
२३	१७	-मर्दन	-भङ्ग
५४	३०	रघु-	रघु-
६३	३०	मैया-	मैत्रा-
७१	२६	-मलका	-मूलका.
६३	६	की	का
६८	२६	१।८	८
१४६	३०	प्रशन	प्रश्न
२४१	२१	वौ०	वो०
,,	२१	वौ०	वो०
,,	,,	ग्रन्थ-	ग्रन्थस्य

(ऊपर के २ शोधन माइसोर सस्करण के अनुसार हैं)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६०	१	तेनैव	तेनैव
२६२	२६	द्वाया	द्वया
,,	,,	शुशु-	शुश्रु-
२६८	६	इमा मे	इमा

—— ० ——

भूमिका-खण्ड

[परिच्छेद १—४]

पहला परिच्छेद

भारतीय संस्कृति के आधार

जिस रूप में **भारतीय संस्कृति** का प्रश्न आज देश के सामने है, उस रूप में उसका इतिहास अधिक प्राचीन नही है। तो भी यह कहा जा सकता है कि भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के अनन्तर इस पर विशेष ध्यान गया है।

वर्तमान भारत मे यह प्रश्न क्यो उठा ? यह विषय रुचिकर होने के साथ-साथ मनन करने के योग्य भी है। हमारे मत मे तो इसका उत्तर यही है कि, विदेशीय सघटित विचारधारा तथा राजनीतिक शक्ति के आक्रमण का प्रतिरोध करने की दृष्टि से, हमारे मनीषियो ने अनुभव किया कि सहस्रो वर्षों की क्षुद्र तथा सकीर्ण साम्प्रदायिक विचार-धाराओ और भावनाओ के विघटनकारी दुष्प्रभाव को देश से दूर करने के लिए आवश्यक है कि जनता के सामने विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो में एकसूत्र-रूप से व्यापक, मौलिक तथा समन्वयात्मक विचार-धारा रखी जाए। भारतीय सस्कृति की भावना को उन्होंने ऐसा ही समझा। वर्तमान भारत में भारतीय सस्कृति के प्रश्न के उठने का यही कारण हमारी समझ में आता है।

संस्कृति शब्द का अर्थ

'सस्कृति' शब्द का क्या अर्थ है ? इस प्रश्न के झगडे मे हम इस समय पडना नही चाहते। सब लोग इसका कुछ-न-कुछ अर्थ समझ कर ही प्रयोग करते है। तो भी प्राय निर्विवाद रूप से इतना कहा जा सकता है कि

"कस्यापि देशस्य समाजस्य वा विभिन्नजीवनव्यापारेषु सामाजिकसम्बन्धेषु वा मानवीयत्वदृष्ट्या प्रेरणाप्रदानां तत्तदादर्शाना समष्टिरेव संस्कृतिः। वस्तुतस्तस्यामेव सर्वस्यापि सामाजिकजीवनस्योत्कर्ष पर्यवस्यति। तयैव तुलया विभिन्नसभ्यताना-मुत्कर्षापकर्षौ मीयेते। किं बहुना, सस्कृतिरेव वस्तुत. "सेतुर्विधृतिरेषां लोकानाम-सभेदाय" (छान्दोग्योपनिषद् ८।४।१।) इत्येव वर्णयितु शक्यते। अत एव च

सर्वेषा धर्माणा संप्रदायानामाचाराणा च परस्परं समन्वयः सस्कृतेरेवाधारेण कर्तुं शक्यते।" (प्रबन्धप्रकाश, भाग २, पृ० ३)।

इसका अभिप्राय यही है कि किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन-व्यापारो मे या सामाजिक सम्बन्धो मे मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले उन-उन आदर्शों की समष्टि को ही सस्कृति समझना चाहिए। समस्त सामाजिक जीवन की समाप्ति सस्कृति में ही होती है। विभिन्न सभ्यताओ का उत्कर्ष तथा अपकर्ष सस्कृति द्वारा ही नापा जाता है। उसके द्वारा ही लोगो को सघटित किया जाता है। इसीलिए सस्कृति के आधार पर ही विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायो और आचारो का समन्वय किया जा सकता है।

विद्वानो का इस विषय मे ऐकमत्य ही होगा कि ऊपर के अर्थ मे 'सस्कृति' शब्द का प्रयोग प्राय बिलकुल नया ही है।

भारतीय संस्कृति के विषय में विभिन्न दृष्टियाँ

सस्कृति के विषय में सामान्य रूप से उपर्युक्त विचार के होने पर भी, **भारतीय संस्कृति की भावना के विषय में** बडी गडबड दिखायी देती है। इस विषय मे देश के विचारको की प्राय परस्पर विरुद्ध या विभिन्न दृष्टियाँ दिखायी देती हैं।

इस विषय मे **अत्यन्त संकीर्ण दृष्टि** उन लोगो की है, जो परम्परागत **अपने-अपने धर्म या सम्प्रदाय को** ही 'भारतीय सस्कृति' समझते हैं। सस्कृति के जिस व्यापक या समन्वयात्मक रूप की हमने ऊपर व्याख्या की है, उसकी ओर उनका ध्यान ही नही जाता है। **'कल्याण'** पत्रिका ने कुछ वर्ष पहले एक **'संस्कृति-विशेषाक'** निकाला था। उसमे लेख लिखने वाले अधिकतर ऐसे ही सज्जन थे, जिनको कदाचित् यह भी स्पष्ट नही था कि प्राचीन 'धर्म', 'सम्प्रदाय', 'सदाचार' आदि शब्दो के रहने पर भी देश मे 'सस्कृति' शब्द के इस समय प्रचलन का मुख्य लक्ष्य क्या है ?

दूसरी दृष्टि उन लोगो की है, जो भारतीय सस्कृति को, भारतान्तर्गत समस्त सम्प्रदायो में व्यापक न मान कर, कुछ विशिष्ट सम्प्रदायो से ही सबद्ध मानते हैं। इस दृष्टि वाले लोग यद्यपि उपर्युक्त पहली दृष्टि वालो से काफी अधिक उदार है, तो भी देखना तो यह है कि उपर्युक्त विचार-धारा से प्रभावित भारतीय सस्कृति मे वर्तमान भारत की कठिन साम्प्रदायिक समस्याओ के समाधान की, तथा साथ ही ससार की सतत प्रगतिशील विचार-धारा के साथ भारतवर्ष को आगे बढाने की कहाँ तक क्षमता है। यदि नही, तब तो यही प्रश्न उठता है कि कही भारतीय सस्कृति के इस नवीन आन्दोलन से देश को लाभ के स्थान में हानि ही न उठानी पडे ? हमे तो ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ ही दिनो पहले तक सबसे सम्मानित 'भारतीय सस्कृति' शब्द उपर्युक्त विचार-धारा के कारण ही अब अपने पद से नीचे गिरने लगा है।

तीसरी दृष्टि उन लोगो की है जो भारतीय सस्कृति को, देश के किसी विशिष्ट एक या अनेक सप्रदायो से परिमित या बद्ध न मान कर, समस्त संप्रदायों में एकसूत्र-रूप से व्यापक, अतएव सब के अभिमान की वस्तु, काफी लचीली, और सहस्रो वर्षों से भारतीय परम्परा से प्राप्त संकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओ और विषमताओ के विष को दूर करके राष्ट्र में एकात्मता की भावना को फैलाने का एकमात्र साधन समझते हैं। स्पष्टतः इसी दृष्टि से भारतीय सस्कृति की भावना देश की अनेक विषम समस्याओ के समाधान का एकमात्र साधन हो सकती है।

दूसरी ओर, **लक्ष्य या उद्देश्य की दृष्टि से भी,** भारतीय सस्कृति के सम्बन्ध में लोगो में विभिन्न धारणाएँ फैली हुई हैं। कोई तो इसको **प्रतिक्रियावादिता** या **पश्चाद्गामिता** का ही पोषक या समर्थक समझते हैं। सस्कृति-रूपी नदी की धारा सदा आगे को ही बहती है, इस मौलिक सिद्धान्त को भूल कर वे प्रायः यही स्वप्न देखते हैं कि भारतीय सस्कृति के आन्दोलन के सहारे हम भारतवर्ष की सहस्रो वर्षों की प्राचीन परिस्थिति को फिर से वापिस ला सकेंगे। पश्चाद्गामिता की इसी विचार-धारा के कारण देश का एक बडा प्रभाव-सपन्न वर्ग भारतीय सस्कृति की भावना का घोर विरोधी हो उठा है, या कम-से-कम उसको सन्देह की दृष्टि से देखने लगा है।

दूसरे वे लोग हैं, जो भारतीय संस्कृति को देश के परस्पर-विरोधी तत्त्वो को मिलाने वाली, गंगा की सतत अग्रगामिनी तथा विभिन्न धाराओं को आत्मसात् करने वाली धारा के समान ही सतत प्रगति-शील, और स्वभावतः समन्वयात्मक समझते हैं। प्राचीन परम्परा से जीवित सम्बन्ध रखते हुए वह सदा आगे ही बढ़ेगी। इसीलिए उसे संसार के किसी भी वस्तुत. प्रगतिशील वाद से न तो कोई विद्वेष हो सकता है, न भय।

उपर्युक्त विभिन्न विचार-धाराओ के प्रभाव के कारण ही **भारतीय संस्कृति के आधार के विषय में भी** विभिन्न मत प्रचलित हो रहे हैं।

साम्प्रदायिक दृष्टिकोण

इस सम्बन्ध मे जनता में सबसे अधिक प्रचलित मत विभिन्न सप्रदायवादियो के हैं। लगभग दो-ढाई सहस्र वर्षों से इन्ही सप्रदायवादियो का बोलबाला भारत मे रहा है। इन सप्रदायो के मूल में जो आर्थिक, जातिगत, समाजगत या राज-नीतिक कारण थे, उनका विचार यहाँ हम नही करेंगे। तो भी इतना कहना अप्रासगिक न होगा कि इस दो-ढाई सहस्र वर्षों के काल में भी भारतवर्ष की राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों में इन सप्रदायवादियो का काफी हाथ रहा है।

अपने-अपने सप्रदाय तथा परम्परा को ही प्राय सृष्टि के प्रारम्भ से ब्रह्मा, शिव आदि द्वारा प्रवर्तित कहने वाले, तथा अपने से भिन्न संप्रदायो को

अपन से हीन कहने वाले, इन लोगो के मत मे तो 'विशुद्ध' भारतीय सस्कृति का आधार उनके ही सप्रदाय के प्रारम्भिक रूप मे ढूढना चाहिए।

ये लोग अपने-अपने संप्रदाय से अनन्तर-भावी या भिन्न सप्रदायो को प्राय अपने मौलिक धर्म का विकृत या विगडा हुआ रूप ही समझते है।

उदाहरणार्थ, **मनुस्मृति** के—

> **चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमा. पृथक्।**
> **भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ।।** (१२।९७)
> **या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टय.।**
> **सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ।।**
> **उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।**
> **तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ।।** (१२।९५-९६)

(अर्थात्, चातुर्वर्ण्य और चारो आश्रमो के साथ-साथ भूत, वर्तमान और भविष्य तथा तीनो लोको का परिज्ञान वेद से ही होता है। वेद-वाह्य जो भी स्मृतियाँ या सप्रदाय हैं, वे तमोनिष्ठ तथा नवीन होने के कारण निष्फल और मिथ्या हैं।) इत्यादि वचन, युगो के क्रम से धर्म के ह्रास की कल्पना[1], **मनुस्मृति** जसे ग्रन्थो मे शूद्रराज्य की विभीषिका, पुराणो मे **"नन्दान्तं क्षत्रियकुलम्"** (अर्थात् नन्दो के अनन्तर वैदिक सप्रदाय के पोषक 'क्षत्रिय' राजाओ का अन्त), धर्मशास्त्रो मे चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त के साथ-साथ सकरज जातियो की स्थिति की कल्पना, इत्यादि समस्त विचार-धारा उन्ही सप्रदायवादियो का प्रतीक है, जो भारतीय सस्कृति को प्रगतिशील और समन्वयात्मक न मान कर केवल अपने-अपने सप्रदाय में ही अपनी विचारधारा को वद्ध रखते रहे हैं।

एकमात्र शब्द-प्रमाण की प्रधानता, असहिष्णुता की भावना और भारत के वर्तमान या ऐतिहासिक स्वरूप के समझने में वैज्ञानिक समष्टि-दृष्टि का अभाव— इन वातो में ही इन लोगो का मुख्य वैशिष्ट्य दीख पडता है।

यह विचित्र-सी वात है कि हमारे कुछ आधुनिक इतिहास-लेखक तथा विचारक भी इस (वुद्धि-पूर्वक या अवुद्धि-पूर्वक) पूर्वग्रह मे शून्य नही है। साप्रदायिक या जातिगत पूर्वग्रह के कारण वे भारतीय सस्कृति के इतिहास के अध्ययन मे समष्टि-दृष्टि न रख कर, प्राय एकागी दृष्टि से ही काम लेते रहे हैं। केवल वौद्धो आदि पर भारत के अध पतन का दोप मढना, ऐसे ही लोगो का काम है।

---

१. तु० **"चतुष्पात्सकलो धर्म. सत्य चैव कृते युगे। इतरेष्वागमाद्धर्म. पादशस्त्ववरोपित.। चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादश. ।।"** (मनु० १।८१–८२)

ऐतिहासिक गवेषणा मे हमारी एकागी दृष्टि का एक मुख्य कारण यह होता है कि हम प्राय अपनी दृष्टि को सस्कृत साहित्य में ही परिमित कर देते है। पर **संस्कृत साहित्य में** कितनी अधिक **एकांगिता** है, इसका ज्वलन्त प्रमाण इसी से मिल जाता है कि बौद्धकालीन उस इतिहास का भी, जिसको हम भारत का स्वर्ण-युग कह सकते है, सस्कृत साहित्य में प्राय· उल्लेख ही नही है। **'व्याकरण-महाभाष्य'** में **पाणिनि आचार्य** के **"येषा च विरोधः शाश्वतिकः"** (अष्टाध्यायी २।४।९) (अर्थात्, जिनमे परस्पर शाश्वतिक विरोध होता है, उनके वाचक शब्दो का द्वन्द्व समास एकवचन में रहता है) इस सूत्र का एक उदाहरण **'श्रमण-ब्राह्मणम्'** दिया है। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि कम से कम ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व से ही श्रमणो (अर्थात् बौद्धो) और ब्राह्मणो मे सर्प और नकुल जैसी शत्रुता रहने लगी थी। सस्कृत साहित्य की उपर्युक्त एकागिता के मूल मे ऐसे ही कारण हो सकते है।

यही बात सस्कृतेतर भारतीय साहित्यो के विषय में भी कही जा सकती है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

भारतीय सस्कृति के आधार के विषय मे **उपर्युक्त सांप्रदायिक तथा एकांगी दृष्टि के मुक़ाबले में आधुनिक विज्ञान-मूलक ऐतिहासिक दृष्टि है**। इसके अनुसार भारतीय संस्कृति को उसके उपर्युक्त अत्यन्त व्यापक अर्थ मे लेकर, उसको स्वभावत प्रगतिशील तथा समन्वयात्मक मानते हुए, वैदिक परम्परा के सस्कृत साहित्य के साथ बौद्ध-जैन साहित्य तथा सन्तो के साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन, मूक जनता के अनकित विश्वासो और आचार-विचारो के परीक्षण[1], और भाषा के साथ-साथ पुरातत्त्व-सम्बन्धी ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक साक्ष्य के अनुशीलन द्वारा, समष्टि-दृष्टि से, भारतीय संस्कृति के आधारो का अनुसन्धान किया जाता है।

उपर्युक्त दोनो दृष्टियो मे किसका कितना मूल्य है, यह कहने की बात नही है। स्पष्टत उपर्युक्त वैज्ञानिक दृष्टि से ही हम भारतीय सस्कृति के उस समन्वयात्मक तथा प्रगतिशील स्वरूप को समझ सकते है, जिसको हम वर्तमान

---

१. यहाँ आपस्तम्ब-धर्मसूत्र के निम्न-लिखित सूत्रो को देखिए—**"सा निष्ठा या विद्या स्त्रीषु शूद्रेषु च।"** (निष्ठा=विद्यासमाप्तिः–टीका)। **"स्त्रीभ्यः सर्ववर्णभ्यश्च धर्मशेषान् प्रतीयादित्येके।"** (२।२९।११, १५)। इनसे स्पष्ट है कि धर्म के समान ही सस्कृति के भी वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए हमारी दृष्टि का क्षेत्र पर्याप्त रूप से विस्तृत होना चाहिए।

भारत के सामने रख सकते है और **जिसमें भारत के विभिन्न संप्रदायो और वर्गों को ममत्व की भावना हो सकती है।** यहाँ हम इसी दृष्टि से, सक्षेप में ही, भारतीय सस्कृति के आधारो की विवेचना करना चाहते हैं।

भारतीय सस्कृति के मौलिक आधार

भारतीय सस्कृति के आधार के विषय मे उपर्युक्त **समन्वय-मूलक दृष्टि** का क्षेत्र यद्यपि आज के वैज्ञानिक युग में अत्यधिक व्यापक और विस्तृत हो गया है, तो भी यह दृष्टि नितरा नवीन-कल्पना-मूलक है, ऐसा नही कहा जा सकता। भारतवर्ष के ही विद्वानो की परम्परागत प्राचीन मान्यताओ मे इस दृष्टि की पुष्टि में हमें पर्याप्त आधार मिल जाता है। उदाहरणार्थ, सस्कृत के विद्वानो से छिपा नही है कि वर्तमान पौराणिक हिन्दू धर्म के लिए **निगमागम-धर्म** नाम पडितो में प्रसिद्ध है। अनेक सुप्रसिद्ध ग्रन्थकारो के लिए, उनकी प्रशसा के रूप में, 'निगमागमपारावारपारदृश्वा' कहा गया है। इसका अर्थ स्पष्टत. यही है कि परम्परागत पौराणिक हिन्दू धर्म का आधार केवल 'निगम' (या वेद) न होकर, '**आगम**' भी है। दूसरे शब्दो में, वह निगम-आगम-धर्मो का समन्वित रूप है। यहाँ '**निगम**' का **मौलिक** अभिप्राय, हमारी सम्मति मे, निश्चित या व्यवस्थित वदिक परम्परा से है, और '**आगम**' का **मौलिक** अभिप्राय प्राचीनतर प्राग्वैदिक काल से आती हुई वैदिकेतर धार्मिक या सास्कृतिक परम्परा से है। 'निगमागम-धर्म' की चर्चा हम आगे भी करेगे। यहाँ तो हमे केवल यही दिखाना है कि प्राचीन भारतीय विद्वानो की भी अस्पष्ट रूप से यह भावना थी कि भारतीय सस्कृति का रूप समन्वयात्मक है।

इसके अतिरिक्त, साहित्य आदि के स्वतन्त्र साक्ष्य से भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते है। सबसे पहले हम वैदिक सस्कृति से भी प्राचीनतर प्राग्वैदिक जातियो और उनकी सस्कृति के विषय मे ही कुछ साक्ष्य उपस्थित करना चाहते है।

वैदिक साहित्य को ही लीजिए। **ऋग्वेद** में वैदिक देवताओ के प्रति विरोधी भावना रखने वाले दासो या दस्युओ के लिए स्पष्टत 'अयज्यव'[1] या 'अयज्ञा'[1] (=वैदिक यज्ञ-प्रथा को न मानने वाले), 'अनिन्द्रा'[2] (=इन्द्र को न मानने वाले) कहा गया है। इन्द्र को इन दस्युओ की सैकडो 'आयसी पुर'[3] (=लोहमय या लोहवत् दृढ पुरियो) को नाश करने वाला कहा गया है।

---
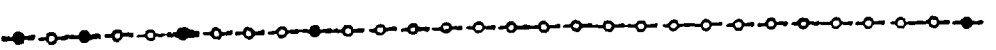
१ देखिए—"न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीँरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्। प्रप्र तान् दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून्॥" (ऋग्० ७।६।३)

२. देखिए—"किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्रा" (ऋग्० १०।४८।७)

३. देखिए—"हत्वी दस्यून् पुर आयसीर्नि तारीत्" (ऋग्० २।२०।८)

अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त के "**यस्या पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरा-नभ्यवर्तयन्**" (१२।१।५) (अर्थात्, जिस पृथ्वी पर पुराने लोगों ने विभिन्न प्रकार के कार्य किये थे और जिस पर देवताओ ने 'असुरो' पर आक्रमण किये थे) इस मन्त्र मे स्पष्टत प्राग्वैदिक जाति का उल्लेख है।[1]

भारतीय सभ्यता की परम्परा में 'देवो' की अपेक्षा 'असुरो' का पूर्ववर्ती होना और प्रमाणो से भी सिद्ध किया जा सकता है। सस्कृत भाषा के कोषो[2] मे असुरवाची 'पूर्वदेवा' शब्द से भी यही सिद्ध होता है।

बौधायन-धर्मसूत्र मे ब्रह्मचर्यादि आश्रमो के विषय में विचार करते हुए स्पष्टतः कहा है—

"ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः....तत्रोदाहरन्ति।
प्राह्लादिर्ह वै कपिलो नामासुर आस।
स एतान् भेदांश्चकार...तान् मनीषी नाद्रियेत।"
(बौधायन-धर्मसूत्र २।११।२९-३०)

अर्थात्, **आश्रमों का भेद** प्रह्लाद के पुत्र कपिल नामक **असुर** ने किया था।

पुराणों तथा वाल्मीकिरामायण आदि मे भारतवर्ष में ही रहने वाली यक्ष, राक्षस, विद्याधर, नाग आदि अनेक अवैदिक जातियो का उल्लेख मिलता है। जिस प्रकार इन जातियो की स्मृति और स्वरूप साहित्य में **क्रमशः** अस्पष्ट और मन्द पडते गये है, यहाँ तक कि अन्त मे इनको 'देवयोनि-विशेष' [तु० "**विद्याधराप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः। पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः॥**" (अमरकोष १।१।११)] मान लिया गया, इससे यही सिद्ध होता है कि ये प्रागैतिहासिक जातियाँ थी, जिनको क्रमश हमारी जातीय स्मृति ने भुला दिया। अग्रवालो आदि की अनुश्रुति मे भी 'नाग' आदि प्रागैतिहासिक जातियो का उल्लेख मिलता है।

पुराणो में शिव का जैसा वर्णन है, वह ऋग्वेदीय रुद्र के वर्णन से बहुत-कुछ भिन्न है। ऋग्वेद का रुद्र केवल एक अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता है। उसका यक्ष, राक्षस आदि के साथ कोई भी सम्बन्ध नही है। परन्तु पौराणिक शिव की तो एक विशेषता यही है कि उसके गण भूत, पिशाच आदि ही माने गये हैं। वह राक्षस और असुरो का खास तौर पर उपास्य देव है। इससे यही सिद्ध होता

---

१ और भी देखिए—"प्रेन देवा असुरान् प्राणुदन्त" (अथर्व० ९।२।१७)।, "सासुरानागच्छत् । तस्या विरोचन प्राह्रादिर्वत्स आसीन्. " (अथर्व० ८।१३।१-२)

२. तु० "असुरा दैत्यदैतेयदनुजेन्द्रारिदानवाः। शुक्रशिष्या दितिसुताः पूर्वदेवाः सुरद्विषः॥ (अमरकोष १।१।१२)

है कि शिव अपने मूल रूप मे एक प्राग्वैदिक देवता था, जिसका पीछे से शनै-शनैः वैदिक रुद्र के साथ एकीभाव हो गया ।

वैदिक तथा प्रचलित **पौराणिक उपास्य देवों और कर्मकाण्डो** की पारस्परिक तुलना करने से भी हम बरबस इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्रचलित हिन्दू देवताओ और कर्मकाण्ड पर एक वैदिकेतर, और बहुत अशो में प्रागैतिहासिक, परम्परा की छाप है ।

प्राचीन वैदिक धर्म की अपेक्षा पौराणिक धर्म मे **उपास्यदेवो** की सख्या बहुत बढ गयी है । **वैदिक धर्म** के अनेक देवता (जैसे ब्रह्मणस्पति, पूषा, भग, मित्र, वरुण, इन्द्र) या तो **पौराणिक धर्म** मे प्राय विलुप्त ही हो गये है या अत्यत गौण हो गये है। पौराणिक धर्म के गणेश, शिव, शक्ति और विष्णु ये मुख्य देवता है। वेद में इनका स्थान या तो गौण है या है ही नही । अनेक वैदिक देवताओ (जैसे विष्णु, वरुण, शिव) का पौराणिक धर्म मे रूपान्तर ही हो गया है। भैरव आदि ऐसे भी पौराणिक धर्म के अनेकानेक देवता है, जिनका वैदिक धर्म में कोई स्थान ही नही है ।

पौराणिक देव-पूजा-पद्धति भी **वैदिक पूजा-पद्धति** से नितरा भिन्न है। पौराणिक कर्मकाण्ड में धूप, दीप, पुष्प, फल, पान, सुपारी आदि की पदे-पदे आवश्यकता होती है। वैदिक कर्मकाण्ड मे इनका अभाव ही है।

वैदिक धर्म से प्रचलित पौराणिक धर्म के इस महान् परिवर्तन को हम वैदिक तथा वैदिकेतर (या प्राग्वैदिक) परम्पराओ के एक प्रकार के समन्वय से ही समझ सकते है ।

इसी प्रकार हमारी सस्कृति की परम्परा मे विचारधाराओ के कुछ ऐसे **परस्पर-विरोधी द्वन्द्व** है, जिनको हम वैदिक और वैदिकेतर धाराओ के साहाय्य के विना प्राय· नही समझ सकते । ऐसे ही कुछ द्वन्द्वो का सकेत हम नीचे करते है —

१ कर्म और सन्यास ।

२ ससार और जीवन का उद्देश्य हमारा उत्तरोत्तर विकास है। उत्तरोत्तर विकास का ही नाम अमृतत्व है।[1] यही नि श्रेयस है।

इसके स्थान मे—

ससार और जीवन दु खमय है। अतएव हेय है। इनसे मोक्ष या छुटकारा पाना ही हमारा ध्येय होना चाहिए ।

---

१. तुलना कीजिए—"उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् ।" (यजु० २०।२१) ।, "तमसो मा ज्योतिर्गमय" (बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।२८)। "जीवा ज्योतिरशीमहि" (ऋग्० ७।३२।२६) ।, "यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुद. प्रमुद आसते । . . तत्र माममृत कृधि ।।" (ऋग्० ९।११३।११) इत्यादि ।

३ ज्योतिर्मय लोको की प्रार्थना और नरको[1] का निरन्तर भय।

इन द्वन्द्वो मे **पहला पक्ष** स्पष्टतया वैदिक सस्कृति के आधार पर है। **दूसरे पक्ष** का आधार, हमारी समझ में, वैदिकेतर ही होना चाहिए।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारतवर्ष की प्राचीनतर वैदिकेतर सस्कृति या सस्कृतियो में ही दूसरे पक्षो की जड होनी चाहिए। ऊपर सन्यासादि आश्रमो की उत्पत्ति के विषय में जो **बौधायन-धर्मसूत्र** का उद्धरण हमने दिया है, उससे भी यही सिद्ध होता है। ऐसा होने पर भी, हमारे देश के सारे अध्यात्म-शास्त्र तथा दर्शन-शास्त्र का आधार ये ही द्वितीय पक्ष की धारणाएँ है। ये धारणाएँ अवैदिक है, यह सुन कर हमारे अनेक भाई चौक उठेगे। पर हमारे मत में तो वस्तु-स्थिति यही दीखती है। आगे चलकर (परिच्छेद ६ और ६ मे) इन विषयो पर हम विशेष विचार करेंगे।

इन्ही दो प्रकार की विचार-धाराओ को, बहुत अशो में, हम क्रमश **ऋषि-संप्रदाय** और **मुनि-संप्रदाय** भी कह सकते है। 'ऋषि' तथा 'मुनि' शब्दो के **मौलिक** प्रयोगो के आधार पर हम इसी परिणाम पर पहुँचते है। 'मुनि' शब्द का प्रयोग भी वैदिक-सहिताओ मे बहुत ही कम हुआ है। होने पर भी उसका 'ऋषि' शब्द से कोई सबध नही है।[2]

ऋषि-सप्रदाय और मुनि-सप्रदाय के सबध मे, सक्षेप में, हम इतना ही यहाँ कहना चाहते है कि दोनो की दृष्टियो मे हमें महान् भेद प्रतीत होता है। जहाँ एक का झुकाव (आगे चलकर) हिंसा-मूलक मासाहार और तन्मूलक असहिष्णुता

---

१. 'नरक' शब्द ऋग्वेद-सहिता, शुक्लयजुर्वेद-वाजसनेयि-माध्यन्दिन-सहिता, तथा सामवेद-सहिता में एक बार भी नही आया है। अथर्ववेद-सहिता में 'नारक' शब्द केवल एक बार प्रयुक्त हुआ है।

२. 'ऋषि' शब्द का मौलिक अर्थ मन्त्र-द्रष्टा है। तु० "**ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः**" (निरुक्त २।११)। वैदिक वाङमय में '**ऋषि**' शब्द का यही अर्थ है। 'मुनि' शब्द का प्रयोग इस अर्थ मे नही होता। "**दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतराग-भयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥**" (गीता २।५६) इत्यादि प्रमाणो के अनुसार 'मुनि' शब्द के साथ ज्ञान, तप, योग, वैराग्य जैसी भावनाओ का गहरा सबंध है। जैन साहित्य मे 'मुनि' शब्द का ही अधिक प्रयोग हुआ है। हाँ, पुराण आदि मे, जिनका आधार वैदिक तथा वैदिकेतर धाराओ के समन्वय पर है, उक्त दोनो शब्दो का प्रयोग मिले-जुले अर्थ में पीछे से होने लगा था, जो स्वाभाविक ही था।

की ओर रहा है, वहाँ दूसरी का अहिंसा तथा तन्मूलक निरामिषता[1] तथा विचार-सहिष्णुता (अथवा अनेकान्तवाद) की ओर रहा है। जहाँ एक की परम्परा मे वेदो को सुनने के कारण ही शूद्रो के कान में राँगा पिलाने का विधान है[2], वहाँ दूसरी परपरा ने ससार भर के, शूद्रातिशूद्र के भी, हित की दृष्टि से बौद्ध, जैन, तथा सन्त सम्प्रदायो को जन्म दिया है। इनमे एक मूल में **वैदिक**, और दूसरी मूल में **प्राग्वैदिक** प्रतीत होती है।

४ इसी प्रकार हमारे समाज मे **वर्ण** और **जाति** के आधार पर सामाजिक भेदो का जो द्वैविध्य दीखता है, वह भी एक ऐसा ही द्वन्द्व प्रतीत होता है।

५ **पुरुषविध** देवताओ के साथ-साथ **स्त्रीविध** देवताओ की पूजा, उपासना भी इसी प्रकार के द्वन्द्वो मे से एक है।

६. हम एक और द्वन्द्व का उल्लेख करके अपने उपसहार की ओर आते हैं। वह द्वन्द्व ग्राम और नगर का है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि जहाँ '**ग्राम**' शब्द वैदिक सहिताओ में अनेकत्र आया है, वहाँ '**नगर**' का प्रयोग हमें एक वार भी नही मिला। वैदिक साहित्य और धर्मसूत्रो मे भी वैदिक सभ्यता ग्राम-प्रधान दीखती है। दूसरी ओर, नगरो के निर्माण मे **मय** जैसे असुरो का उल्लेख पुराणो आदि में मिलता है। नगरो के साथ ही नागरिक शिल्प और कला-कौशल का विचार सबद्ध है। यह विचारणीय वात है कि वैदिक सस्कृति के वाहक ऊपरी तीनो वर्णो मे कलाकौशल और शिल्प का कोई स्थान नही है। इन कामो को करने वालो की तो ये लोग '**शूद्रो**' मे गणना करते हैं।[3] इस प्रवृत्ति की व्याख्या हमारी समझ में उपर्युक्त ग्राम तथा नगर के द्वन्द्व मे, जो कि वैदिक और प्राग्वैदिक परिस्थितियो की ओर सकेत करता है, मिल सकती है।

उपसंहार

ऊपर के अनुसन्धान से यह स्पष्टतया प्रतीत हो जाता है कि भारतीय सस्कृति के **मौलिक आधारो** के विचार में हम उसकी प्रधान प्रवृत्तियो को, जिनमे अनेक परस्पर-विरोधिनी द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियाँ भी हैं, कभी नही समझ सकते, जब तक हम यह न मान ले कि उनके निर्माण और विकास मे वैदिक धारा के साथ-साथ वैदिकेतर या प्राग्वैदिक धारा या धाराओ का भी वडा भारी हाथ रहा है। उन धाराओ के समन्वय मे ही हमे उन **मौलिक आधारो** को ढूँढना होगा।

---

१ तु० "चतुर्दश हि वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने। कन्द-मूलफलैर्जीवन् हित्वा मुनिवदामिषम् ॥" (वाल्मीकिरामायण २।२०।२९)।

२. देखिए—"अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्या श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद" (गौतमधर्मसूत्र ३।३।४)।

३. तु० "शिल्पाजीवं भृतिं चैव शूद्राणा व्यदधात्प्रभु." (वायुपुराण ८।१६३)।

वैदिक सस्कृति के समान ही वह प्राग्वैदिक सस्कृति भी हमारे अभिमान और गर्व का विषय होनी चाहिए। **'आर्यत्व'** के अभिमान के पूर्वग्रह से युक्त, और भारत मे अपने साथ सहानुभूति का वातावरण उत्पन्न करने की इच्छा से प्रवृत्त यूरोपीय ऐतिहासिको के प्रभाव से उत्पन्न हुई यह धारणा, कि भारतीय सस्कृति या सभ्यता का इतिहास केवल वैदिक काल से प्रारम्भ होता है, हमे बरबस छोडनी पडेगी। भारतीय सस्कृति की आध्यात्मिकता, त्याग की भावना, पारलौकिक भावना, अहिंसावाद जैसी प्रवृत्तियो की जड, जिनके वास्तविक और सयत रूप का हमको गर्व हो सकता है, हमको वैदिक सस्कृति की तह से नीचे तक जाती हुई मिलेगी।

वैदिक सस्कृति का बहुत ही बडा महत्त्व है (जैसा कि आगे चलकर हम दिखलाएँगे), तो भी भारतीय जनता के समुद्र में उसका स्थान सदा से एक द्वीप जैसा रहा है। मूक जनता की अवस्था के अध्ययन से तथा महाराष्ट्र आदि प्रदेशो में जनता के साथ वैदिको की गहरी पृथक्ता की नीति से यही सिद्धान्त निकलता है।

वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृतियों का समन्वय

वैदिक और प्राग्वैदिक सस्कृतियो का उक्त समन्वय अदृष्टविधया बहुत प्राचीन काल से ही प्रारम्भ हो गया था। परस्पर आदान-प्रदान से दोनो धाराएँ आगे बढती हुई अन्त में पौराणिक हिन्दू धर्म के रूप मे समन्वित होकर आपातत एक धारा में ही विकसित हुईं। इस समन्वय का प्रभाव धर्म, आचार-विचार, भाषा, और रक्त तक पर पडा। इसके प्रमाणो की यहाँ आवश्यकता नही है।

इसी समन्वय को दृष्टि मे रख कर, जैसा हमने ऊपर कहा है, **निगमागम धर्म** नाम की प्रवृत्ति हुई। इसी के आधार पर सनातनी विद्वान् बहुत ही ठीक कहते है कि हमारे धर्म का आधार केवल 'श्रुति' न होकर **श्रुति-स्मृति-पुराण** है।

पौराणिक अनुश्रुति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस समन्वय में बहुत बडा काम **भगवान् व्यास** का था। अपने समय में पुराणो के **'सग्रह'** या **'संपादन'** मे उनका बडा हाथ था—यही पौराणिक प्रसिद्धि है। **'पुराण'** शब्द का अर्थ ही उपर्युक्त प्राग्वैदिक सस्कृति की ओर निर्देश करता है[1]। उनका सहयोग

---

१. अथर्ववेद (१५।६।११-१२) मे 'पुराण' शब्द का प्रयोग 'इतिहास' शब्द के साथ मे हुआ है। जैसे—"**तमितिहासश्च पुराण च गाथाश्च नाराशसीश्चानुव्यचलन् ॥११॥ इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथाना च नाराशसीनां च प्रियं धाम भवति य एव वेद ॥१२॥** यहाँ स्पष्टतया 'पुराण' शब्द प्राग्वैदिक धारा की ओर ही सकेत करता है। इसी प्रसङ्ग मे वायुपुराण (१।५४) को भी देखिए—"**प्रथम सर्वशास्त्राणां पुराण ब्रह्मणा स्मृतम्। अनन्तर च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनि सृता.॥**" यहाँ स्पष्टतया कहा गया है कि ब्रह्मा से पहले पुराण (विषय की दृष्टि से) की सृष्टि हुई, और तत्पश्चात् वेदो की।

उस समय के अनेकानेक 'ऋषि-मुनियो' ने किया होगा, जिनमें से अनेको की धमनियो मे व्यास के सदृश ही दोनो सस्कृतियो का रक्त बह रहा था और प्राय इसीलिए उनका विश्वास दोनो सस्कृतियो के समन्वय मे था।

यह समन्वित पौराणिक सस्कृति, जो कि बहुत अशो मे वर्तमान भारतीय सस्कृति के मेरुदण्ड के समान है, न तो केवल वैदिकेतर ही कही जा सकती है, न उसको हम यूरोपीय विद्वानो के अभिप्राय से **'आर्य-सस्कृति'** या **'अनार्य-सस्कृति'** ही कह सकते हैं। उसकी तो समान रूप से उपर्युक्त दोनो धाराओ मे सम्मान की दृष्टि होनी चाहिए। यही सनातन धर्म की दृष्टि है। इसलिए यूरोपीय प्रभाव से हमारे देश के कुछ लोगो में आर्य, अनार्य, वैदिक, अवैदिक शब्दो को लेकर जो एक प्रकार का क्षोभ उत्पन्न होता है, वह वास्तव मे निराधार और अहेतुक है।

समन्वित धारा की प्रगति और विकास

गगा-यमुना-रूपी वैदिक तथा वैदिकेतर धाराओ के सगम से बनी हुई भारतीय सस्कृति की यह धारा अपने 'ऐतिहासिक' काल मे भी स्वभावत स्थिर तथा एक ही रूप मे नही रह सकती थी। इस काल मे भी वह तत्तत्कालीन विशिष्ट परि-स्थितियो और आवश्यकताओ से उत्पन्न होने वाली नवीन धाराओ से प्रभावित होती हुई और क्रमश उन धाराओ को **आत्मसात्** करती हुई, नवीनतर गम्भीरता, विस्तार और प्रवाह के साथ, आगे बढती रही है।

वैदिक और वैदिकेतर सस्कृतियो का प्रारम्भिक समन्वय केवल नाममात्र मे ही था। उन दोनो के अनेकानेक स्वार्थो और बद्धमूल परम्पराओ के कारण अनेक प्रकार के **वैषम्य**, गगा की धारा में प्रारम्भ मे बहते हुए परस्पर टकराने वाले टेढे-मेढे शिलाखण्डो के समान, चिरकाल तक सयुक्त धारा मे भी वर्तमान रहे। परस्पर सघर्ष के द्वारा ही उन्होने अपनी विषमता के रूप को धीरे-धीरे दूर किया है और भारतीय सस्कृति की धारा की महिमा को बढाया है। यह क्रिया अब भी जारी है और जारी रहेगी। इसी मे भारतीय सस्कृति की प्रगतिशीलता है।

उपर्युक्त वैषम्यो मे एक बडा भारी वैषम्य उस बडी भारी मानवता के कारण था, जिसको उस समय की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियो ने सब प्रकार से दलित कर रखा था। भारतवर्ष के आगे के इतिहास में पारम्परिक घात-प्रतिघातो द्वारा उत्पन्न होनेवाले जैन, बौद्ध, वैष्णव और सन्त आदि आन्दो-लनो की उत्पत्ति और प्रसार मे उपर्युक्त विषमताओ का बडा भारी हाथ था। समाजगत विषमताओ ने ही भगवान् कृष्ण, बुद्ध, महावीर, कबीर, चैतन्य आदि महापुरुषो को जन्म दिया और उन्होने उन विषमताओ के दूर करने मे अपने-अपने महान् कार्य द्वारा भारतीय सस्कृति की धारा की ही महत्ता को बढाया।

इसलाम और ईसाइयत

भारतवर्ष के इतिहास में आने वाले इसलाम और ईसाइयत के आन्दोलनो को भी हम भारतीय सस्कृति की धारा के प्रवाह से बिलकुल अलग नही समझते । **प्रथम तो,** इन दोनो की आध्यात्मिकता और नैतिकता का आधार 'एशियाटिक' सस्कृति के इतिहास की परम्परा द्वारा भारतीय सस्कृति की मौलिक धारा तक पहुँच जाता है । **दूसरे,** इतिहास-काल में भी, उनका भारतीय बौद्ध सस्कृति का ऋणी होना कोई अस्वीकार, नही कर सकता । **तीसरे,** उन दोनो मे कम से कम ६५ प्रतिशत सख्या उन्ही की है, जो प्राचीन भारतीय सस्कृति के ही उत्तराधिकारी है, और आज भी उनमें विद्यमान सास्कृतिक मूल्य की वस्तुओ पर भारतीयता की काफी छाप है । हमारा तो विश्वास है कि हम, सहिष्णुता से काम लेते हुए, उनकी वास्तविक धार्मिक भावनाओ को ठेस न पहुँचाते हुए, उनमें सुप्त भारतीयता को जगा सकते है, और वे भी भारतीय सस्कृति की धारा से पृथक् नही रह सकते ।

हमारे मत मे, बौद्ध, जैन आदि धर्मों की तरह ही, भारतवर्ष की पूर्वोक्त विषमताओ से ही इन सप्रदायो के प्रसार मे काफी सहायता मिली है और इनके द्वारा भारतीय सस्कृति भी प्रभावित हुई है, और उसको कई प्रकार के साक्षात् या असाक्षात् रूप से लाभ भी हुए है ।

हम उपर्युक्त आन्दोलनो को भी एक प्रकार से भारतीय सस्कृति का उपकारक और आधार कह सकते है ।

समष्टि-दृष्टि की आवश्यकता

आवश्यकता है कि हम भारतीय सस्कृति के विकास को समझने के लिए उपर्युक्त **समष्टि-दृष्टि** से काम लें । प्रत्येक भारतीय, साप्रदायिक एकागी दृष्टि को छोडकर, भारतीय सस्कृति के समस्त क्षेत्र के साथ अपने ममत्व को स्थापित करे और अपने को उसका उत्तराधिकारी समझे ।

> **यह भारतीय संस्कृति स्वभावतः सदा से प्रगतिशील रही है और रहेगी । इसमें अपने जीवन की जो अबाध धारा बह रही है, उसके द्वारा ही यह, भविष्य के देशीय या आन्ताराष्ट्रिक मानवता के हित के आन्दोलनो का स्वागत करते हुए, अपनी प्राचीन परम्परा की रक्षा करते हुए ही आगे बढती जाएगी । इसी भारतीय संस्कृति में हमारी आस्था है ।**

समष्टि-दृष्टि-मूलक उपर्युक्त भारतीय सस्कृति की प्रगति और विकास को दिखाना ही प्रकृत ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है । इसके लिए हम क्रमश उसकी विभिन्न धाराओ (जैसे—**वैदिक, औपनिषद, जैन, बौद्ध, पौराणिक,** सन्त, इसलाम और ईसाइयत) पर विवेचनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे । अन्त में, उसके भावी विकास पर भी दृष्टि डालने का हमारा विचार है ।

दूसरा परिच्छेद

भारतीय संस्कृति का दृष्टिकोण

'भारतीय सस्कृति के विषय मे जो विचार-विभ्रम फैला हुआ है, उसको दूर करने के लिए, तथा आगे इस ग्रन्थ मे उसकी प्रगति और विकास के विषय में जो विचार हम प्रस्तुत करना चाहते है, उनको ठीक-ठीक समझने के लिए, अपने मत में भारतीय सस्कृति के दृष्टिकोण को प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर देना आवश्यक है। इसके बिना अगली विचार-पद्धति के प्रति बौद्धिक सहानुभूति के स्थान में पग-पग पर भ्रम और सदेह उपस्थित होने की सभावना रहेगी।

यहाँ हम भारतीय मस्कृति के विषय मे दो-चार मौलिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते हुए उसके दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेगे। सबसे पहले हम **भारतीय संस्कृति स्वभावत प्रगतिशील है,** इस सिद्धान्त को लेते है—

(१)

भारतीय संस्कृति की प्रगति-शीलता

प्राचीन जातियो मे अपनी प्रथाओ, अपने आचार-विचारो और अपनी मस्कृति को अत्यन्त प्राचीन काल से आनेवाली अविच्छिन्न परम्परा के रूप मे मानने की प्रवृत्ति प्राय सर्वत्र देखी जाती है। अनेक धार्मिक या राजनीतिक प्रभाव वाले वशो की, यहाँ तक कि धार्मिक मान्यताओ से सम्बद्ध अनेक नदियो आदि की भी, दैवी या लोकोत्तर उत्पत्ति की भावना के मूल मे यही प्रवृत्ति काम करती हुई दीख पडती है।

भारतवर्ष मे भी यह प्रवृत्ति अपने पूर्ण विस्तृत और व्यापक रूप मे चिरकाल से चली आ रही है। हमारे शास्त्रो मे वर्णित विविध विद्याओ और कलाओ की ब्रह्मा आदि से उत्पत्ति की भावना अथवा अनेक वशो की दवी उत्पत्ति की भावना उक्त प्रवृत्ति के ही स्पष्ट निदर्शन है।

इधर अंग्रेजी शासन के दिनो मे विदेशी विचार-धारा के आक्रमण के कारण हमारे धार्मिक तथा सास्कृतिक विचारो में जो उथल-पुथल दिखायी देने लगी थी, उसकी प्रतिक्रिया के रूप में उपर्युक्त प्रवृत्ति को और भी समर्थन और प्रोत्साहन दिया गया है। इसमे सबसे बडा हाथ प्रायेण उन रूढिवादी लोगो का रहा है, जो अपने सकीर्ण स्वार्थों या अन्धविश्वासो के कारण साम्प्रदायिक वातावरण की परिधि से बाहर स्वच्छन्द खुले प्राणप्रद वायु मे रह कर विचार ही नही कर सकते।

इसके परिणामस्वरूप देश की साधारण जनता मे प्राय ऐसी भावना बद्ध-मूल हो गयी है कि उसकी धार्मिक और सास्कृतिक रूढियाँ सदा से एक ही रूप में चली आयी है। दूसरे शब्दो में, साम्प्रदायिक दृष्टि के लोग स्वाभिमत भारतीय सस्कृति को, **प्रगतिशील** या **परिवर्तनशील** न मान कर, सदा से एक ही रूप में रहने वाली **स्थितिशील** मानने लगे है।

'सनातन धर्म' या 'शाश्वत धर्म' जैसे शब्दो के प्राय दुरुपयोग द्वारा उक्त भावना मे और भी दृढता लायी गयी है।

परन्तु **विज्ञान-मूलक आधुनिक ऐतिहासिक दृष्टि** से, जिसका उल्लेख हम पिछले परिच्छेद मे कर चुके हैं, देखने पर तत्काल यह स्पष्ट हो जाता है कि, यद्यपि भारतीय सस्कृति की सूत्रात्मा चिरन्तन से चली आ रही है, वह अपन बाह्य रूप की दृष्टि से बराबर परिवर्तन-शील और प्रगतिशील रही है।

पिछले परिच्छेद मे दिखायी गयी **वैदिक तथा पौराणिक** उपास्य देवो की पारस्परिक तुलना से हमारी देवता-विषयक मान्यताओ मे समय-भेद से होने वाला महान् परिवर्तन स्पष्ट हो जाता है।

समय-भेद से ब्रह्मा आदि की पूजा की प्रवृत्ति और उसके विलोप से भी यही बात स्पष्टतया सिद्ध होती है।

इसी प्रकार के परिवर्तन का एक ज्वलन्त उदाहरण हमको किसी समय में शिव के अर्थ में रूढ 'ईश्वर' शब्द के सामान्य असाम्प्रदायिक **देवाधिदेव ईश्वर** के अर्थ मे प्रयोग से मिलता है।[1] दक्षिण भारत मे ई'श्वर' शब्द अब भी केवल साम्प्रदायिक शिव के लिए प्रयुक्त होता है।

इसी प्रकार के दो-चार अन्य निदर्शनो को भी यहाँ देना अनुपयुक्त न होगा।

'यज्ञ' शब्द को लीजिए। वैदिक काल मे इसका प्रयोग प्रायेण देवताओ के यजनार्थ किये जाने वाले कर्म-कलाप के लिए ही होता था। पर कालान्तर मे

---

१. इस विषय में हमारा "History of the Word 'Īśvara' and its Idea" शीर्षक लेख सप्तम ओरियटल कान्फ्रेंस की proceedings मे देखिए। उसी का विस्तृत रूप 'Sarasvatī Bhavana Studies', Vol X में प्रकाशित हुआ था।

अनेक कारणो से वैदिक कर्म-काण्ड के शिथिल हो जाने पर यही शब्द अधिक व्यापक अर्थो मे प्रयुक्त होने लगा। इसी परिवर्तित दृष्टि के कारण भगवद्गीता[1], वैदिक यज्ञो के साथ-साथ (जिनको वह द्रव्य-यज्ञ कहती है), **तपोयज्ञ, योगयज्ञ, ज्ञानयज्ञ** आदि का भी उल्लेख करती है। स्वामी दयानन्द के अनुसार तो "शिल्प-व्यवहार और पदार्थ-विज्ञान जो कि जगत् के उपकार के लिए किया जाता है उसको (भी) यज्ञ कहते है[2]।" आचार्य विनोबा भावे का **भूदान-यज्ञ** तो आज सब की जिह्वा पर है।

इसी प्रकार 'ऋग्वेद', 'यजुर्वेद', 'आयुर्वेद' 'धनुर्वेद' आदि शब्दो मे प्रयुक्त **'वेद'** शब्द स्पष्टतया किसी समय सामान्येन विद्या या ज्ञान के अर्थ मे प्रयुक्त होता था। कालान्तर में यह अनेकानेक शाखाओ मे विस्तृत मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वैदिक साहित्य के लिए ही प्रयुक्त होने लगा। - उन शाखाओ मे से अनेको का तो अब नाममात्र भी शेष नही है। यही 'वेद' शब्द अब प्रायेण उपलब्ध वैदिक संहिताओ के लिए ही प्रयुक्त होने लगा है।

इसी प्रकार **'वर्ण'** शब्द के भी विभिन्न प्रयोगो मे समय-भेद से परिवर्तित होने वाली वर्ण-विषयक दृष्टियो का प्रभाव दिखाया जा सकता है।

'यज्ञ' आदि जैसे महत्त्व के शब्दो का समय-भेद से होने वाला भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग स्पष्टतया विचारो के घात-प्रतिघात तथा सामयिक आवश्यकताओ के फलस्वरूप होने वाली भारतीय संस्कृति की प्रगति की ओर ही संकेत करता है।

आचार-विचार की दृष्टि से भी अनेकानेक स्पष्ट उदाहरणो से भारतीय संस्कृति कभी स्थितिशील न होकर सदा प्रगतिशील या परिवर्तनशील रही है, इस सिद्धांत की पुष्टि की जा सकती है।

शूद्र, अतिशूद्र कहलाने वाली भारतीय 'जातियो' के प्रति हमारी कठोर दृष्टि और व्यवहार में सामयिक परिस्थितियो और सन्त-महात्माओ के आन्दोलनो के कारण शनै-शनै होने वाला विकासोन्मुख परिवर्तन भारतीय संस्कृति की प्रगति-शीलता का एक उज्वल उदाहरण है। **"न शूद्राय मतिं दद्यात्"**[1] (=शूद्र को किसी प्रकार का उपदेश न दे), तथा **"पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्"**[3] (=शूद्र तो मानो चलता-फिरता श्मशान है। इसलिए उसके समीप मे वेदादि नही पढना चाहिए) शूद्र के प्रति इस कठोर और अशोभन दृष्टि से चल कर उसको हरि+जन मानने की दृष्टि में स्पष्टतया आकाश-पाताल का अन्तर है[4]।

---

१. देखिए भगवद्गीता ४।२५-३०, ३२ तथा २।४२-४३। २ स्वामी दयानन्द-कृत 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' मे। ३ देखिए—'वेदान्तसूत्र-शांकरभाष्य' १।३।३८। ४ इस दृष्टि-भेद के विस्तृत इतिहास मे एक प्रकार से भारतीय संस्कृति का सारा इतिहास प्रतिबिम्बित रूप मे दिखाया जा सकता है। हम इस पर स्वतन्त्ररूप मे फिर कभी विचार करना चाहते है।

इसी प्रकार विभिन्न विदेशी जातियो को आत्मसात् (हम इसको 'शुद्धि' नही मानते) करने मे, विदेशो मे भारतीय सस्कृति के सदेश को पहुँचाने मे, और वेद और शास्त्रो की दुरधिगम कोठरियो में बन्द उस सन्देश को जनता की भाषा मे, प्राय जनता के ही सच्चे प्रतिनिधि सन्त-महात्माओ द्वारा, सर्वसाधारण के लिए सुलभ किये जाने मे, हमे उपर्युक्त प्रगतिशीलता का सिद्धान्त ही काम करता हुआ दीखता है।

भारतीय सस्कृति के इतिहास के लम्बे काल मे ऐसे स्थल भी अवश्य आते है जब कि उसके रूप में होने वाले परिवर्तन आपातत विकासोन्मुख प्रगति को नही दिखलाते। तो भी वे उसकी स्थिति-शीलता के स्थान में परिवर्तन-शीलता को तो सिद्ध करते ही है। साथ ही, जैसे स्वास्थ्य-विज्ञान की दृष्टि से रोगावस्था अरुचिकर होने पर भी हमारे स्वास्थ्य-विरोधी तत्त्वो को उभार कर उनको नाश करके हमारे स्वास्थ्य मे सहायक होती है, उसी प्रकार उन आपातत अवाछनीय परिवर्तनो को समझना चाहिए। कभी-कभी उन परिवर्तनो के मूल मे हमारी जातीय आत्मरक्षा की स्वाभाविक प्रवृत्ति या अन्य सामयिक आवश्यकता भी काम करती हुई दीखती है। इसलिए उन परिवर्तनो के कारण भारतीय सस्कृति की प्रगतिशीलता के हमारे उपर्युक्त सामान्य सिद्धात मे कोई क्षति नही आती।

यह प्रगतिशीलता या परिवर्तनशीलता का सिद्धान्त केवल हमारी कल्पना नही है। हमारे धर्मशास्त्रो ने भी इसको मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है।

धर्मशास्त्रो का **कलि-वर्ज्य प्रकरण**[1] प्रसिद्ध है। इसमे प्राचीन काल में किसी समय प्रचलित गोमेध, अश्वमेध, नियोग-प्रथा आदि का कलियुग में निषेध किया गया है। विभिन्न परिस्थितियो के कारण भारतीय सस्कृति के स्वरूप में प्रगति या परिवर्तन होते रहे है, इस बात का, हमारे धर्मशास्त्रो के ही शब्दो में, इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण मिलना कठिन होगा।

इसके अतिरिक्त, प्रत्येक युग में उसकी आवश्यकता के अनुसार 'धर्म' का परिवर्तन होता रहता है, इस सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन भी धर्मशास्त्रो में स्पष्टत मिलता है। उदाहरणार्थ,

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे युगे ।
अन्ये कलियुगे नृणां युगरूपानुसारतः ॥

---

१ देखिए--"अथ कलिवर्ज्यानि। वृहन्नारदीये–समुद्रयातु: स्वीकार: [illegible]लविधारणम्। देवराच्च सुतोत्पत्तिर्मधुपर्के च गोर्वध। मांसदानं तथा श्राद्धे वानप्रस्थाश्रमस्तथा ॥ नरमेधाश्वमेधकौ ॥ गोमेधश्च तथा मख:। इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिण. ॥" इत्यादि (निर्णय[illegible], [illegible]प्रकरण)

युगेष्वावर्तमानेषु धर्मोऽप्यावर्तते पुनः ।
धर्मेष्वावर्तमानेषु लोकोऽप्यावर्तते पुन. ।।
श्रुतिश्च शौचमाचारः प्रतिकालं विभिद्यते ।
नानाधर्माः प्रवर्तन्ते मानवाना युगे युगे ।।

अर्थात्, सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग मे युग के रूप या परिस्थिति के अनुसार 'धर्म' का परिवर्तन होता रहता है। युग-युग मे मनुष्यो की श्रुति (=धार्मिक मान्यता की पुस्तक या साहित्य), शौच (=स्वच्छता का स्वरूप और प्रकार), और आचार (=आचार-विचार या व्यवहार) सामयिक आवश्यकताओ के अनुसार बदलते रहते है।

धर्मशास्त्रो की ऐसी स्पष्ट घोषणा के होने पर भी, यह आश्चर्य की बात है कि हमारे प्राचीन धर्मशास्त्री विद्वानो के भी मन मे 'भारतीय सस्कृति स्थिति-शील है' यह धारणा बैठी हुई है। गाँधी-युग से पहले के साप्रदायिक विद्वानो के शास्त्रार्थ अब भी लोगो को स्मरण होगे। उनमे यही निरर्थक तथा उपहासास्पद झगडा रहता था कि हमारा सिद्धान्त सनातन है या तुम्हारा। अब भी यह धारणा हमारे देश में काफी घर किये हुए है। इसी के कारण साप्रदायिक कटु भावना तथा सकीर्ण विचार-धारा अब भी हमारे देश मे सिर उठाने को और हमारे सामाजिक जीवन को विषाक्त करने को सदा तैयार रहती है।

इसलिए भारतीय सस्कृति की सबसे पहली मौलिक आवश्यकता यह है कि उसको हम स्वभावत प्रगतिशील घोषित करें। उसी दशा में भारतीय सस्कृति अपनी प्राचीन परम्परा, प्राचीन साहित्य और इतिहास का उचित सम्मान तथा गर्व करते हुए अपने अन्तरात्मा की सदेश-रूप मानव-कल्याण की सच्ची भावना से आगे बढ़ती हुई, वर्तमान प्रबुद्ध भारत के ही लिए नही, किन्तु ससार भर के लिए उन्नति और शाति के मार्ग को दिखाने में सहायक हो सकती है।

यह कार्य 'हमारा आदर्श या लक्ष्य भविष्य में है, पश्चाद्दर्शिता में नहीं', यही मानने से हो सकता है। भारतीय सस्कृति रूपी गंगा की धारा सदा आगे ही बढती जाएगी, पीछे नही लौटेगी। प्राचीन युग जैसा भी रहा हो, पुन उसी रूप में लौट कर नहीं आ सकता, हमारा कल्याण हमारे भविष्य के निर्माण में निहित है, हम उसके निर्माण में अपनी प्राचीन जातीय सपत्ति के साथ-साथ नवीन जगत् में प्राप्य सपत्ति का भी उपयोग करेंगे, यही भारतीय सस्कृति की प्रगतिशीलता के सिद्धान्त का रहस्य और हृदय है।

भारतीय सस्कृति का दूसरा सिद्धात उसका असाम्प्रदायिक होना है। नीचे हम उसी की व्याख्या करेंगे—

(२)

भारतीय संस्कृति की असांप्रदायिकता

सस्कृत मे प्राचीन काल से एक कहावत चली आ रही है कि--

श्रुतयो विभिन्ना. स्मृतयो विभिन्ना

नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम् ॥

अर्थात्, श्रुतियो और स्मृतियो में परस्पर विभिन्न मत पाये जाते है। यही बात मुनियो के विषय मे भी ठीक है।

इसका अभिप्राय यही है कि किसी भी सभ्य समाज मे मतभेद और तन्मूलक सम्प्रदायो का भेद या बाहुल्य स्वाभाविक होता है। इसका मूल कारण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्यो की स्वाभाविक प्रवृत्ति और रुचि मे भेद का होना ही है। कोई व्यक्ति स्वभाव से ही ज्ञान-प्रधान, कोई कर्म-प्रधान और कोई भक्ति-या भावना-प्रधान होता है। फिर समय-भेद तथा देश-भेद से भी मनुष्यो की प्रवृत्तियो मे भेद देखा जाता है। रेगिस्तान के शुष्क प्रदेश में रहने वालो के और बगाल जैसे नमी-प्रधान प्रदेश मे रहने वालो के स्वभावो मे अन्तर होना स्वाभाविक ही है।

ऐसे ही कारणो से भारतवर्ष जैसे विशाल और प्राचीन परम्परा वाले देश में अनेकानेक सम्प्रदायो का होना बिलकुल स्वाभाविक है।

एक सीमा तक यह सम्प्रदाय-भेद स्वाभाविक होने के कारण व्यक्तियो की सत्प्रवृत्तियो के विकास का साधक होता है। यह तभी होता है जब कि उन विभिन्न सम्प्रदायो के लोगो के सामने कोई ऐसा उच्चतर आदर्श होता है जो उन सब को परस्पर सघटित और सम्मिलित रहने की प्रेरणा दे सकता हो। परन्तु प्राय ऐसा देखा जाता है कि साम्प्रदायिक नेताओ की स्वार्थबुद्धि और धर्मान्धता या असहिष्णुता के कारण सम्प्रदायो का वातावरण दूषित, सघर्षमय और विषाक्त हो जाता है। उस दशा मे सम्प्रदाय-भेद अपने अनुयायियो के तथा देश के लिए भी अत्यन्त हानिकर और घातक सिद्ध होता है।

भारतीय सस्कृति की आन्तरिक धारा मे चिरन्तन से सहिष्णुता की भावना का प्रवाह चला आया है। तो भी, भारतवर्ष मे सम्प्रदायो का इतिहास बहुत कुछ उपर्युक्त दोषो से युक्त ही रहा है। आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थों के कारण और कुछ अशो में धर्मान्धता के कारण भी अपने-अपने नेताओ द्वारा सम्प्रदायो का और स्वभावत शान्ति-प्रधान, पर भोली-भाली और मूर्ख, जनता का पर्याप्त दुरुपयोग किया गया है।

साम्प्रदायिक वैमनस्य और अत्याचार का उल्लेख करने पर आजकल तत्काल हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य या पिछली शताब्दियो मे दक्षिण भारत में ईसाइयो द्वारा

हिन्दू जनता पर किये गये अत्याचार सामने आ जाते है। यह सब तो निस्सन्देह ठीक है ही। पर साम्प्रदायिक असहिष्णुता और अत्याचार का विशुद्ध भारतीय सम्प्रदायो में अभाव रहा है, यह न समझ लेना चाहिए।

पौराणिक तथा धर्मशास्त्रीय संस्कृत साहित्य मे वर्णित उन व्यक्तिगत तथा सामूहिक अत्याचारो[1] के आख्यानो या विधानो को, जो वास्तव मे साम्प्रदायिक असहिष्णुता-मूलक या उसके व्याज मे राजनीति-मूलक थे, जाने दीजिए। हम उनका उल्लेख यहाँ नही करेंगे। यहाँ कुछ अन्य निदर्शनो को देना पर्याप्त होगा। उदाहरणार्थ—

'श्रमण-ब्राह्मणम्' (व्याकरण-महाभाष्य २।४।६) पद के आधार पर श्रमणो (अर्थात् बौद्धो) और ब्राह्मणो में सर्प और नकुल जैसी शत्रुता का उल्लेख हम पिछले परिच्छेद मे कर चुके हैं। ईसवी शतियो के प्रारम्भिक काल के आस-पास इस शत्रुता ने भारतवर्ष के राजनीतिक तथा धार्मिक वातावरण में जो हल-चल मचा रखी थी, वह ऐतिहासिको से छिपी नही है। आज की असाम्प्रदायिक भारत सरकार के विरुद्ध सम्प्रदाय-वादियो का आन्दोलन उसके सामने कुछ भी नही है।

भगवान् मनु ने अपनी **मनुस्मृति** मे बौद्ध जैसे सम्प्रदायो को नास्तिक ही नही कहा है, उनके धर्मग्रन्थो को भी **'कुदृष्टि'**, **'तमोनिष्ठ'** (=अज्ञानमूलक) और **'निष्फल'** कहा है[2]।

हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्।

(अर्थात्, मदमत्त हाथी से पीछा किये जाने पर भी, जैन-मन्दिर मे न जाए) ऐसे वचनो से और दक्षिण भारत मे पूर्वमध्य काल में अनेकानेक जैन-बौद्ध मन्दिरो को जबर्दस्ती छीन कर पौराणिक मन्दिरो का रूप देने से भी साम्प्रदायिक विद्वेष और अत्याचार के ही निदर्शन हमारे सामने आते है।

इसके अतिरिक्त, नीचे लिखे उद्धरणो को भी देखिए—

त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचरा.।

(=तीनो वेदो के बनाने वाले भाँड, धूर्त और निशाचर थे),

---

१. उदाहरणार्थ, स्कन्द-पुराणान्तर्गत सूतसहिता में शैव सप्रदाय के विरोधियो के बाधन और शिरच्छेदन का स्पष्टतया विधान किया है, जैसे **"शिवयात्रापराणा तु बाधकाना तु बाधनम्। शिवभक्तिरिति प्रोक्ता ।। भस्मसाधननिष्ठाना दूषकस्य . छेदन शिरस ।।** (सूतसहिता ४।२६।२६—३२)। रामायण में भगवान् रामचन्द्र द्वारा शम्बूक (शूद्र) का वध प्रसिद्ध है। वेद सुनने मात्र के अपराध के लिए शूद्र के कानो में राँगा पिलाने की चर्चा हम प्रथम परिच्छेद में कर चुके हैं।

२. देखिए, **"या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टय.। सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ता स्मृता ।।"** (मनुस्मृति १२।९५)

धिग् धिक् कपालं भस्मरुद्राक्षविहीनम् ।
तं त्यजेदन्त्यज यथा ।

(=भस्म और रुद्राक्ष से जिसका कपाल विहीन है उसका अन्त्यज के समान दूर से ही परित्याग कर दे),

भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः ।।
पाखण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः ।।

(भागवत ४।२।२८)

(अर्थात्, शैवधर्म के अनुयायी वास्तव में पाखण्डी और सच्छास्त्र के विरोधी होते हैं),

यथा श्मशानजं काष्ठं सर्वकर्मसु गर्हितम् ।
तथा चक्राङ्कितो विप्रः सर्वकर्मसु गर्हितः ।।

(अर्थात्, श्मशान के काष्ठ के समान ही चक्राकित वैष्णव का सब कर्मों से बहिष्कार करना चाहिए।)

इसी प्रकार हमारे अनेक धार्मिक ग्रन्थ शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध आदि सम्प्रदायो के परस्पर विद्वेष के भावो से भरे पडे है।

इस साम्प्रदायिक विद्वेष-भावना ने हमारे दार्शनिक ग्रन्थो पर भी कहाँ तक अवाछनीय प्रभाव डाला है, इसका अच्छा नमूना हमको **'माध्वमुखमर्दन'**, **'माध्वमुखचपेटिका'**, **'दुर्जन-करि-पञ्चानन'** जैसे ग्रन्थो के नामो से ही मिल जाता है। इन नामो में विद्वज्जन-सुलभ शालीनता का कितना अभाव है, यह कहने की बात नही है।

दर्शन-शास्त्र का विषय ऐसा है जिसका प्रारम्भ ही वास्तव में साम्प्रदायिकता की सकीर्ण भावना की सीमा की समाप्ति पर होना चाहिए। इसलिए दार्शनिक क्षेत्र में विभिन्न सम्प्रदायो के लोग, साप्रदायिक सकीर्णता से ऊपर उठ कर, सद्भावना और सौहार्द के स्वच्छ वातावरण मे एकत्र सम्मिलित हो सकते है।

परन्तु भारतवर्ष मे दार्शनिक साहित्य का विकास प्रायेण साप्रदायिक सघर्ष के वातावरण मे ही हुआ था। इसलिए उन-उन सम्प्रदायो से सपृक्त विभिन्न दर्शनो के साहित्य से भी प्राय साप्रदायिकता को प्रोत्साहन मिलता रहा है।

हमने अपने ईश्वर-विषयक लेख मे (जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है) दिखलाया है कि न्याय-वैशेषिक दर्शनो का विकास शैव सम्प्रदाय से हुआ है[1]। योग की परम्परा का भी झुकाव शैव सम्प्रदाय की ओर अधिक है। रहे पूर्व-मीमासा, वेदान्त, बौद्ध और जैन दर्शन— इनका तो स्पष्टतया घनिष्ठ सम्बन्ध वैदिक, वैष्णव, बौद्ध और जैन सम्प्रदायो से ही रहा है। एक साख्य-दर्शन ऐसा

---

१ इस विषय में राजशेखरसूरि-कृत **षड्दर्शन-समुच्चय**, तथा हरिभद्रसूरि-कृत **षड्दर्शन-समुच्चय** को भी देखिए।

हिन्दू जनता पर किये गये अत्याचार सामने आ जाते है। यह सब तो निस्सन्देह ठीक है ही। पर साम्प्रदायिक असहिष्णुता और अत्याचार का विशुद्ध भारतीय सम्प्रदायो में अभाव रहा है, यह न समझ लेना चाहिए।

पौराणिक तथा धर्मशास्त्रीय संस्कृत साहित्य मे वर्णित उन व्यक्तिगत तथा सामूहिक अत्याचारो[1] के आख्यानो या विधानो को, जो वास्तव मे साप्रदायिक असहिष्णुता-मूलक या उसके व्याज में राजनीति-मूलक थे, जाने दीजिए। हम उनका उल्लेख यहाँ नही करेंगे। यहाँ कुछ अन्य निदर्शनो को देना पर्याप्त होगा। उदाहरणार्थ—

'श्रमण-ब्राह्मणम्' (व्याकरण-महाभाष्य २।४।९) पद के आधार पर श्रमणो (अर्थात् बौद्धो) और ब्राह्मणो मे सर्प और नकुल जैसी शत्रुता का उल्लेख हम पिछले परिच्छेद मे कर चुके है। ईसवी शतियो के प्रारम्भिक काल के आस-पास इस शत्रुता ने भारतवर्ष के राजनीतिक तथा धार्मिक वातावरण में जो हल-चल मचा रखी थी, वह ऐतिहासिको से छिपी नही है। आज की असाम्प्रदायिक भारत सरकार के विरुद्ध सम्प्रदाय-वादियो का आन्दोलन उसके सामने कुछ भी नही है।

भगवान् मनु ने अपनी **मनुस्मृति** मे बौद्ध जैसे सम्प्रदायो को नास्तिक ही नही कहा है, उनके धर्मग्रन्थो को भी **'कुदृष्टि', 'तमोनिष्ठ'** (=अज्ञानमूलक) और **'निष्फल'** कहा है[2]।

हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्।

(अर्थात्, मदमत्त हाथी से पीछा किये जाने पर भी, जैन-मन्दिर मे न जाए) ऐसे वचनो से और दक्षिण भारत मे पूर्वमध्य काल मे अनेकानेक जैन-बौद्ध मन्दिरो को जबर्दस्ती छीन कर पौराणिक मन्दिरो का रूप देने से भी साप्रदायिक विद्वेष और अत्याचार के ही निदर्शन हमारे सामने आते है।

इसके अतिरिक्त, नीचे लिखे उद्धरणो को भी देखिए—

त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचरा।

(=तीनो वेदो के बनाने वाले भाँड, धूर्त और निशाचर थे),

---

१. उदाहरणार्थ, स्कन्द-पुराणान्तर्गत सूतसहिता में शैव सप्रदाय के विरोधियो के वाधन और शिरश्छेदन का स्पष्टतया विधान किया है, जैसे **"शिवयात्रापराणा तु वाधकाना तु वाधनम्। शिवभक्तिरिति प्रोक्ता ॥ भस्मसाधननिष्ठाना दूषकस्य छेदन शिरस.....** ॥ (सूतसहिता ४।२९।२९—३२)। रामायण में भगवान् रामचन्द्र द्वारा शम्बूक (शूद्र) का वध प्रसिद्ध है। वेद सुनने मात्र के अपराध के लिए शूद्र के कानो मे राँगा पिलाने की चर्चा हम प्रथम परिच्छेद मे कर चुके है।

२. देखिए, **"या वेदवाह्या स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टय.। सर्वास्ता निष्फलाः प्रत्य तमोनिष्ठा हि ता स्मृता ॥"** (मनुस्मृति १२।९५)

धिग् धिक् कपालं भस्मरुद्राक्षविहीनम् ।
तं त्यजेदन्त्यज यथा ।

(=भस्म और रुद्राक्ष से जिसका कपाल विहीन है उसका अन्त्यज के समान दूर से ही परित्याग कर दे),

भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः ।।
पाखण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः ।।

(भागवत ४।२।२८)

(अर्थात्, शैवधर्म के अनुयायी वास्तव में पाखण्डी और सच्छास्त्र के विरोधी होते है),

यथा श्मशानजं काष्ठं सर्वकर्मसु गर्हितम् ।
तथा चक्राङ्कितो विप्रः सर्वकर्मसु गर्हितः ।।

(अर्थात्, श्मशान के काष्ठ के समान ही चक्राकित वैष्णव का सब कर्मो से बहिष्कार करना चाहिए।)

इसी प्रकार हमारे अनेक धार्मिक ग्रन्थ शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध आदि सप्रदायो के परस्पर विद्वेप के भावो से भरे पडे हैं।

इस साम्प्रदायिक विद्वेष-भावना ने हमारे दार्शनिक ग्रन्थो पर भी कहाँ तक अवाछनीय प्रभाव डाला है, इसका अच्छा नमूना हमको **'माध्वमुखमर्दन'**, **'माध्वमुखचपेटिका'**, **'दुर्जन-करि-पञ्चानन'** जैसे ग्रन्थो के नामो से ही मिल जाता है। इन नामो में विद्वज्जन-सुलभ शालीनता का कितना अभाव है, यह कहने की बात नही है।

दर्शन-शास्त्र का विषय ऐसा है जिसका प्रारम्भ ही वास्तव मे साम्प्रदायिकता की सकीर्ण भावना की सीमा की समाप्ति पर होना चाहिए। इसलिए दार्शनिक क्षेत्र में विभिन्न सम्प्रदायो के लोग, साप्रदायिक सकीर्णता से ऊपर उठ कर, सद्भावना और सौहार्द के स्वच्छ वातावरण में एकत्र सम्मिलित हो सकते है।

परन्तु भारतवर्ष मे दार्शनिक साहित्य का विकास प्रायेण साप्रदायिक सघर्ष के वातावरण में ही हुआ था। इसलिए उन-उन सम्प्रदायो से सपृक्त विभिन्न दर्शनो के साहित्य से भी प्राय साप्रदायिकता को प्रोत्साहन मिलता रहा है।

हमने अपने ईश्वर-विषयक लेख में (जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है) दिखलाया है कि न्याय-वैशेषिक दर्शनो का विकास शैव सम्प्रदाय से हुआ है[1]। योग की परम्परा का भी झुकाव शैव सम्प्रदाय की ओर अधिक है। रहे पूर्व-मीमासा, वेदान्त, वौद्ध और जैन दर्शन— इनका तो स्पष्टतया घनिष्ठ सम्बन्ध वैदिक, वैष्णव, वौद्ध और जैन सम्प्रदायो से ही रहा है। एक साख्य-दर्शन ऐसा

---

१ इस विषय मे राजशेखरसूरि-कृत **षड्दर्शन-समुच्चय**, तथा हरिभद्रसूरि-कृत **षड्दर्शन-समुच्चय** को भी देखिए।

है जिसकी दृष्टि प्रारम्भ से ही विशुद्ध दार्शनिक रही है। पर इसीलिए उसे **वेदान्तसूत्र-शाकरभाष्य**[२] आदि में अवैदिक कह कर तिरस्कृत किया गया है।

साम्प्रदायिक भावना की तरह ही जाति-पाँति का अनन्त भेद भी भारतीय समाज मे वैषम्य का कारण रहा है। अब भी नाना रूपो में हमारे समाज में फैला हुआ इसका विष हमारे अनेक कार्यकर्ताओ को **'अन्त शाक्ता बहिःशैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः'** इस उक्ति का लक्ष्य बनाता रहता है।

इस प्रकार चिरकाल से प्रायेण विचार-सकीर्णता और परस्पर सघर्ष की भावना से परिपूर्ण संप्रदायवाद, तदभिभूत दार्शनिक साहित्य और जाति-पाँति के भेद-भाव से जर्जरित भारतीय जनता में एकजातीयता के नवीन जीवन का संचार करने के लिए, मानो एक उपास्य देव के रूप में, एकमात्र प्रगतिशील तथा असांप्रदायिक भारतीय सस्कृति के आदर्श का ही आश्रय लिया जा सकता है।

भारतीय संस्कृति असाम्प्रदायिक है, इसका अभिप्राय यह नही है कि भारतीय सस्कृति का सम्प्रदायो या सम्प्रदाय-विशेष से कोई विरोध या झगडा है। प्रत्युत नैतिकता तथा मानव-हित की भावना की सीमा के अन्दर वह सम्प्रदायो का सम्मान करती है और, किसी मुख्य धारा की सहायक नदियो के समान, उनको अपना उपकारक और पूरक मानती है। नैयायिको की जाति जैसे व्यक्तियो से पृथक् होते हुए भी उन से पृथक् नही रहती, इसी प्रकार भारतीय सस्कृति सप्रदायो से पृथक् अर्थात् स्वय असाम्प्रदायिक होते हुए भी उनसे पृथक् नही है। इसी कारण, भारतीय सस्कृति के नाते से, सम्प्रदायो का परस्पर सम्वन्ध आदरयुक्त और सौहार्द-पूर्ण होना चाहिए। उनमें होड या स्पर्धा भी हो तो वह मानव-हित और भारतीय सस्कृति के महत्त्व को वढाने वाली वातो मे होनी चाहिए।

इस प्रकार असाम्प्रदायिक भारतीय सस्कृति की भावना ही सम्प्रदायो में पारस्परिक सघर्ष की भावना को नष्ट कर उनको अपने विशुद्ध कर्तव्य-पालन के लिए प्रेरणा दे सकती है।

भारतीय सस्कृति का **तीसरा सिद्धान्त** है—

(३)

भारतीय संस्कृति की भारत के समस्त इतिहास में ममत्व-भावना

भारतीय सस्कृति की सतत-प्रवहण-शील धारा की तुलना हम भगवती गगा की धारा से कर चुके है। जैसे गगा की धारा मूल मे किसी अज्ञात स्थान मे

---

२ देखिए—"न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिल मत श्रद्धातु शक्यम्" (वेदान्तसूत्र-शाकरभाष्य २।१।१)।

निकल कर, अनेकानेक दुरधिगम तथा दुर्गम ऊँचे-नीचे पर्वतो और प्रदेशो में होती हुई, अनेक विभिन्न धाराओ के जलप्रवाहो को आत्मसात् करती हुई, अन्त मे सुन्दर रमणीक समतल प्रदेशो मे प्रवेश कर नवीनतर गम्भीरता, विस्तार और प्रवाह के साथ आगे की ओर ही बहती है, ठीक उसी तरह भारतीय सस्कृति की धारा किसी प्रागैतिहासिक अज्ञात युग से प्रारम्भ होकर, अनुकूल तथा प्रतिकूल विभिन्न परिस्थितियो में से गुजरती हुई तथा विभिन्न प्रकार की विचार-धाराओ को आत्मसात् करती हुई शनै -शनै अपने विशालतर और गम्भीरतर रूप में आगे बढती हुई ही दिखायी देती है। विशिष्ट स्थानो के विशिष्ट माहात्म्य के होने पर भी, जैसे गगा की समस्त धारा मे हमारी मान्यता है, इसी प्रकार भारतीय सस्कृति की दृष्टि से उसकी पूरी धारा मे, दूसरे शब्दो में, भारत के समस्त इतिहास में हमारी ममत्व की भावना होनी चाहिए। ऐसा किये बिना न तो 'भारतीय सस्कृति' शब्द की ही कोई सार्थकता रहेगी और न देशव्यापी भारतीयत्व की भावना को ही हम जीवित रख सकेंगे।

परन्तु दुर्भाग्य से अब तक हमारी स्थिति प्राय उक्त सिद्धान्त के प्रतिकूल ही रही है।

साप्रदायिकता, निराशावाद और तज्जनित पश्चाद्दृष्टि की भावना, विभिन्न सकीर्ण स्वार्थों की क्षति और उनके प्राचीन काल के, कुछ कल्पित और, कुछ वास्तविक, अभ्युदय की निराशाप्रद स्मृति, इत्यादि अनेक कारणो से हम उक्त आवश्यक सिद्धान्त की प्राय अवहेलना करते रहे है, और यह प्रवृत्ति अब तक हममें विद्यमान है।

हमारे धर्मशास्त्रो में **युगो के क्रम से धर्म के ह्रास का सिद्धान्त,** पुराणो मे **"नन्दान्त क्षत्रियकुलम्"** (अर्थात् नन्दो के वश के साथ वैदिक परम्परा के पोषक जो 'क्षत्रिय' राजा थे उनका अन्त हो गया) यह कथन, अथवा कलियुग के दुष्प्रभाव का वर्णन, यह सब उसी प्रवृत्ति के उदाहरण है।

वैदिक परम्परा के उस अन्तिम युग के दिनो मे, जव कि **जन्मना जातिवाद** खूब बढ गया था और हमारे यज्ञो ने भी केवल **यान्त्रिक द्रव्य-यज्ञो** का रूप धारण कर लिया था, साधारण जनता के हित की आवाज़ उठाने वाले वौद्ध-जैन धर्मों के अभ्युदय से तथा प्राय उसी के फल-स्वरूप राजनीतिक प्राधान्य के दूसरो के हाथो मे चले जाने से, वैदिक सम्प्रदाय के नेताओ में स्वभावत उत्पन्न होने वाली निराशा ने ही उपर्युक्त विचारो को जन्म दिया था।

इसी साप्रदायिक (तथा राजनीतिक) प्रतिक्रिया के कारण हम देखते है कि उन शताब्दियो के तथा तदुत्तरकालीन सस्कृत साहित्य मे विश्व को चमत्कृत करने वाले वौद्ध-धर्म-सम्वन्धी राजनीतिक तथा धार्मिक अभ्युदय की कुछ भी चर्चा नही है। यदि आधुनिक ऐतिहासिक अनुसन्धान इसके उद्धार को अपने हाथ मे न

लेता, तो भारतवर्ष के गौरव और गर्व के इस स्वर्ण-युग के इतिहास को हम सदा के लिए खो बैठते।

अब भी, इस विद्या और ज्ञान के युग में भी, हममें ऐसे सकीर्ण-दृष्टि साम्प्रदायिको की कमी नही है जो समझते हैं कि महाभारत-काल के पश्चात् भारत का जो भी महत्त्व का इतिहास है, वह, उनके लिए अरुचिकर न हो तो भी, उनके गर्व और गौरव की वस्तु नही है। यहाँ तक कि कालिदास के ससार को मुग्ध करने वाले **शाकुन्तल नाटक** से, भक्तिसुधा के प्रवाह-रूप **भागवत** से, या भारत की कोटिश जनता की धार्मिक पिपासा को शान्त करने वाली **तुलसीरामायण** से भी उनको कोई वास्तविक उल्लास या प्रसन्नता प्राप्त नही होती।

इस प्रकार की एकागी या पक्षपात की दृष्टि से न तो हम भारतीय सस्कृति के प्रवाह और परम्परा को ही समझ सकते है, न हम उसके साथ न्याय करते है।

वास्तव में भारतीय संस्कृति के प्रवाह और स्वरूप को समझने के लिए हमें जनता के विकास की दृष्टि से ही उसका अध्ययन करना होगा। भारतीय इतिहास के विभिन्न कालों का महत्त्व भी हमें किसी सम्प्रदाय या राजवंश की दृष्टि से नहीं, किन्तु जनता की दृष्टि से ही मानना पडेगा। इस प्रकार के अध्ययन से ही हमें प्रतीत होगा कि भारतीय संस्कृति की प्रगति में वैदिक युग के समान ही बौद्ध युग या सन्त-युग का भी महत्त्व रहा है।

राजवशो के इतिहास से ही किसी देश की सस्कृति का इतिहास समाप्त नही हो जाता। राजवश तो किसी नगर के बाह्य प्राकार के ही स्थानीय होते है। प्राकार के अन्दर प्रवेश करने पर ही प्रजा या जनता के वास्तविक जीवन का पता लग सकता है।

इसलिए **जनता के जीवन के अविच्छिन्न प्रवाह** को या **लोक-सस्कृति की प्रगति** को समझने के लिए किसी देश के **समस्त इतिहास** से सम्बन्ध और सपर्क स्थापित करना आवश्यक होता है। इसी को हमने ऊपर ममत्व-भावना शब्द से कहा है।

इस ममत्व-भावना के होने पर ही हम अपनी-अपनी सकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओ को पृथक् रखके, भारत के समस्त महान् व्यक्तियो में, चाहे वे किसी सम्प्रदाय के या जाति के कहे जाते हो, ममत्व का, समादर का, श्रद्धा का और गर्व का अनुभव करेंगे। आजकल इन महान् व्यक्तियो को साम्प्रदायिको ने अपने सप्रदायो की तग कोठरियो में कैद कर रखा है। हमारा कर्तव्य है कि हम उनको उस कैद से निकाल कर खुले असाप्रदायिक वातावरण में लावें, जिससे उनके उपदेशामृत का लाभ समस्त देश को ही क्यो, सारे संसार को हो।

असाप्रदायिक भारतीय सस्कृति की भावना से ही यह हो सकता है।

भारतीय सस्कृति के सम्बन्ध मे अन्तिम सिद्धान्त है—

(४)

भारतीय संस्कृति की अखिल-भारतीय भावना

भारत के समस्त इतिहास मे ममत्व-भावना की व्याख्या करते हुए हमने भारतीय सस्कृति के ऐतिहासिक विस्तार की ओर सकेत किया है, उसी प्रकार भारतीय सस्कृति की अखिल भारतीय भावना का सकेत उसके देशकृत विस्तार की ओर है। ऐतिहासिक विस्तार के समान ही उसके अखिल दैशिक विस्तार के साथ भी ममत्व-भावना की आवश्यकता है।

इसको हमारे देश के प्राचीन नेताओ ने अच्छी तरह अनुभव किया था। इसीलिए हमारे धार्मिक तीर्थस्थान देश के कोने-कोने में, प्रत्येक प्रान्त में, नियत किये गये थे। हमारे कुम्भ जैसे धार्मिक मेले भी देश के विभिन्न प्रान्तो में वारी-बारी से होते हैं। इसीलिए प्रान्तो मे किसी का भी राज्य हो, सब प्रान्तो के वासी धार्मिक यात्राओ में समस्त देश मे जाते थे। सास्कृतिक दृष्टि से वे समस्त भारत को अपना देश समझते थे। भारतीय सस्कृति की अखिल-भारतीय भावना ही प्रान्तीय सघर्षो को बहुत-कुछ नियन्त्रण मे रख सकती है।

परन्तु इस सम्बन्ध में हमारा कर्तव्य प्रान्तीय संघर्षों के प्रतिकार से ही समाप्त नहीं हो जाता। हमारा उत्तरदायित्व इससे बहुत अधिक है। आज के भारतवर्ष की एक बड़ी समस्या उसका सांप्रदायिक संघर्ष तथा पिछडी जातियो का प्रश्न है। भारतीय संस्कृति की अखिल भारतीय भावना का अभिप्राय यही है कि हम उक्त समस्या का वास्तविक समाधान भारतीय सस्कृति की दृष्टि से कर सकें। भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में ऊपर दिखलाये हुए सिद्धान्तो को दृष्टि में रख कर बड़े उदार हृदय से साम्प्रदायिक तथा पिछड़ी जातियों की समस्या को हाथ में लेने से ही उसका समाधान हम कर सकेंगे। सम्प्रदायो में परस्पर समादर और सम्मान की भावना स्थापित करने से, ऐसे जातीय तथा ऋतु-सम्बन्धी पर्वों और विभिन्न सप्रदायो के मान्य महापुरुषो की जयन्तियो की स्थापना से जिनमें सब प्रेमपूर्वक भाग ले सकें, तथा अधिक-से-अधिक सद्भावना के साथ बौद्धिक, नैतिक, साहित्यिक और कला-सम्बन्धी सपर्क स्थापित करने से ही सांप्रदायिक समस्या का समाधान हो सकता है।

इस प्रश्न का विशेष विचार हम इस ग्रन्थ की अन्तिम अवस्था मे करेंगे। यहाँ तो हम केवल यह दिखलाना चाहते हैं कि भारतीय सस्कृति के स्वरूप के निर्धारण में हमारी दृष्टि का पूर्णतया प्रगतिशील, असाम्प्रदायिक और उदार होना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। तभी सारा देश उसको अपना सकेगा। तभी वह देश के लिए कल्याणप्रद सिद्ध हो सकेगी।

तीसरा परिच्छेद

भारतीय संस्कृति की वैज्ञानिक विचार-पद्धति

भारतीय सस्कृति के आधार और भारतीय सस्कृति के दृष्टिकोण के सम्बन्ध मे पिछले दो परिच्छेदो मे जो विचार किया गया है, उससे स्पष्ट है कि भारतीय सस्कृति की **समष्टि-दृष्टि-मूलक** तथा **सद्भावनापूर्ण** विचार-धारा के आधार पर ही भारतीय समाज की परम्परागत सकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओ मे ऐसी क्रान्ति लायी जा सकती है, जिससे विग्रह, विघटन, साप्रदायिकता, विचार-सकीर्णता, पश्चाद्दर्शिता तथा अन्धरूढिवाद के स्थान मे क्रमश सग्रह, सघटन, असाप्रदायिकता, विचार-औदार्य, आदर्श-वादिता तथा प्रगतिवाद की भावनाओ को देश मे स्थापित किया जा सकता है।

इस परिच्छेद में हम मुख्य रूप से उस **वैज्ञानिक प्रक्रिया** के स्वरूप को दिखाना चाहते है, जिसके द्वारा ही भारतीय परम्परा से प्राप्त और विभिन्न सप्रदायो तथा वर्गों से सवद्ध विस्तृत साहित्य और लम्बे इतिहास का एक **धारा-वाहिक जीवित परम्परा** के रूप मे अध्ययन किया जा सकता है।

उक्त वैज्ञानिक प्रक्रिया के स्वरूप और महत्त्व को स्पष्टतया समझने के लिए आवश्यक है कि पहले हम उस **परम्परागत साप्रदायिक विचार-पद्धति** को समझ ले, जो चिरकाल मे भारतवर्ष के विद्वानो मे प्रायेण चली आ रही है, और जिसके प्रभाव के कारण ही अब भी हमको देश और राष्ट्र की गम्भीर समस्याओ के विषय मे खुले हृदय से विचार करने मे कठिनता प्रतीत होती है।

सांम्प्रदायिक विचार-पद्धति

साप्रदायिक विचार-पद्धति का मौलिक आधार **एकमात्र शब्द-प्रमाण की प्रधानता** ही है, जिसका उल्लेख हम प्रथम परिच्छेद मे कर चुके है।

शब्द-प्रमाण अपनी उचित सीमा के अन्दर सब को मानना पडता है। हमारे प्रतिदिन के जीवन मे शब्द-प्रमाण का, अपने-अपने विषयो के विशेषज्ञ वैद्य, डाक्टर आदि की बात का, कितना महत्त्व है, यह किससे छिपा है? अनुभवी विशिष्ट विद्वानो या लेखको की बातो या शब्दो में अपने विचारो की पुष्टि या समर्थन पाकर हम कितने प्रसन्न होते हैं? ऐसे ही विशेषज्ञो को, जिन्होंने अपने अनुभव और परीक्षण से किसी तत्त्व को साक्षात् किया है, प्राचीन शास्त्रो की परिभाषा में **आप्त**[1] कहा जाता था, और उनके ही कथन को **वास्तव में शब्द-प्रमाण**[2] कहना और मानना चाहिए।

परन्तु, ज्योही शब्द-प्रमाण अपनी सीमा के बाहर चला जाता है, प्रत्यक्ष अनुभव और परीक्षण के मौलिक आधार से विच्युत होकर जब केवल मान्यता और अन्ध-विश्वास पर स्थित हो जाता है, वह ऐसी विचार-पद्धति का जनक होता है, जो प्रायेण न केवल अपने को ही धोखा देती है, किन्तु ससार को भी व्यामोह में डालने वाली होती है।

धार्मिक क्षेत्र मे एक बार बुद्धिवाद, प्रत्यक्षानुभव तथा अन्य प्रमाणो से निरपेक्ष शब्द-प्रमाण के मान लेने पर, लोगो में साम्प्रदायिकता के सकीर्ण भावो का आ जाना अनिवार्य हो जाता है। भारतवर्ष की साम्प्रदायिक परम्परा मे इसी दृष्टि का, **शब्दैकप्रमाण-वादिता** का, चिरकाल से साम्राज्य रहा है। **"शब्दप्रमाणका वयम्। यच्छब्द आह तदस्माक प्रमाणम्"** (अर्थात्, हम तो केवल शब्द को प्रमाण मानने वाले है। हमारे लिए तो जो शास्त्र मे लिखा है वही प्रमाण है) **महाभाष्य-परपशाह्निक** के इन शब्दो के अनुसार ही प्राय हमारे साम्प्रदायिको के विचार चिरकाल से चले आ रहे है।

> **"मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्**
> **को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एत**
> **तर्कमृषिं प्रायच्छन्।"** (निरुक्त, परिशिष्ट)

(अर्थात्, सत्य या धर्म को बतलाने वाले ऋषियो के काल के समाप्त होने पर, मनुष्यो ने देवो से पूछा कि अब हमारा ऋषि या मार्गदर्शक कौन होगा। तब देवो ने मनुष्यो को **तर्क-रूपी ऋषि** को दिया।) इस प्रकार **निरुक्त** जैसे वेद-विषयक महत्त्व के ग्रन्थ द्वारा तर्क या परीक्षण को सत्यान्वेषण मे प्रमुख स्थान देने पर भी, **वेदान्तसूत्र**[3] का यही कहना है कि तर्क का कोई ठिकाना नही है,

---

१ तु०—**"अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कार्त्स्न्येन याथार्थ्यज्ञानवान् आप्त.।"**
२. देखिए—**"आप्तोपदेशः शब्दः"** (न्यायसूत्र १।१।७)।
३. **"तर्काप्रतिष्ठानात्"** (वेदान्तसूत्र २।१।११)।

शब्द-प्रमाण के पीछे-पीछे ही तर्क को चलना चाहिए। धर्मशास्त्रो[1] मे भी इस बात पर बल दिया गया है कि अपनी मान्यता के शास्त्रो के अविरोध से ही तर्क द्वारा अनुसन्धान करना चहिए।

अपने वैयक्तिक तर्क को कुतर्कणा के मार्ग से बचाने के लिए ऊपर के सिद्धान्त के मानने मे वास्तव मे कोई आपत्ति नही की जा सकती। परन्तु जब कुछ लोग स्वार्थ या अन्ध-विश्वास के कारण अपने सप्रदाय की मान्य पुस्तको के **मानव-कल्याण की दृष्टि से मौलिक अभिप्राय** को न समझ कर उनके शब्दो को ही पकडने लगते है, उसी समय से साप्रदायिक सहिष्णुता के स्थान मे साप्रदायिक असहिष्णुता, सकीर्णता और दुराग्रह का दुष्प्रभाव जनता मे फैलने लगता है।

ऐसे ही कारणो से सकीर्ण साप्रदायिक भावनाओ का प्रसार देश मे चिरकाल से चला आ रहा है। सहस्रो ग्रन्थ इसी दृष्टि से लिखे गये है। हमारे धर्म-शास्त्र, पुराण, यहाँ तक कि दार्शनिक ग्रन्थ भी, सकीर्ण साप्रदायिक भावनाओ से अस्पृष्ट नही रहे है। साप्रदायिक विचार-पद्धति का तात्पर्य वास्तविक सत्य के अन्वेषण मे इतना नही होता, जितना कि अपनी मान्यताओ की (अथवा मान्य पुस्तको की) पुष्टि मे या दूसरे सम्प्रदायो के खण्डन में होता है। यही इस पद्धति का सबसे बडा दोष है।

शब्दैकप्रमाण-वादिता-मूलक साप्रदायिक विचार-पद्धति, मूल मे बहुत कुछ निर्दोष होते हुए भी, शनै -शनै सत्य-पक्षपातिता और सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति से हटते-हटते, प्रायेण अबुद्धिपूर्वक, कितनी दूर चली जाती है, यही हम नीचे दिखाना चाहते है।

भारतवर्ष में उपर्युक्त साप्रदायिक विचार-पद्धति के इतिहास और विकास पर ध्यान देने से प्रतीत होगा कि उससे उत्पन्न विचार-प्रवृत्तियो को स्थूल रूप से हम तीन रूपो मे दिखा सकते है—

(१) एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति,

(२) अर्थान्तर या व्याख्या-भद की प्रवृत्ति और

(३) प्रक्षिप्तवाद की प्रवृत्ति।

इनको क्रमश हम नीचे स्पष्ट करेंगे—

(१)

एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति

सिद्धान्त-रूप मे सत्य की रक्षा करते हुए, परस्पर सहिष्णुता के आधार पर, विरोध मे अविरोध की स्थापना के लिए प्रयुक्त एकवाक्यता या समन्वय की

---
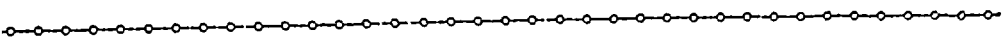
१ तु०—"आर्षं धर्मोपदेश च वेदशास्त्राविरोधिना। यस्तर्केणानुसधत्ते स धर्मं वेद नेतर.॥ (मनुस्मति १२।१०६)

प्रवृत्ति की उपयोगिता या उपादेयता को कौन स्वीकार नही करेगा ? भारतीय सस्कृति की विचारधारा स्वय इसी प्रवृत्ति का एक उत्कृष्ट निदर्शन है। इस ग्रन्थ मे हम क्रमश इसी बात का प्रतिपादन करना चाहते है।

परन्तु **साप्रदायिक विचार-पद्धति से समुद्भत** जिस एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति से यहाँ हमारा अभिप्राय है वह उक्त प्रकार की प्रवृत्ति से बहुत-कुछ भिन्न है। यहाँ हमारा अभिप्राय प्रायेण **मीमांसा-पद्धति-मूलक** उस एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति से है, जिसका उपयोग भारतवर्ष में अपने-अपने साप्रदायिक या सप्रदाय-सबद्ध साहित्य में पाये जाने वाले परस्पर-विरुद्ध या विरुद्ध रूप में प्रतीत होने वाले मतो मे, किसी प्रकार के सकोच या विस्तार के द्वारा, अविरोध, एकवाक्यता या समन्वय को स्थापित करने के लिए किया जाता रहा है।

प्रायेण साप्रदायिक सघर्ष के वातावरण मे ही इस प्रवृत्ति का उदय नही, तो विस्तार तो अवश्य ही हुआ था।

साप्रदायिक सघर्ष के दिनो मे विरोधियो के आक्षेपो के कारण प्राय इसका प्रयत्न किया जाता है कि अपने-अपने सप्रदाय मे ही जो अवान्तर विरुद्ध मत पाये जाते है, उनमे **किसी प्रकार** अविरोध स्थापित किया जाए।

अपनी सीमा के अन्दर यह प्रवृत्ति सर्वथा समुचित हो सकती है। किसी भी बुद्धिमान् व्यक्ति के लेखो या कथनो मे जो विरोध दिखायी देता है, वह प्रायेण आपातत ही होता है और उसमे अविरोध स्थापित करना समुचित माना जा सकता है।

परन्तु काल के भेद से या व्यक्तियो के भेद से पाये जाने वाले विचारो के भेद में **आवश्यक रूप से आग्रहपूर्वक** एकवाक्यता या समन्वय के स्थापित करने का प्रयत्न करना स्पष्टत उपर्युक्त प्रवृत्ति की उचित सीमा का अतिक्रमण माना जाएगा।

भारतवर्ष में इस प्रकार औचित्य के अतिक्रमण की कहाँ तक चेष्टा की जाती रही है, इसको हम दो-चार निदर्शनो द्वारा दिखाना चाहते है।

विभिन्न कालो में और विभिन्न विचारको द्वारा प्रतिपादित मतो के सग्रह-रूप उपनिषदो में यह स्वभावत सभव है कि विश्व के मूल-तत्त्व के विषय में मुनियो के विचारो मे परस्पर थोडी-बहुत विभिन्नता पायी जाए। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि एक जगह उस मूलतत्त्व को ब्रह्म के रूप मे, अन्यत्र प्राण या आकाशादि के रूप मे वर्णन किया गया है। इस प्रकार का दार्शनिक मतभेद ससार में सब जगह और सब कालो मे पाया जाता है। ऐसा होने पर भी, **वेदान्त-सूत्र (=उत्तर-मीमासा)** की रचना का मुख्य उद्देश्य यही है कि किसी प्रकार उपनिषदो के अन्तर्गत विभिन्न मतो में एकवाक्यता दिखायी जा सके।

इसी प्रकार धर्मशास्त्रो और कर्मकाण्डो मे पाये जाने वाले परस्पर विरोधो या विभिन्नताओ का समाधान, काल-भेद से होने वाली स्वाभाविक परिवर्तन-शीलता के आधार पर न मान कर, प्रायेण उक्त प्रवृत्ति द्वारा ही दिखाने का प्रयत्न किया जाता रहा है।

तथाकथित **आस्तिक** दर्शनो मे जो परस्पर विरोध पाया जाता है, उसका समाधान भी प्रायेण उक्त प्रवृत्ति के द्वारा ही किया जाता है।

अपने-अपने सम्प्रदायो मे शब्द-प्रमाण के रूप मे अभ्युपगत सिद्धान्तो की दृष्टि से प्राचीन साहित्य में पायी जाने वाली तद्विरुद्ध बातो के समाधान के लिए साप्रदायिको का यही सबसे पहला उपाय है। इतिहास मे उनके अपने सिद्धान्तो के विरुद्ध घटनाएँ हुई है, इसको तो यथासम्भव वे मानेगे ही नही। कालभेद से विचारो में परिवर्तन होता रहता है, इसको भी वे प्राय नही मान सकते। इन्ही कारणो से विदेशी जातियो के, लाखो की सख्या मे, इतिहास-प्रसिद्ध भारतीय-करण को, अथवा इतिहास से सिद्ध दूर-देशान्तरो के लिए भारतीयो की समुद्र-यात्रा को हमारे साप्रदायिक धर्मशास्त्री कोई महत्त्व नही देते। प्रचलित धर्म-शास्त्रीय सिद्धान्तो के विरुद्ध विधवा-विवाह, क्षत्रिय का सन्यास-ग्रहण, ब्रह्मविद्योप-देश, या वर्ण-परिवर्तन जैसी कोई बात यदि प्राचीन ग्रन्थो मे उल्लिखित मिल जाती है तो उसका समाधान भी ये साप्रदायिक विद्वान् किसी प्रकार उपर्युक्त समन्वय-वाद की प्रवृत्ति के द्वारा ही करते हैं।

ऐतिहासिक बुद्धि के अभाव और विचार-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त को न मानने के साथ-साथ, उक्त एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति का एक बडा दोष यह भी है कि वह प्राय अपने-अपने सम्प्रदाय मे ही सीमित रहती रही है। यदि साप्रदायिक भावना से रहित होकर इस प्रवृत्ति का उपयोग विभिन्न सम्प्रदायो के परस्पर समन्वय के लिए किया गया होता, तो यह कही अधिक उपयोगी सिद्ध होती और समष्टि-दृष्टि-मूलक भारतीय सस्कृति के सिद्धान्त के पास तक हमें ला सकती। परन्तु सकुचित उपयोग के कारण इससे साम्प्रदायिकता को ही बल मिलता रहा है।

जैसा हम ऊपर कह चुके है, भारतीय सस्कृति की विचारधारा भी एक-वाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति को मानती है। परन्तु उसका दृष्टिकोण, सकुचित न होकर, परम उदार है। इसका कारण उसकी वैज्ञानिक विचार-पद्धति ही है, जिसका निर्देश हम आगे चल कर करेगे।

एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति से साप्रदायिको का सब जगह काम नही चलता। इसलिए विवश होकर उन्हे **अर्थान्तर या व्याख्या-भेद की प्रवृत्ति** का आश्रय लेना पडता है। उसी के स्वरूप को हम नीचे दिखाते हैं—

(२)

अर्थान्तर या व्याख्या-भेद की प्रवृत्ति

उपर्युक्त एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति के साथ-साथ, साप्रदायिक विचार-पद्धति की दूसरी प्रवृत्ति शब्दो, वाक्यो, या सपूर्ण ग्रन्थो के ही अर्थान्तर या व्याख्यान्तर करने की है। भारतवर्ष मे यह प्रवृत्ति भी पराकाष्ठा तक पहुँची हुई मिलती है।

इस प्रवृत्ति का प्रारम्भ हमें ब्राह्मण-ग्रन्थो के काल से ही मिलता है। उपनिषदो मे भी यह प्रवृत्ति दिखायी देती है। किसी भी मन्त्र या ऋचा की व्याख्या कई प्रकार से की जा सकती है और इस प्रकार उससे अपने अभिप्राय या मत की पुष्टि की जा सकती है, प्राय ऐसा मान कर ही वैदिक मन्त्रो या ऋचाओ के उद्धरण इन ग्रन्थो मे दिये गये है।

यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढती गयी। अन्त में तो पूरे-पूरे ग्रन्थो की अपने-अपने मत के अनुसार व्याख्या करने का रिवाज-सा हो गया। इसका सबसे अधिक प्रसिद्ध निदर्शन **प्रस्थान-त्रयी** (=उपनिषद्, वेदान्तसूत्र, और भगवद्गीता) की विभिन्न साप्रदायिक व्याख्याएँ है। शकर, रामानुज, मध्व आदि साप्रदायिक आचार्यो की इन ग्रन्थो पर व्याख्याएँ तो प्रसिद्ध ही हैं, इधर नवीन साप्रदायिक विद्वानो ने भी अपनी-अपनी व्याख्याएँ लिखी हैं।

अपने-अपने सिद्धान्तो को शब्द-प्रमाण-मूलक सिद्ध करने के लिए साप्रदायिक विद्वानो का बराबर यही प्रयत्न रहा है कि किसी न किसी प्रकार अपने पाण्डित्य के बल पर प्रामाणिक ग्रन्थो की अपने अनुसार व्याख्या करके अपने सिद्धान्त की पुष्टि की जाए।

आजकल तो यह प्रवृत्ति उपहास की सीमा तक पहुँच गयी है। वेद के मन्त्रो को कामदुघ मान कर, उनमे से अपने-अपने अभीष्ट अर्थ को निकालने की चेष्टा की जाती है। आधुनिक जगत् का कोई विज्ञान या आविष्कार ऐसा न होगा, जिसको वेद से सिद्ध करने का प्रयत्न न किया जाता हो। रेल और तार का तो वेद से निकालना साधारण-सी बात है। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि दूसरो द्वारा आविष्कृत विज्ञानादि की पुष्टि मे ही ऐसा किया जाता है। ये वैदिक विद्वान् स्वोपज्ञ-रूप से कोई नया विज्ञान या आविष्कार वेद से नही निकाल पाते।

इन साम्प्रदायिक विद्वानो की कृपा से वेद 'भानमती का पिटारा' बन गया है। हाथ डालते ही मनचाही वस्तु उसमें से निकाली जा सकती है। वेद के अनेक स्थलो से जहाँ एक पक्ष मृतकश्राद्ध, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, यज्ञो में पशु-बलि, वेद मे इतिहास आदि की पुष्टि करता है, वहाँ दूसरा पक्ष उन्ही स्थलो से

तद्विपरीत अर्थ निकालने का प्रयत्न करता है। एक पक्ष से स्वीकृत 'देवो' को, जिनके मानने पर सारा वैदिक कर्मकाण्ड निर्भर है, दूसरा पक्ष 'विद्वानो' के अर्थ में लेता है। इस दृष्टि से वेद और वैदिक साहित्य में 'देव', 'पितृ' (पितर), 'मास' जैसे शब्दो का भी अर्थ अनिश्चित ही रह जाता है। यदि वास्तव में ऐसा ही है, तब तो प्रश्न किया जा सकता है कि वेदो का महत्त्व ही क्या रह जाता है?

एक बार १६४० के लगभग वेदो के एक प्रसिद्ध विद्वान् ने हमारे सभापतित्व में दिये गये अपने भाषण में 'माटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिफार्म' के अनुसार जो धारासभाएँ आदि भारतवर्ष मे चलायी गयी थी उनके स्वरूप को वेदो के प्रमाणो से सिद्ध करके दिखला दिया था। हमारा विश्वास है कि वही विद्वान् वर्तमान भारतीय सविधान को अथवा किसी अन्य सविधान को भी उसी सरलता से वेदो के आधार पर सिद्ध कर सकेंगे।

हम नही कह सकते कि इस प्रकार, वर्तमान को प्राचीन काल में आरोपित करने की प्रवृत्ति (anachronism) पर निर्भर, मनमाने अर्थ मान्य ग्रन्थो पर लादने से हम उनका मान बढाते हैं या उनको उपहासास्पद बनाते है?

कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि साप्रदायिको की अर्थान्तर करने की उपर्युक्त उपहासास्पद प्रवृत्ति का मूल न तो इतना शब्द-प्रमाणवादिता मे या सत्यान्वेषण की भावना मे होता है, जितना कि "**घटं भित्त्वा पट छित्वा**" के अनुसार सत्यार्थ की बलि भी देकर अपने पक्ष की पुष्टि करने की इच्छा में होता है।

परन्तु अर्थान्तर करने की भी सीमा है। अनेक स्थलो में अर्थान्तर करने से भी साप्रदायिको का काम नही चलता। वहाँ उन्हे **प्रक्षिप्तवाद** का आश्रय लेना पडता। उसी का स्पष्टीकरण हम नीचे देते हैं —

(३)

प्रक्षिप्तवाद की प्रवृत्ति

मुख्य रूप से शब्द-प्रमाण को ही मान कर चलने वाले साप्रदायिक लोग जब अपनी मान्यता की कोटि के ग्रन्थो में ऐसे स्थल पाते हैं, जिनकी न तो अपने सिद्धान्तो से एकवाक्यता दिखायी जा सकती है, और न व्याख्यान्तर ही किया जा सकता है, उस दशा मे वे उन स्थलो को बिना किसी सकोच के, आसानी से, **प्रक्षिप्त** (=पीछे से मिलाया गया) कह देते है।

इसमे सन्देह नही कि ग्रन्थो मे, विशेषत प्राचीन ग्रन्थो में, वास्तविक रूप में भी प्रक्षेपो का होना सभव है। परन्तु इनका क्षेत्र तथा प्रकार भी परिमित ही होता हैं। वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर अनेक प्रकार के साक्ष्य मे ही ऐसे वास्तविक प्रक्षेपो का निर्णय किया जा सकता है। केवल अपने सिद्धान्त के विरोध

के कारण ही किसी स्थल को प्रक्षिप्त कह देना, सत्य की हत्या के साथ-साथ, दु साहस भी है।

प्रक्षिप्तवाद की प्रवृत्ति के विशेष उदाहरणो को देने की आवश्यकता नही है। फिर भी दो-चार उदाहरण देना यहाँ अनुचित न होगा।

मृतक-श्राद्ध, अवतार-वाद, देवमदिरो में मूर्ति-पूजा, वैदिक कर्म-काण्ड मे पशु-वलि आदि को न माननेवाले साप्रदायिक लोग जब मनुस्मृति जैसे ग्रन्थो में मृतक-श्राद्ध, भगवद्गीता मे अवतार-वाद, वाल्मीकिरामायण मे देवमन्दिरो में मूर्तिपूजा या इसी प्रकार की अन्य पौराणिक धर्म की बातें, तथा श्रौतसूत्रो और ब्राह्मण-ग्रन्थो में यज्ञ में पशु-वलि के प्रतिपादक स्पष्ट स्थलो को पाते हैं, तव उनको प्रक्षिप्त कह कर ही किसी प्रकार विरोधियो से अपने प्राणो की रक्षा करते है। ये लोग कभी-कभी ऐसे ग्रन्थो के, तथाकथित प्रक्षिप्ताशो से रहित, 'विशुद्ध' (?) सस्करणो के प्रकाशन का भी साहस करते है।

उपर्युक्त प्रक्षिप्तवाद से मिलती-जुलती ही साप्रदायिक विचार-पद्धति की कुछ अन्य प्रवृत्तियाँ भी है, जिनका सक्षेप से निर्देश करना यहाँ अनुचित न होगा।

(४)

सांप्रदायिक विचार-पद्धति की अन्य प्रवृत्तियाँ

साप्रदायिक विचार-धारा शव्द-प्रमाण के प्राधान्य-वाद पर निर्भर है, यह हम ऊपर वता चुके है। इसी कारण साप्रदायिक लोग देश में परम्परा से प्राप्त धार्मिक साहित्य मे या तो प्रामाणिकता की दृष्टि से तर-तम-भाव की कल्पना करते है या उसके अश या अशो को अप्रामाणिक ही कहते है।

उदाहरणार्थ, पुराणो-उपपुराणो का वडा विस्तृत साहित्य भारतीय परम्परा से चला आया है। वर्तमान पौराणिक हिन्दू-धर्म के स्वरूप और विकास को समझने के लिए उनको एक अर्थ में हम **धार्मिक विश्व-कोश** कह सकते है। ऐतिहासिक सामग्री की दृष्टि से भी उनका अद्वितीय महत्त्व है। देश और विदेश के विद्वान् अव उनके महत्त्व को मुक्त-कण्ठ से स्वीकार करने लगे है।

ऐसा होने पर भी कुछ साप्रदायिक दृष्टि के लोग उनकी निन्दा करते हुए नही थकते, उनको सर्वथा हेय तथा अप्रामाणिक ही समझते है।

इसी प्रकार धार्मिक साहित्य में ही **स्वत प्रमाण** और **परत प्रमाण** की कल्पना[१] भी शव्द-प्रमाण-वादी साप्रदायिको की अनैतिहासिक मनोवृत्ति का ही परिणाम है।

---

१. तु०—"**धर्मस्य शव्दमूलत्वादशव्दमनपेक्ष्य स्यात्। विरोधे त्वनपेक्ष्य स्यादसति ह्यनुमानम्।**" (मीमासासूत्र १।३।१, ३)। इसी प्रसग मे **मनुस्मृति** (२।१३) पर कुल्लूक भट्ट की टीका देखिए—"अत एव जावाल —**श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी।**"

सच्ची निर्दोष साम्प्रदायिक निष्ठा के आधार पर किसी ग्रन्थ-विशेष में पवित्रता और श्रद्धा की भावना दूसरी बात है। वह क्षम्य ही नहीं, प्रशंसनीय भी हो सकती है। परन्तु वैसी ही श्रद्धा के आवेग के कारण परम्परा से प्राप्त किसी विस्तृत साहित्य के प्रति विरोध और असहिष्णुता की भावना किसी प्रकार क्षम्य नहीं कही जा सकती।

संकीर्ण साम्प्रदायिक मनोवृत्ति की एक दूसरी असहिष्णुता की प्रवृत्ति और भी अधिक अक्षम्य होती है। इसका निदर्शन हमको नवीन वैज्ञानिक पद्धति और उससे प्रवर्तित विज्ञानों और आविष्कारों के प्रति उसकी स्पष्ट या अस्पष्ट असहानुभूति में मिलता है।

जहाँ तक भौतिक विज्ञानों या आविष्कारों का सम्बन्ध है, यह प्रवृत्ति दो रूपों में प्रकट होती है। यदि उनके विषय में गुण-पक्ष और दोष-पक्ष दोनों हो सकते हैं, तब तो उनके दोष-पक्ष पर ही बल दिया जाता है। केवल गुण-पक्ष के होने पर, गुण-पक्ष को लेकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि उन विज्ञानों या आविष्कारों का उल्लेख हमारे प्राचीन ग्रन्थों में भी पाया जाता है।

परन्तु जो नूतन विज्ञान और आविष्कार भौतिक नहीं हैं, उनके विषय में तो सम्प्रदायवादियों का प्रायः यही कहना होता है कि वे वैज्ञानिकता के आधार से ही रहित हैं। १९वीं और २०वीं शताब्दियों ने **भाषाविज्ञान, मानवजातिविज्ञान, पुरातत्त्वविज्ञान, पुराणविज्ञान, मतविज्ञान** आदि अनेक नवीन विज्ञानों को जन्म दिया है। इन विज्ञानों से अनेक प्राचीन धारणाओं को धक्का लगा है। प्रायः इसीलिए इनके प्रति साम्प्रदायिकों में तीव्र विरोध-भावना पायी जाती है। ऐसे साम्प्रदायिक विद्वानों की कमी नहीं है, जो साम्प्रदायिक मंचों पर, जहाँ धर्म-सदाचार का ही उपदेश होना चाहिए, इन नवीन विज्ञानों की हँसी उड़ाते हुए उनका खण्डन करते हैं। कभी-कभी वे यह भी कहते सुने जाते हैं कि इन 'तथाकथित' विज्ञानों के चलाने में पाश्चात्य विद्वानों का एक भयानक षड्यन्त्र है, जिसका अन्तरभिप्राय अपने देश के पारम्परिक विश्वासों और धारणाओं को केवल धक्का पहुँचाना है।

वास्तव में संकीर्ण साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के साथ, चाहे वह पश्चिम की हो या पूर्व की, ऐसी अनुदार भावना स्वभावतः ही रहती है।

ऊपर के प्रतिपादन से स्पष्ट हो गया होगा कि मुख्यतः ऐतिहासिक दृष्टि के न होने से, और अनुभव तथा परीक्षण आदि में निरपेक्ष शब्द-प्रमाण को ही प्रधान पद देने से, साम्प्रदायिक विचार-पद्धति, सत्यान्वेषण के स्थान में, उलटे अनर्थ की संपादिका बन जाती है। उसमें एक ओर सत्य की हत्या का, और दूसरी ओर विचार-स्वातन्त्र्य के सर्वथा प्रतिषेध का भय उपस्थित हो जाता है।

उसका एक बडा दोप यह भी है कि वह अपनी दृष्टि सदा अपने ही सप्रदाय के ग्रन्थो मे परिमित या बद्ध रखती हुई, न केवल अपने से भिन्न सप्रदाय के ग्रन्थो के विपय मे, किन्तु देश की लम्बी परम्परा के विभिन्न स्तरो से सबद्ध विशाल साहित्य आदि के विषय में भी प्राय उपेक्षा ही दिखाती है।

ऐसे ही कारणो से भारतीय सस्कृति की विचार-धारा के लिए, जिसका सम्बन्ध भारत के समस्त वाङमय और इतिहास से है, सकुचित **साप्रदायिक विचार-पद्धति** को छोड कर, **वैज्ञानिक विचार-पद्धति** का ही अवलम्बन आवश्यक हो जाता है। उसी के स्वरूप और महत्त्व को हम सक्षेप में नीचे दिखाना चाहते हैं।

वैज्ञानिक विचार-पद्धति

वैज्ञानिक विचार-पद्धति का मुख्य आधार उसकी **तुलनात्मक** और **ऐतिहासिक प्रक्रिया** है। किसी विषय के स्वरूप को उपपत्ति और युक्ति के सहित समझने के लिए हमे उसके **इतिहास और विकास** के साथ-साथ उसकी **वर्तमान आपेक्षिक परिस्थिति** को भी ठीक-ठीक जानना आवश्यक होता है।

इसलिए व्यापक दृष्टि से भारतीय सस्कृति के स्वरूप, स्वभाव और विकास को, उसकी अत्यत प्राचीन काल से आने वाली धारावाहिक जीवित परम्परा को, ठीक-ठीक समझने के लिए उसके इतिहास को जानने की अत्यन्त आवश्यकता है। इसके लिए सत्य के अन्वेषण मे तत्पर, किसी प्रकार के पूर्वग्रह तथा पक्षपात से रहित, विवेचनात्मक व्यापक **ऐतिहासिक बुद्धि** की आवश्यकता है। इस ऐति-हासिक बुद्धि के परिपाक के लिए अन्य प्राचीन-परम्परागत सस्कृतियो के परिज्ञान के साथ-साथ भाषा-विज्ञान, मानव-जाति-विज्ञान, पुराण-विज्ञान आदि नवीन विज्ञानो के सिद्धान्तो को भी जानने की अपेक्षा होती है।

भारतीय सस्कृति की कोई ऐतिहासिक विकासात्मक परम्परा है, यह दिखाने के लिए हमे अनिवार्य रूप से उसकी प्रगतिशीलता के सिद्धान्त को मानना आव-श्यक हो जाता है। प्रगतिशीलता के सिद्धान्त को मान लेने पर ऐतिहासिक शोध में साप्रदायिक विचार-पद्धति और उसकी पूर्वोक्त प्रवृत्तियो के लिए कोई स्थान ही नही रहता। सत्यान्वेपण की भावना से प्रवृत्त ऐतिहासिक का कर्तव्य है कि वह सब प्रकार के पूर्वग्रह और पक्षपात से रहित होकर भारतीय सस्कृति के विभिन्न कालो की **वस्तु-स्थिति** का निरूपण करे। इसलिए उसको प्रयत्न करना पडता है कि उसकी विवेचना पर किसी साप्रदायिक झुकाव का किसी प्रकार का अनुचित प्रभाव न पडे और वह प्रत्येक काल के साथ न्याय कर सके। ऐसी अवस्था मे न तो उसे बलात् कृत्रिम एकवाक्यता या समन्वय की, न अर्थान्तर की, और न प्रक्षिप्तवाद के आश्रय की अपेक्षा होती है। वह किसी भी वस्तु-स्थिति को अच्छे या बुरे रूपान्तर में दिखाना अपनी न्याय्य-बुद्धि के विपरीत ही समझता है।

एक काल को दूसरे काल मे अध्ययन या आरोप करने की प्रवृत्ति (anachronism) अबुद्धि-पूर्वक साप्रदायिको के अतिरिक्त अन्य लोगो मे भी देखी जाती है। उदाहरणार्थ, वेदमन्त्रो की व्याख्या मे आजकल यह प्रवृत्ति प्राय पायी जाती है। सच्चे ऐतिहासिक को इस प्रवृत्ति की ओर से अपने को सदा सचेत रखना पडता है।

भारतवर्ष में हम लोगो की प्रायेण यही प्रवृत्ति रही है कि हम वडे-वडे धार्मिक आन्दोलनो को, अवतारी महापुरुषो को और बडी-वडी ऐतिहासिक घटनाओ को पूर्वापर परिस्थितियो से असबद्ध तथा असपृक्त अथवा आकस्मिक घटना के रूप मे ही देखते है। उदाहरणार्थ, भगवान् कृष्ण के अवतार के विषय मे हमें इतने से ही सन्तोष हो जाता है कि कस आदि पापियो के सहार के लिए ही वह अवतार हुआ था। देश की धार्मिक, सास्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि पूर्ववर्ती परिस्थिति मे उस अवतार की आवश्यकता को हम नही ढूँढते, न यह जानना चाहते हैं कि देश की परवर्ती परिस्थितियो पर उसका चिरस्थायी अथवा अचिरस्थायी क्या प्रभाव पडा। परन्तु वैज्ञानिक पद्धति के अनुसरण में हमे इन सब बातो का उत्तर देना आवश्यक हो जाता है।

जैसे भौतिक जगत् में आँधी के आने से पहले वायुमण्डल की एक विशेष अवस्था होती है और आँधी भी उसी अवस्था के कारण आती है। साथ ही, आँधी, स्वय समाप्त हो जाने पर, वायु-मण्डल मे अपने विशेष प्रभाव को छोड जाती है। इसी प्रकार महान् आन्दोलनो और अवतारी महापुरुषो की पूर्ववर्ती और परवर्ती परिस्थितियो मे कार्यकारणभाव की परम्परा रहती है। वैज्ञानिक पद्धति का कर्तव्य है कि वह इसका पता लगाए और इसका निरूपण करे।

वास्तव मे, किसी भी इतिहास के समान ही, भारतीय सस्कृति का इतिहास भी इसी प्रकार की कार्यकारण-भाव की परम्पराओ से निर्मित है। हमारा कर्तव्य है कि हम वज्ञानिक पद्धति के अवलम्बन से उन परम्पराओ का अध्ययन करे।

> **भारतीय संस्कृति के लम्बे इतिहास में काल-भेद से जो विभिन्न स्तर पाये जाते है, हमारा कर्तव्य है कि हम , न केवल उनके परस्पर सम्बन्ध का ही, किन्तु प्रत्येक स्तर की पूर्वावस्था और अनन्तरावस्था का भी, उन-उन त्रुटियो का भी, जिनके कारण एक स्तर के पश्चात् अगले स्तर का आना आवश्यक होता गया, पता लगावें, जिससे एक धारावाहिक जीवित परम्परा के रूप में भारतीय सस्कृति को हम समझ सकें।**

> **उपर्युक्त प्रकार के अध्ययन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारतीय सस्कृति के विभिन्न कालो के साथ हमारी, न केवल ममत्व की या तादात्म्य की ही भावना हो, किन्तु बुद्धि-युक्त सहानुभति भी हो।**

उपर्युक्त वैज्ञानिक पद्धति का अनुमरण करते हुए ही हम भारतीय मस्कृनि की धारा के अपने इस विशेष अध्ययन को करना चाहते है।

चौथा परिच्छेद

भारतीय संस्कृति की विचारधारा का लक्ष्य

भारतीय सस्कृति के सबध मे हमने अब तक जो कुछ कहा है उससे यह स्पष्ट है कि भारतीय परम्परा की सूत्रात्मा की ओर सकेत करने वाला **'भारतीय सस्कृति'** शब्द-समुदाय या अभिधान एक ऐसी समन्वयात्मक भावना को अभिव्यक्त करता है, जो एक प्रकार से भारतीय विचारधारा में नयी वस्तु है। इसीलिए उसका एक नया सन्देश है, उसका अपना विशेष लक्ष्य है। इस परिच्छेद में हम उसीको व्यक्त करना चाहते हैं। साथ ही, भारतीय सस्कृति के विभिन्न स्तरों के सबध में आगे जो कुछ हमें कहना है उसके विशिष्ट दृष्टिकोण पर भी कुछ प्रकाश डालना चाहते है।

भारतीय राजनीतिक इतिहास मे 'लोकतन्त्रात्मक गणराज्य' की स्थापना एक अनोखी घटना है। इसके द्वारा, भारत के किसी विशिष्ट वर्ग को नही, अपितु भारतीय जनता को विदेशीय परतन्त्रता से और कोटि-कोटि व्यक्तियो के समुचित विकास मे बाधक अपने देश की रूढियो से भी मुक्ति प्राप्त हुई है।

भारतीय सस्कृति की नवीन विचारधारा भी सास्कृतिक क्षेत्र में ऐसी ही क्रान्तिमयी भावना को लेकर प्रवृत्त हुई है। राष्ट्र में **सांस्कृतिक एकता की चेतना का उद्‌बोधन** उस का मुख्य उद्देश्य है। इसकी प्राप्ति में अनेकानेक बाधक प्रवृत्तियाँ सहस्रो वर्षों से भारतवर्ष के इतिहास में काम करती रही है। अब भी उनका बहुत-कुछ अस्तित्व है। उन को स्पष्ट करते हुए, उनके उन्मूलन के प्रकारो को दिखाना अत्यावश्यक है।

भारतीय अन्तरात्मा ने राजनीतिक क्षेत्र मे विभिन्न परम्परागत राज्यो के विलयन का जो चमत्कारी दृश्य उपस्थित किया है, वह हमारे लिए एक अभिमान की वस्तु है। कौन नही जानता कि हमारे प्राचीन इतिहास मे ऐसे ही राज्यो

के कारण भारत प्राय छिन्न-भिन्न रहा है, और उसकी विदेशी परतन्त्रता का मुख्य कारण ऐसे ही राज्यो की स्थिति थी।

हमें पूरी आशा है कि अब सास्कृतिक क्षेत्र मे भी अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता या पृथक् सस्कृति का अभिनिवेश या दुरभिमान रखने वाले, हमारे विभिन्न सप्रदाय अपने को एक ही व्यापक समन्वयात्मक भारतीय सस्कृति का अग समझने लगेगे। सास्कृतिक एकता की चेतना के उद्बोधन से हमारा यही अभिप्राय है।

उत्तररामचरित मे महाकवि **भवभूति** ने कहा है —

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
आवर्तबुद्बुद्तरङ्गमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥

अर्थात्, जैसे एक ही जल भँवर, बुलबुले और तरङ्गो के रूपो में देखा जाता है, इसी तरह मूल में एक ही करुण रस निमित्तभेद से विभिन्न रूपो में देखा जाता है।

व्यापक भारतीय सस्कृति के साथ विभिन्न सप्रदायो का वास्तव में ऐसा ही सबध है। इसी भावना की वास्तविक **अभिव्यक्ति** और स्पष्ट **अनुभूति** ही भारतीय सस्कृति की विचारधारा का अभिप्राय है।

भारतीय संस्कृति का संकुचित अर्थ

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि हम बराबर 'भारतीय सस्कृति' को उसके अत्यन्त व्यापक अर्थों में लेते हैं। भारतान्तर्गत सब सप्रदाय उसकी परिधि के अन्दर आ जाते हैं। परन्तु दुर्भाग्यवश 'भारतीय सस्कृति' शब्द-समुदाय का सकुचित अर्थों में भी प्रयोग हमारे देश मे हो रहा है। प्रथम परिच्छेद मे हम इस ओर सकेत कर चुके हैं। मन में अनेक प्रकार के दुराव या बचाव रख कर लोग इसका प्रयोग करते हैं। ऐसे ही लोग भारतीय राष्ट्र की **सप्रदाय-निरपेक्षता** या **सांप्रदायिक-समभाव** की आदरणीय नीति के विरोध मे, सकुचित भारतीय सस्कृति की आड में एक राजनीतिक पक्ष स्थापित करने का विफल प्रयत्न करते रहते हैं। कहने की आवश्यकता नही है कि हमारे अभिप्राय से भारतीय सस्कृति की विचारधारा राष्ट्र की उपर्युक्त असाप्रदायिक नीति की ही समर्थक और पोषक है।

भारतीय संस्कृति और विभिन्न संप्रदाय

जैसा ऊपर कह चुके है, किसी भी सभ्य समाज मे विभिन्न सप्रदायो का पाया जाना स्वाभाविक होता है, विशेषत भारतवर्ष जैसे विशाल और प्राचीन देश मे। ऐसा होने पर भी, उनमे पारस्परिक सच्ची सद्भावना हो सकती है। सस्कृत साहित्य में "इति सप्रदाय" जैसे स्थलो में 'सप्रदाय' शब्द का बिलकुल

निर्दोष प्रयोग पाया भी जाता है। विभिन्न विश्व-विद्यालयो में विद्या और ज्ञान के क्षेत्र में जैसी स्पर्धा पायी जाती है, वैसी ही स्पर्धा किसी स्पृहणीय आदर्श को लेकर सम्प्रदायो मे भी होनी चाहिए। किसी भी अवस्था मे उनमे विद्वेष की भावना अक्षम्य होनी चाहिए। इसलिए सच्चे अर्थों मे चिरस्थायी भारतीय एकराष्ट्रीयता की पुष्टि के लिए यह परम आवश्यक है कि हमारे विभिन्न सम्प्रदायो मे, समष्टि-दष्टि-मूलक व्यापक भारतीय सस्कृति के आधार पर, पारस्परिक सच्ची सद्भावना और सामञ्जस्य की प्रवृत्ति बढायी जाए। इसके लिए आवश्यक है कि

प्रथम तो, हमारे विभिन्न सम्प्रदायो मे एक-दूसरे के प्रति समादर और सहिष्णुता की भावना हो, और

दूसरे, हम उन सम्प्रदायो को भगवती गङ्गा की तरह प्रगति-शील समन्वयात्मक भारतीय सस्कृति का **पूरक** ही समझें।

दूसरे शब्दो में, अब तक सम्प्रदायो में जो **समानान्तरता** या **प्रतिद्वन्द्विता** की भावना चली आ रही है, उसके स्थान मे, वे सब समय, स्थिति और स्थान के भेद से एक ही भारतीय सस्कृति की प्रगति के पोषक है, इस भावना को स्थापित करने की आवश्यकता है।

भारतवर्ष में साम्प्रदायिक नेताओ की स्वार्थ या सकीर्णता की दृष्टि के कारण सम्प्रदायो का जो इतिहास रहा है, वह ऊपर के आदर्शो के बहुत कुछ विरुद्ध ही रहा है। अभी हाल के हिन्दू-मुसलमानो के साम्प्रदायिक घोर रक्त-पात को जाने दीजिए, उस समय से पहले के उस साम्प्रदायिक असहिष्णुता के वातावरण को स्मरण कीजिए, जब, विदेशी राजनीतिक परतन्त्रता के रहने पर भी, हमारे सभा-मचो से हमारे धुरधर साम्प्रदायिक महारथी दूसरे सम्प्रदायो के, उनके प्रवर्तको के और उनकी धर्म-पुस्तको के खण्डन में, उनकी धज्जियाँ उडाने मे, लगे थे, और 'शास्त्रार्थों' तथा उनके लिए 'आह्वानो' से आकाश गुजायमान रहता था। सौभाग्य से वह स्थिति अब प्राय नाम-मात्र को शेष है।

पवित्र कुभ के मेलो पर विभिन्न सम्प्रदाय के महन्तो और अखाडो की सवारियो के निकलने पर ससार से 'विरक्तो' के रक्तपात तक की कहानियाँ किसने न सुनी होगी!

धर्म के नाम पर साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्द्विता, पृथक्ता की भावना, धार्मिक नेताओ द्वारा समर्थन-प्राप्त जाति-भेद और वर्ण-भेद की भावना किस विषैले रूप में हमारे वर्तमान सामाजिक जीवन में व्याप्त है, इसके दो-चार और निदर्शनो को भी हम नीचे देते है।

साम्प्रदायिक तथा जातिगत और वर्णगत सकुचित भेद-भावना के वातावरण में लिखे गये साहित्य को ही दिन-रात पढने वाले लोगो के लिए यह स्वाभाविक है कि वे उस भेदभावना को अपने जीवन का चरम लक्ष्य समझें। इसीलिए

उनके द्वारा सचालित विद्यालयो में अब भी अध्यापको की नियुक्ति और छात्रो के प्रवेश में उक्त सकीर्ण भेद-भावना पूर्णतया उग्र रूप मे पायी जाती है। प्रसिद्ध राजकीय सस्कृत महाविद्यालय भी इस महारोग से प्राय अछूते नही रहे है। शूद्र या अहिन्दू के प्रवेश की तो बात ही क्या, उनमे जैन, बौद्ध, आर्यसमाजी आदि छात्रो के प्रवेश पर भी, **मनुस्मृति** आदि धर्मशास्त्रो के नाम पर, घोर आपत्ति की जाती रही है।

एक राजकीय सस्कृत महाविद्यालय मे तो एक बार माध्व सप्रदाय की गद्दी की स्थापना पर भी विद्वन्मण्डली ने असन्तोष प्रकट किया था।

बडे खेद की बात है कि हमारी आधुनिक शिक्षा-सस्थाओ मे भी यह रोग पाया जाता है। एक बार एक प्रसिद्ध कालेज को हमें दिखाते हुए उसके प्रिंसिपल ने, बडे गर्व के साथ, निजी तौर पर, हमसे कहा था कि किसी न किसी तरह वे ऐसा प्रयत्न करते है कि जाति-विशेष के ही बालक अधिक से अधिक उस कालेज में प्रविष्ट हो। हमारे विश्वविद्यालयो तक में इन सकीर्ण भेद-भावनाओ ने प्रवेश कर लिया है, यह भी हम से छिपा नही है। विश्वविद्यालयो के नाम के साथ 'हिन्दू', 'मुसलिम' शब्दो को तो हम गर्व के साथ स्मरण करते ही है।

इग्लैड के स्कूलो और विश्वविद्यालयो में किसी भी देश और जाति के छात्र पढ सकते है, पर 'सार्वभौम वैदिक धर्म' के आदर्श पर स्थापित हमारे गुरुकुलों मे अभी तक, अभारतीय तो क्या, सब भारतीय सप्रदायो के छात्र भी प्रविष्ट नही हो सकते।

अपने नवीन राजनीतिक जीवन के चुनाव और 'ग्राम-पचायत' जैसे प्रयोगो में भी उक्त विषैले प्रभाव को देख कर कभी-कभी बडी निराशा और आत्मग्लानि का अनुभव होता है।

उपर्युक्त सकीर्ण भावनाओ का उत्तरदायित्व बहुत कुछ हमारे प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य पर है। इसलिए उस साहित्य की भी थोडी-सी चर्चा यहाँ अप्रासङ्गिक न होगी।

प्राचीन साहित्य में सांप्रदायिक भावना

महाभाष्य मे एक सूत्र के उदाहरण के रूप में दिये गये **'श्रमण-ब्राह्मणम्'** का निर्देश हम प्रथम परिच्छेद मे कर चुके है।

"अस्ति नास्ति दिष्ट मति." (पाणिनि-सूत्र ४।४।६०) सूत्र से **'आस्तिक'**, **'नास्तिक'**, और **'दैष्टिक'** शब्द सिद्ध होते है। टीकाकारो[1] के अनुसार इन

---

१. तु० **"परलोकोऽस्तीति यस्य मतिरस्ति स आस्तिकः। तद्विपरीतो नास्तिकः"** (काशिका ४।४।६०)।

विशुद्ध दार्शनिक शब्दो का मूल मे साम्प्रदायिकता से कोई सबध नही था। पर पीछे से साम्प्रदायिक सघर्ष के दिनो से, **मनुस्मृति** के "**नास्तिको वेदनिन्दक**" (२।११) इस कथन के अनुसार, '**नास्तिक**' शब्द बौद्ध, जैन आदि के लिए निन्दा के रूप में रूढ-सा हो गया है, और इस शब्द द्वारा हमारे दार्शनिक क्षेत्र मे भी साम्प्रदायिकता ने चिरकाल से प्रवेश पा लिया है।

मीमांसादर्शन का महत्त्व वैदिको की दृष्टि मे निर्विवाद है। उसीके एक प्रकरण की (**मीमासासूत्र** १।३।५ ७) व्याख्या करते हुए **माधवाचार्य** ने अपने **जैमिनीयन्यायमालाविस्तर** मे कहा है —

शाक्योक्ताहिंसन धर्मो न वा, धर्मः श्रुतत्वतः।
न धर्मो नहि पूतं स्याद् गोक्षीर श्वदृतौ घृतम्॥

अर्थात्, जैसे कुत्ते के चमडे की थैली या कुप्पी में रखा हुआ गौ का दुग्ध ग्राह्य नही होता है, इसी तरह महात्मा बुद्ध आदि अवैदिको द्वारा प्रतिपादित अहिंसा, अपरिग्रह आदि का उपदेश भी प्रामाणिक या आदरणीय नही माना जा सकता।

सुप्रसिद्ध **न्यायमञ्जरी** ग्रन्थ का कर्ता **जयन्तभट्ट** बौद्ध आदि अवैदिक सप्रदायो के लिए 'पापकाचारोपदेशी', 'वेदबाह्य,' 'मोहप्रवृत्त' आदि विशेषणो का प्रयोग करके, अन्त में कहता है[1] कि उनके अनुयायियो का '**नरके पतनम्**' (=नरक-वास) ही होता है।

इसी प्रकार, **वाचस्पतिमिश्र** जैसे परमविद्वान् ने, **सांख्यतत्त्वकौमुदी** में बौद्ध, जैन आदि सप्रदायो के मान्य ग्रन्थो को 'आगमाभास' कहते हुए, उनके लिए 'म्लेच्छ', 'पुरुषापसद', 'पशुप्राय' जैसे अपशब्दो का प्रयोग किया है[2]।

दार्शनिक क्षेत्र मे यह साम्प्रदायिक असहिष्णुता की प्रवृत्ति बढते-बढते स्वय 'आस्तिक' कहलाने वाले दर्शनो में भी प्रविष्ट हो गयी। सुप्रसिद्ध विद्वान् **अप्पय दीक्षित** का **मध्वतन्त्रमुखमर्दन** और उस पर उनकी अपनी टीका **मध्वमतविध्वसन** इसी प्रवृत्ति के निदर्शन है।

चौदहवी ईसवी शताब्दी के परम-प्रसिद्ध विद्वान् **माधवाचार्य** द्वारा निर्मित शकरदिग्विजय—जैसे ग्रन्थ मे **श्री शंकराचार्य** और **मण्डन मिश्र** के परस्पर शास्त्रार्थ के वर्णन मे साम्प्रदायिक असहिष्णुता के साथ-साथ अशोभन भावो का

---

१. देखो न्यायमञ्जरी का प्रमाण-प्रकरण (पृ० २४२–३, बनारस का १९३६ का सस्करण)।

२ देखिए—"**. शाक्यभिक्षुनिर्ग्रन्थकसंसारमोचकादीनामागमाभासाः परिहृता भवन्ति। एतेषा . कैश्चिदेव म्लेच्छादिभिः पुरुषापसदैः पशुप्रायैः परिग्रहा-द्..**। (साख्यतत्त्वकौमुदी ५)

जो प्रदर्शन किया गया है, वह अक्षम्यता की सीमा तक पहुँचा हुआ प्रतीत होता है।[१]

हमारे पुराणो-जैसे प्राचीन धार्मिक साहित्य मे भी जब साम्प्रदायिक असहिष्णुता की भावना यत्र-तत्र पायी जाती है, तब और साहित्य का तो कहना ही क्या! पुराणो मे शैवो द्वारा वैष्णवो की और वैष्णवो द्वारा शैवो की निन्दा के उदाहरण हम पहले दिखा चुके है। एक ही **महामुनि व्यास** द्वारा सकलित कहे जानेवाले पुराणो मे यह परस्पर विरोध की भावना क्यो और कैसे पायी जाती है, विद्वानो के लिए यह एक विवेचनीय विषय है।

जैन, बौद्ध आदि सम्प्रदायो का साहित्य भी इस साम्प्रदायिक असहिष्णुता की भावना से खाली नही है।

चिर-परम्परा से प्राप्त इस साम्प्रदायिक असहिष्णुता का प्रभाव भारतीय समाज में अब भी किसी-न-किसी रूप में पाया जाता है। इसी कारण से समन्वयात्मक भारतीयता की सजीव भावना से हम अभी बहुत दूर है।

भारतीय संस्कृति की अन्तरात्मा

भारतीय सस्कृति की अन्तरात्मा उक्त साम्प्रदायिक विद्वेष की भावना से ऊपर ही रही है। वैदिक समय से लेकर अब तक उसने समय-समय पर समन्वय के लिए बराबर प्रयत्न किया है। जहाँ वैदिक मन्त्रो मे हमे—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा।
तदेव शुक्र तद् ब्रह्म ता आप स प्रजापति.॥

(यजु० ३२।१)

(अर्थात्, अग्नि, आदित्य, वायु, प्रजापति आदि देवता वास्तव में एक ही मूलतत्त्व की विभूतियाँ है) ऐसे विचार मिलते है, वहाँ **मनुस्मृति** भी स्पष्टतया कहती है—

एतमेके वदन्त्यग्नि मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥

(१२।१२३)

अर्थात्, अग्नि, प्रजापति, इन्द्र आदि नामो से वास्तव मे एक ही मूलतत्त्व को कहा जाता है।

हमारे इतिहास के मध्यकाल मे भी तत्त्व-विचारको ने

एकस्य कस्यचिदशेषजगत्प्रसूति-
हेतोरनादिपुरुषस्य महाविभूते.।

---

४ तु० "कन्या वहसि दुर्बुद्धे गर्दभेनापि दुर्वहाम्। शिखायज्ञोपवीताभ्या कस्ते भारो भविष्यति॥", "यासा स्तन्य त्वया पीत यासा जातोऽसि योनित। तासु मूर्खतम स्त्रीषु पशुवद्रमसे कथम्॥" (८।२०, २५) इत्यादि।

सृष्टिस्थितिप्रलयकार्यविभागयोगाद्
ब्रह्मेति विष्णुरिति रुद्र इति प्रतीति. ।।

(अर्थात्, एक ही अनादि पुरुष को सृष्टि, स्थिति और प्रलय के कार्यभेद के कारण ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र नाम से कहा जाता है), तथा

य शैवा. समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसका.
सोऽय वो विदधातु वाञ्छितफल त्रैलोक्यनाथो हरिः ।।

(अर्थात्, शैव, वेदान्ती, बौद्ध, जैन आदि शिव, ब्रह्म, बुद्ध, अर्हन् आदि के रूप में एक ही तत्त्व की उपासना करते हैं) इत्यादि सुन्दर और हृदयाकर्षक शब्दो में जनता मे समन्वयात्मक भावना को जगाने का प्रयत्न किया है। बुद्ध भगवान् की हमारे प्रमुख अवतारो मे गणना भी इसी प्रवृत्ति का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है ।

हमारे इतिहास के पिछले काल मे लोक-वन्दनीय महात्मा कबीर और नानक जैसे सन्तो ने मुसलमानो को भी सम्मिलित करके भारतीय सस्कृति मे अत्यन्त व्यापक समन्वय-भावना की जो धारा बहायी थी, वह हमारी सस्कृति का **सर्वोत्कृष्ट** निदर्शन है ।

वर्तमान भारत को, न केवल अपने ही लिए, अपितु ससार के कल्याण के लिए भी, ऐसे ही सन्तो की आवश्यकता है ।

ऐसा होने पर भी, साप्रदायिक नेताओ ने, स्वार्थ-निष्ठ आर्थिक और राजनीतिक कारणो के आधार पर, साप्रदायिक विरोध और असहिष्णुता को प्रोत्साहन देने और बढाने का सदा से ही काम किया है ।

इस कथन मे जितनी सत्यता आज है, उतनी ही हमारे प्राचीन और मध्य-काल के इतिहास मे भी रही है ।

हमारा विश्वास है कि समन्वयात्मक भारतीय सस्कृति की भावना के आधार पर ही हम अपनी परम्परागत साप्रदायिक सकीर्ण भावनाओ को दूर करके सप्रदायो मे परस्पर समादर, सहिष्णुता और 'पूरकता' की वृद्धि की स्थापना कर सकते है ।

भारतीय संस्कृति की भावना का मूर्त रूप

समन्वयात्मक भारतीय सस्कृति की भावना को जनता मे बद्धमूल करने और मूर्त-रूप देने के लिए आवश्यक है कि हम -

(१) विभिन्न सप्रदायो के उत्कृष्ट साहित्य को भारतीय सस्कृति की अविच्छिन्न धारा से सबद्ध मानते हुए, उसे अपनी राष्ट्रीय सपत्ति और अपना दाय समझे और उनसे लाभ उठाएँ,

(२) उनके अपने-अपने महापुरुषो को सबका पूज्य और मान्य समझें, और

(३) अपने विचारो को साप्रदायिक पारिभाषिकता से निकाल कर, उनके वास्तविक अभिप्राय को समझने का यत्न करें। दूसरे शब्दो में, प्राचीन ग्रन्थो के वचनो के शब्दानुवाद के स्थान मे भावानुवाद की आवश्यकता है।

कहने की आवश्यकता नही है कि उपर्युक्त उपायो के अवलम्बन से जहाँ एक ओर हमारी अपने-अपने सप्रदाय मे श्रद्धा बढेगी, वहाँ दूसरी ओर वर्तमान साप्रदायिक सकीर्णता के हटने से सप्रदायो मे परस्पर सहानुभूति, समादर और सहिष्णुता की भावना की वृद्धि भी होगी। इसी प्रकार हममें समष्टचात्मक भारतीय सस्कृति की भावना बद्धमूल हो सकती है।

समष्टचात्मक भारतीय सस्कृति की भावना के उद्बोधन के लिए जो आवश्यक उपाय हमने ऊपर दिखाये है, उनकी कुछ व्याख्या की अपेक्षा होने से उसे हम सक्षेप मे नीचे देते है—

१—विभिन्न संप्रदायों के उत्कृष्ट साहित्य का अध्ययन

विभिन्न सप्रदायो के उत्कृष्ट साहित्य को, भारतीय सस्कृति की अविच्छिन्न परम्परा से सबद्ध मान कर ही, पढने से जहाँ एक ओर हम भारतीय सस्कृति की धारा के प्रवाह और स्वरूप को जान सकते है, वहाँ दूसरी ओर उन सप्रदायो की वास्तविक पृष्ठभूमि को और भारतीय सस्कृति मे उनकी देन, स्थान और उपयोगिता को भी ठीक-ठीक समझ सकते है।

उदाहरणार्थ, बौद्ध और जैन सप्रदायो के प्रभाव को समझे विना हम गृह्यसूत्रो, श्रौतसूत्रो आदि मे वर्णित वैदिक धर्म के कालान्तर मे होने वाले पौराणिक धर्म के रूप में महान परिवर्तन को समझ ही नही सकते। सिद्धो और सन्तो के साहित्य के परिचय के विना शूद्र कहलाने वाली जातियो के सबध मे होने वाले क्रमिक दृष्टि-परिवर्तन को नही समझा जा सकता। भारतवर्ष में इसलाम के प्रभाव को समझे विना महात्मा कवीर और नानक के स्वरूप को और सिख सप्रदाय के उत्थान को हम नही समझ सकते। इसी तरह क्रिश्चियन धर्म के प्रभाव को समझे विना हिन्दू-धर्म के आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज आदि नवीन आन्दोलनो को तथा रामकृष्ण-सेवाश्रम जैसी सस्था के उदय को कैसे समझा जा सकता है?

भारतीय सस्कृति की प्रगतिशील अविच्छिन्न परम्परा की दिव्य-दृष्टि से ही हमे भारतीय सस्कृति के विकास मे व्यास, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, शकर, कवीर आदि सन्त, दयानन्द और गाँधी आदि अवतारी महापुरुषो की देन और महत्ता का स्पष्ट अनुभव हो सकता है।

इसके अतिरिक्त, सबसे वडा लाभ तो, सास्कृतिक दृष्टि से, यह होगा कि हम, अशोभन संकीर्णता और अनुदारता के वातावरण मे अपने को पृथक् करके,

सच्चे सुसंस्कृत भारतीय के रूप में भारत के समस्त उत्कृष्ट तत्त्व-विचारको और उदात्त-चरित अवतारी महापुरुषो से अपना साक्षात् नाता जोडते हुए, उनके उत्कृष्ट विचारो और कल्याण-प्रद उपदेशो से लाभ उठा सकेंगे। इस प्रकार भारत का प्रत्येक सुशिक्षित जन भारत के लम्बे इतिहास से, उसके समस्त उत्कृष्ट साहित्य से और महान् व्यक्तियो से अपने सबन्ध को जोड कर अभूतपूर्व गौरव और गर्व का अनुभव कर सकता है।

यूरोप के लोग क्रिश्चियन धर्म को मानते हुए भी, उत्कृष्ट ग्रीक और लैटिन साहित्य का, घनिष्ठ सास्कृतिक सबन्ध के कारण, श्रद्धा और निष्ठा के साथ अध्ययन करते हैं।

हम लोग भी विदेशी उत्कृष्ट साहित्य के अध्ययन में गर्व का अनुभव करते हैं।

अनेक विदेशी विद्वानो ने आजीवन घोर परिश्रम और तपस्या करके हमारे विभिन्न सप्रदायो के साहित्य का सादर अध्ययन किया है।

इस पर भी हम भारतीय अपनी साप्रदायिक सकीर्ण मनोवृत्ति के कारण अपने ही देश के महान् व्यक्तियो के उदात्त विचारो से अपने को वचित रखते रहे है। हमारे पण्डित बौद्ध और सन्त साहित्य को महत्त्व नही देते। सुशिक्षित मुसलमान भी गीता और उपनिषदो को नही पढते।

अन्य सप्रदायो के साहित्य का पढना तो दूर रहा, इधर साप्रदायिक सकीर्णता के कारण विभिन्न सप्रदायो के साहित्य की निन्दा और खण्डन मे ही अधिक ध्यान दिया गया है!

२—विभिन्न सम्प्रदायों के महापुरुषों का समादर

जो कुछ ऊपर विभिन्न सप्रदायो के उत्कृष्ट साहित्य के विषय में कहा है, वह बहुत कुछ उनके महापुरुषो के विषय में भी ठीक है।

साप्रदायिक सकीर्णता के कारण भारत की महान् विभूतियो के साथ हमने घोर अन्याय किया है, न केवल भिन्न सप्रदाय वालो ने ही, अपितु उनके अनुयायियो ने भी। भिन्न सप्रदायवालो की उनके प्रति उपेक्षा का एक मुख्य कारण यह रहा है कि साप्रदायिको ने अपने महान् व्यक्तियो को अपनी ही सीमा में 'क़ैद' कर रखा है। ससार में बडे से बडे पुरुषो का महत्त्व और ग्रन्थो की उपयोगिता प्राय इसी लिये कम हो जाते हैं, क्योकि उनको उनके ही मानने वालो ने तत्तत् सप्रदाय की चहारदीवारी के अन्दर बन्द कर दिया होता है।

इसलिए भारतीयता के नाते हम सबका कर्तव्य है कि हम भारत की महान विभूतियो को साप्रदायिकता के सकीर्ण वातावरण से निकाल कर, नवीन भारत के स्वच्छ जीवन-प्रद खुले असाप्रदायिक वातावरण मे बिठा कर, उन सब में ममत्व का अनुभव करें। वास्तव मे कृष्ण, बुद्ध, महावीर और गाँधी-जैसे महापुरुष, किसी सप्रदाय के क्या, किसी देश-विशेष के भी नही होते। वे तो

ससार भर के होते है। मानव-मात्र का कल्याण उनका ध्येय होता है। उनका सन्देश सार्वभौम होता है।

३--सांप्रदायिक पारिभाषिकता का दुष्प्रभाव

साप्रदायिक पारिभाषिकता से हमारा अभिप्राय रूढिवाद की उस अन्धप्रवृत्ति से है, जिसके कारण मनुष्य अपने साप्रदायिक ग्रन्थो के वचनो का और रूढियो का, उनके मौलिक अभिप्राय को समझे बिना, केवल चेतनाहीन यात्रिक दृष्टि से, अनुसरण करना चाहता है। किसी भी विधि-विधान की महत्ता उसके मौलिक अभिप्राय मे रहती है, यह न समझ कर वह उसके विशुद्ध शाब्दिक अर्थ को ही महत्त्व देता है, भावार्थ को नही। इसीलिए मूल में एक ही अभिप्राय से प्रेरित होने पर भी, अनेक परिस्थितियो के कारण बाह्य स्वरूप मे कुछ भी भिन्नता रखने वाले विधि-विधान का वह विरोधी बन जाता है। उदाहरणार्थ, किसी देवता की उपासना मे और उपासना-गृह बनाने मे मनुष्यो की प्रवृत्ति का एक ही मौलिक अभिप्राय हो सकता है। पर अनेकानेक कारणो से इनके प्रकार मे भेद होना स्वाभाविक है। विचार-शील व्यक्ति के लिए प्रकार-भेद गौण है, मौलिक अभिप्राय ही मुख्य होता है। साप्रदायिक मनोवृत्ति की अवस्था इसके प्रतिकूल ही होती है।

भारत-जैसे महान् देश मे, जहाँ स्वभावत अनेकानेक सप्रदाय है, उपर्युक्त साप्रदायिक पारिभाषिकता से केवल हानि ही होती है। यहाँ तो विभिन्न सप्रदायो की रूढियो को, नैतिकता और मानवहित की परिधि के अन्दर, सहानुभूति और सहिष्णुता से समझने की आवश्यकता है।

उपर्युक्त पारिभापिकता को छोडने का अभिप्राय यह भी है कि भारतीय सस्कृति के वर्णाश्रमधर्म जैसे वैज्ञानिक विचारो का, या उपनयन, वेदारम्भ जैसे उपयोगी सस्कारो का महत्त्व हम तभी बता सकेंगे, जब हम इनके रूढार्थ को छोड कर, इनके मौलिक अभिप्राय को ससार और राष्ट्र के सामने रखेंगे। दूसरे शब्दो मे, हमको अपने सिद्धान्तो की, मानवहित की दृष्टि से, न कि अपने-अपने सम्प्रदाय की दृष्टि से, उदार व्याख्या करनी होगी।

उदाहरणार्थ, वानप्रस्थाश्रम आजकल एक लुप्त-प्राय आश्रम है। वनो के न रहने मे वह अपने शाब्दिक अर्थ मे पुनर्जीवित भी नही हो सकता। पर गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्व के पश्चात् मनुष्य को परार्थ जीवन व्यतीत करना चाहिए--इस भावार्थ को लेकर भारतीय राष्ट्र के पुनर्निर्माण मे अनेक प्रकार की सेवा हमारे नवीन युग के वानप्रस्थी कर सकते है। प्रत्येक सप्रदाय और समाज इसका स्वागत करेगा।

ग्रन्थो और शास्त्रो की मान्यता अर्थदृष्ट्या ही होती है, न कि शब्द-दृष्ट्या, ऐसा मान लेने पर, सप्रदाय-भेद की तरह, शास्त्र-भेद भी समष्टि-दृष्टि मूलक

भारतीय सस्कृति की भावना में बाधक न हो सकेगा, और भारत के विभिन्न सप्रदाय एक ही सस्कृति की सजीव भावना को अपना सकेगे। कोई किसी को न तो नास्तिक कहेगा, न म्लेच्छ, और न काफिर।

इस ग्रन्थ की विशेषता

भूमिका के रूप में लिखित, पिछले परिच्छेदो से और इस परिच्छेद के ऊपर के लेख से स्पष्ट हो गया होगा कि प्रकृत ग्रन्थ की अपनी एक मुख्य विशेषता यह है कि भारतीय सस्कृति के विषय में हमारा दृष्टिकोण और लक्ष्य, दोनो ही दूसरे लेखको से बहुत-कुछ भिन्न है।

भारतीय सस्कृति के विषय में अब तक के लेखको को प्रायेण तीन वर्गों में बांटा जा सकता है—

प्रथम वर्ग तो सकीर्ण साप्रदायिक दृष्टि रखने वाले उन लोगो का है, जिनके सामने प्रगतिशील समष्टयात्मक भारतीय सस्कृति-जैसी कोई वस्तु या भावना रह ही नही सकती। विभिन्न भारतीय सप्रदायो मे भी वे पारस्परिक पूरकता के स्थान में समानान्तरता और प्रतिद्वन्द्विता की भावना को ही सामने रख कर कुछ लिखने में प्रवृत्त होते हैं। अपने ही सप्रदाय को सर्वोत्कृष्ट और सर्वांश में सत्य मानने के कारण, वे दूसरे सप्रदायो के विषय में न्याय्य दृष्टि से काम ले ही नही सकते।

दूसरे वर्ग के लेखक प्राय. वे विदेशी विद्वान् है, जिन्होने बहुत-कुछ अपने राजनीतिक स्वार्थ या अभिनिवेश के कारण, जाने या अनजाने, भारतीय सप्रदायो की ऊपरी प्रतिद्वन्द्विता पर ही अधिक बल दिया है। ऐसे ही लेखको के प्रभाव के कारण हमारे जातीय जीवन में आर्य-अनार्य, वैदिक-अवैदिक, ब्राह्मण-अब्राह्मण, वर्णाश्रमी-वर्णाश्रमेतर, हिन्दू-अहिन्दू, हिन्दू-मुसलमान, हिन्दू-सिख-जैसी प्रतिद्वन्द्वी भावनाओ ने जड पकड कर, नयी समस्याओ को खडा कर दिया है।

तीसरे वर्ग मे उन भारतीय विद्वान् लेखको का स्थान है, जो भारतीय चिर-परम्परा से प्राप्त जाति-वर्ण, या सप्रदाय-मूलक गहरे अभिनिवेश के कारण, जनता के वास्तविक जीवन के प्रवाह की उपेक्षा करके, बहुत कुछ 'शास्त्रीय दृष्टि' को ही सामने रख कर भारतीय सस्कृति की एकदेशी व्याख्या मे प्रवृत्त होते है।

केवल शास्त्रो मे प्रतिपादित, पर व्यावहारिक जीवन से असपृक्त, सस्कृति को सस्कृति कहा भी जा सकता है या नही, इसमे हमे सन्देह है। व्यवहारपक्ष की उपेक्षा करके, विशुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से किसी भी सस्कृति का ऐसा मनोमोहक चित्र खीचा जा सकता है, जिसका अस्तित्व, किसी दिव्यलोक मे भले ही हो, इस मर्त्यलोक मे तो नही हो सकता। फिर, शास्त्रीय अभिनिवेश वाला लेखक विभिन्न सप्रदायों का कहाँ तक न्याय-पूर्ण विचार कर सकता है?

हम चाहते हैं कि प्रकृत ग्रन्थ में हम, अपने को सकीर्ण साप्रदायिक भावना से पृथक् रखते हुए, प्रगतिशील भारतीय सस्कृति के अविच्छिन्न प्रवाह और विकास को इस प्रकार दिखा सकें, जिससे—

(१) एक समन्वयात्मक भारतीय सस्कृति के आधार पर हमारे भारतीय राष्ट्र को दृढता और पुष्टि प्राप्त हो सके,

(२) भारतीय सस्कृति की प्रगति मे, वास्तविकता के आधार पर, विभिन्न सप्रदायो की देन और साहाय्य को दिखलाते हुए हम उनमें प्रतिद्वन्द्विता के स्थान में पूरकता की भावना का विकास कर सकें,

(३) सप्रदायो मे नैतिकता, नागरिकता और मानवता की दृष्टि से सहयोग के साथ-साथ, परस्पर समादर और सद्भावना की भी वृद्धि हो सके,

(४) सप्रदायो के स्वरूप और प्रभाव के निरूपण मे हम पूर्ण सद्भावना और न्याय्य-बुद्धि से काम ले सकें। इस सबध मे जो कुछ हम लिखे, उसका आधार, केवल पुस्तकाध्ययन न होकर, यथासभव उनके व्यावहारिक जीवन का आन्तरिक अवेक्षण भी हो। दूसरे शब्दो में, शास्त्रीय और व्यावहारिक, दोनो पक्षो को हम साथ लेकर ही चलना चाहते है।

प्रथम खण्ड

भारतीय संस्कृति की वैदिक धारा

[परिच्छेद ५---११]

तथा

परिशिष्ट १–२

पाँचवाँ परिच्छेद

वैदिक वाङ्मय की रूपरेखा

अवतरणिका

पिछले परिच्छेदो मे हमने, भूमिका के रूप मे, भारतीय सस्कृति के सम्बन्ध मे कुछ मौलिक वातो की व्याख्या की है। यहाँ से हम अपने मुख्य विषय— **भारतीय सस्कृति की प्रगति और विकास** की चर्चा आरम्भ करना चाहते है। स्पष्टत इसके लिए भारतीय सस्कृति की प्रगति मे सहायक विभिन्न विचारधाराओ के, यथासभव उनके कालक्रम के अनुसार, वर्णन और विवेचन की आवश्यकता है।

प्रत्येक धारा के वर्णन और विवेचन मे हम यही क्रम रखना चाहते है कि उसकी साहित्यिक भूमिका की रूपरेखा को दिखलाते हुए, उसके प्रारम्भ, स्वरूप, गुणपक्ष, दोषपक्ष, भारतीय सस्कृति के लिए उसकी देन, कालान्तर में उसका शैथिल्य अथवा ह्रास, और अन्त मे उसकी वर्तमान-कालीन आवश्यकताओ का विचार करें।

उन धाराओ मे **परस्पर अपेक्षाकृत** किसका कितना महत्त्व है, इस विचार मे यथासभव हम नही पडना चाहते, क्योकि, जैसा हम पहले कह चुके है, इस ग्रन्थ मे हम, विभिन्न साप्रदायिक विचारधाराओ के पारस्परिक तारतम्य या प्रतिद्वन्द्विता के स्थान मे, मुख्यत भारतीय सस्कृति की प्रगति में उनकी देन और माहात्म्य को ही दिखाना चाहते है। राष्ट्र में एक समष्टयात्मक भारतीय सस्कृति की भावना का विकास और पोषण इसी प्रकार हो सकता है।

सबसे पहले हम वैदिक धारा का विचार करेगे।

वैदिक धारा का महत्त्व

भारतीय सस्कृति के विकास में अपनी प्राचीनता और अपने बहुमुखी तथा व्यापक प्रभाव के कारण वैदिक धारा का निर्विवाद रूप से अत्यधिक महत्त्व है।

न केवल अपने सुग्रथित, सुरक्षित और विस्तृत वाङ्मय की अतिप्राचीन परम्परा के कारण ही, न केवल अपनी भाषा और वाङ्मय के अत्यन्त व्यापक प्रभाव के कारण ही, अपितु भारत के धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में अपने शाश्वतिक प्रभाव के कारण भी, भारतीय संस्कृति में वैदिक धारा का सदा से अत्यधिक महत्त्व रहा है और बराबर रहेगा।

सितासिते सरिते यत्र संगथे
तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति[1]। (ऋग्वेद-खिल)

इस ऋचा के अनुसार अपने स्वच्छन्द प्रवाह से बहने वाली गगा अपनी ही तरह स्वच्छन्द-प्रवाहिणी यमुना के सगम के अनन्तर भी गगा ही कहलाती है, और आगे चल कर अन्य धाराओ को आत्मसात् करती हुई भी अपने नाम को नही छोडती। इसी तरह किसी प्राचीन काल में प्राग्वैदिक धारा या धाराओ से समन्वित होकर भी, और उत्तरकाल मे अन्य नवीन धाराओ से प्रभावित होकर भी, वैदिक धारा अपने ही नाम से चली आ रही है। यही उसकी अद्वितीय महत्ता और विशेषता है। इसी अभिप्राय से कोई-कोई '**भारतीय संस्कृति**' के स्थान मे '**वैदिक संस्कृति**' पद का प्रयोग करना पसन्द करते है। पर हम 'भारतीय सस्कृति' पद के ही क्यो पक्षपाती है, इसका सकेत हम पहले कर चुके है।

कहने की आवश्यकता नही है कि इस प्रसग मे हम वैदिक धारा का वर्णन यथासभव उसके अपने विशद्ध मौलिक रूप की दृष्टि से ही करना चाहते है।

प्रथम परिच्छेद मे हमने वैदिक सस्कृति से प्राचीनतर या प्राग्वैदिक धारा के अस्तित्व की ओर सकेत किया है। ऐसी स्थिति म हमे भारतीय सस्कृति के विकास की चर्चा का आरम्भ प्राग्वैदिक धारा से ही करना चाहिए। ऐसा न करने का कारण यही है कि अभी तक प्राग्वैदिक धारा का स्वरूप उतना स्पष्ट और व्यक्त नही है, जितना कि वैदिक धारा या उसकी उत्तर-वर्ती धाराओ का है। इसी कारण से भारतीय सस्कृति के विकास की चर्चा का प्रारम्भ हम वैदिक धारा मे ही कर रहे है। व्यक्त धाराओ के वर्णन के अनन्तर उन अव्यक्त धारा का वर्णन भी हम यथास्थान करेगे।

---

१ अर्थात्, सित असित, श्वेत और कृष्ण. दोनो धाराएँ जहाँ सगत होती है, वहाँ स्नान करने वाले द्युलोक को पहुँचते है। [तु० कालिदास, रघुवंश १३। ५४-५८ (गंगा-यमुना के संगम का लोकोत्तर वर्णन)]। हमें तो यहाँ वैदिक और प्राग्वैदिक, दोनो संस्कृतियो के लोक-कल्याण-कारी समन्वय की भी ध्वनि सुनायी देती है।

वैदिक धारा की साहित्यिक भूमिका

वैदिक वाङ्मय को हम चार भागो में विभाजित कर सकते है . **वेद, ब्राह्मण, वेदाङ्ग** और **वैदिक परिशिष्ट**। नीचे, सक्षेप मे ही, हम इनका क्रमश वर्णन करेगे।

(१)

वेद

वैदिक धारा का उद्गम वेद से है, उसी तरह, जिस तरह गगा का उद्गम गगोत्तरी से। सास्कृतिक दृष्टि से वेद का महत्त्व हम आगे दिखाएँगे, तो भी भारतीय परम्परा की दृष्टि से वेद का कितना महत्त्व है, इस विषय मे यहाँ दो-चार प्रमाणो का देना अप्रासगिक न होगा।

मनस्मृति में वेद के विषय में कहा है

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् (२।६)।
सर्वज्ञानमयो हि सः (२।७)।
चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमा. पृथक्।
भूत भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।। (१२।९७)
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते। (२।१६६)।
योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।। २।१६८)।

अर्थात्, वेद धर्म का मूल है और समस्त ज्ञान से युक्त है। चारो वर्ण, तीनो लोक, चारो आश्रम, भूत, वर्तमान और भविष्य, इन सब का परिज्ञान वेद से होता है। विप्र के लिए वेद का अभ्यास ही श्रेष्ठ तप माना जाता है। जो द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) वेद को विना पढे अन्य विषय मे श्रम करता है, वह जीता ही अपने वश के सहित शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है।

ऊपर के प्रमाणो से, वैदिक धारा की दृष्टि से, वेद का कितना महत्त्व है, यह स्पष्ट है।

वेद के विषय मे सबसे पहला प्रश्न यह है कि वेद किसको कहते है? इस विषय मे तीन दृष्टियाँ हो सकती है—

पहली दृष्टि यह है कि 'वेद' शब्द 'विद ज्ञाने' धातु से बना है। अत इसका मौलिक अर्थ 'ज्ञान' ही है। 'विद्या' शब्द भी इसी धातु से निकला है। इसलिए **मूल में 'विद्या' और 'वेद' शब्द समानार्थक ही है**। 'वेद' शब्द का इस सामान्य अर्थ मे प्रयोग 'आयुर्वेद', 'धनुर्वेद' आदि शब्दो में प्राचीन काल से चला आया है। इसी

प्रकार आश्वलायन-श्रौतसूत्र (१०।७) मे अनेक विद्याओ के साथ 'वेद' शब्द का प्रयोग किया गया है[१]।

दूसरी दृष्टि के अनुसार 'वेद' शब्द का सामान्य 'ज्ञान' के स्थान मे विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ मे ही प्रयोग होता है। "**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**" (आपस्तम्ब-यज्ञपरिभाषासूत्र ३१), इस प्राचीन परिभाषा के अनुसार मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भाग दोनो के लिए समान रूप से 'वेद' शब्द का प्रयोग चिरकाल से भारतीय साहित्यिक परम्परा मे चला आया है।

तीसरी दृष्टि दूसरी दृष्टि से भी अधिक सकुचित है। उसके अनुसार वेद के मन्त्र-भाग (या सहिता-भाग) को ही 'वेद' कहना चाहिए।

इस विषय में हमारा अपना मत यह है कि प्रारम्भ मे 'वेद' शब्द वास्तव में सामान्येन ज्ञान या विद्या के अर्थ मे ही प्रयुक्त होता था[२]। कालान्तर में अनेक कारणो से यह प्राचीन परम्परा से प्राप्त मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वैदिक साहित्य के लिए ही प्रयुक्त होने लगा। परन्तु मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भाग मे परस्पर विभिन्न-प्रकारता है। ब्राह्मण-भाग मन्त्र-भाग के पीछे-पीछे चलता है। इसलिए प्रति-पादन की सुविधा की दृष्टि से हम भी 'वेद' शब्द का प्रयोग मन्त्र-भाग (या सहिताभाग) के लिए ही करना उचित समझते है।

वेद के **ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद** और **अथर्ववेद**, ये चार भाग माने जाते है। इनके लिए ही **ऋक्संहिता, यजु सहिता, सामसहिता** और **अथर्वसहिता**, ये नाम प्रसिद्ध है। इनमें से प्रत्येक का कुछ विस्तार से वर्णन नीचे दिया जाएगा।

पौराणिक परम्परा के अनुसार मूल में एक ही वेद था। उसी के **कृष्ण-द्वैपायन वेद-व्यास** ने याज्ञिक दृष्टि से अध्ययनाध्यापन-परम्परा की सुविधा के लिए उपर्युक्त चार विभाग किये थे[३]।

वेदों के लिए 'त्रयी' शब्द का व्यवहार

ऊपर वेद के चार भागो का उल्लेख किया गया है। परन्तु वेदो के लिए **'त्रयी'** शब्द का प्रयोग भी अत्यन्त प्राचीन काल से चला आया है। **शतपथ**

---

१. देखिए—"**यजुर्वेदो वेद.।**","**अथर्वाणो वेद।**","**असुरविद्या वेदः।**","**पुराणविद्या वेदः।**","**इतिहासो वेदः।**" इसी प्रसङ्ग मे शतपथ-ब्राह्मण (१३।४।३।६-१४) को भी देखिए। गोपथ-ब्राह्मण (१।१।१०) "**सर्पवेद**", "**पिशाचवेद**", "**असुरवेद**", "**इतिहासवेद**" तथा "**पुराणवेद**" का उल्लेख करता है।

२. एक चेकोस्लोवैक सज्जन कहते थे कि उनकी भाषा में आजकल भी 'वेद' शव्द प्रयुक्त होता है और उसका अर्थ है '**सायंस**' या विज्ञान।

३. देखिए—"**व्यदधाद् यज्ञसंतत्यै वेदमेक चतुर्विधम्। ऋग्यजु सामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृता।**" (भागवत १।४।१६-२०)

आदि ब्राह्मण-ग्रन्थो मे तथा **मनुस्मृति, गीता** आदि मे' **'त्रयी'** या **'त्रयं ब्रह्म'** का प्रयोग प्राय पाया जाता है। इन शब्दो का अर्थ ऐसे स्थलो में ऋक्, यजु और साम, यही किया जाता है। इस प्रकार अथर्व-वेद का उल्लेख छूट जाता है। इसी आधार पर यह विवाद प्राचीन काल से[२] चला आ रहा है कि अथर्व-वेद को भी वेद मानना चाहिए या नही।

इस विवाद मे हम यहाँ नही पडना चाहते। यहाँ केवल इतना बतला देना पर्याप्त होगा कि जहाँ-जहाँ चार वेदो का उल्लेख है, वहाँ ग्रन्थ-रूप मे चार सहिताओ से अभिप्राय है, और 'त्रयी' या 'त्रय ब्रह्म' (=तीन वेद) से अभिप्राय, सहिताओ के स्थान में, ऋक् (=पद्यात्मक वैदिकी रचना), यजु (=गद्यात्मक वैदिकी रचना) और साम (=गीतात्मक वैदिकी रचना) रूप से वेद-मन्त्रो की तीन प्रकार की रचना का है। वास्तव मे ऋक्, यजु और साम का शास्त्रीय अर्थ यही है[३]। चारो वेदो के मन्त्रो का अन्तर्भाव उक्त तीन प्रकार की रचनाओ में हो जाता है। इसीलिए **शतपथ-ब्राह्मण** आदि में 'त्रयी' के साथ 'विद्या' शब्द का भी प्रयोग प्राय किया गया है।[१]

इसलिए 'वेदत्रयी' और 'वेदचतुष्टय' शब्दो मे केवल दृष्टि का भेद है। वास्तविक विरोध नही है। पर हो सकता है कि त्रयीत्व की कल्पना प्राचीनतर हो। **महामुनि वेदव्यास** ने मौलिक एक वेद को चार वेदो मे विभाजित किया, इस पूर्वोल्लिखित पौराणिक अनुश्रुति से इसी बात की पुष्टि होती है। पर इधर चिरकाल से वैदिको की परम्परा मे वेदचतुष्टय का ही व्यवहार है। इस लिए प्रकृत मे हम भी 'वेद चार हैं', यह मान कर ही आगे चलेंगे।

वेदों की शाखाओं का विचार

प्रत्येक वेद के विपय मे कुछ कहने मे प्रथम वेदो की शाखाओ के विपय मे कुछ विचार करना आवश्यक है। जैसा आगे चल कर विदित होगा, प्रत्येक वेद की अनेक शाखाएँ मानी जाती है। इस शाखा-भेद का क्या अभिप्राय है? इस विपय मे प्राय भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई है। पर प्रत्येक वैदिक जानता

---

१. देखिए—**"त्रयी वै विद्या ऋचो यजूंषि सामानि"** (शतपथ ४।६।७।१)। **"त्रयं ब्रह्म सनातनम्. .ऋग्यजु.सामलक्षणम्।"** (मनुस्मृति १।२३)। **"एव त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना."** (गीता ६।२१)।

२ देखिए—न्यायमञ्जरी का प्रमाणप्रकरण (पृ० २३२, बनारस का १९३६ का सस्करण)।

३. देखिए—**"ऋग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुः-शब्द।"** (पूर्वमीमासासूत्र २।१।३५-३७)।

है कि उसका किस वेद की किस शाखा से सम्बन्ध है। वह यह भी जानता है कि उसकी शाखा मे प्रचलित वेद-सहिता का पाठ अपने ही वेद की अन्य शाखा से सम्बद्ध सहिता के पाठ से कुछ ही अशो मे भिन्न है। इसलिए यह स्पष्ट है कि वेदो का शाखा-भेद बहुत अश तक, किसी भी प्राचीन ग्रन्थ के समान, पाठ-भेद पर ही अवलम्बित है।

इस पर भी आजकल के साप्रदायिक विचार-धारा के लोग 'वेद शाश्वत है', 'वेद ईश्वर-कृत है', इसीलिए 'उनमे पाठभेद नही हो सकता', ऐसी धारणाओ से प्रेरित होकर वेदो की शाखाओ का मन कल्पित अर्थ करते है।

शाखा-भेद कैसे हुआ? इसका उत्तर स्पष्ट है। वैदिक परम्परा मे एक ऐसा समय था, जब कि अध्ययनाध्यापन का आधार केवल मौखिक था[1]। उसी काल मे एक ही गुरु के शिष्य-प्रशिष्य भारत-जैसे महान् देश में फैलते हुए, विशेपत गमनागमन की उन दिनो की कठिनताओ के कारण, किसी भी पाठ को पूर्णत अक्षुण्ण नही रख सकते थे। पाठ-भेद का हो जाना स्वाभाविक था।[2]

साथ ही जानबूझ कर पाठ का कुछ परिवर्तन या परिवर्धन भी, अवस्था-विशेष मे, सभावना से बाहर की बात नही है। एक ऐसा भी समय था, जब नवीन ऋचाएँ भी बनायी जाती थी[3]। तभी तो वैदिक वाङमय मे ऐसी भी ऋचाएँ और मन्त्र मिलते है, जो उपलब्ध वैदिक सहिताओ मे नही पाये जाते। ऐसी अवस्था मे पाठ-भेद कर देना या पाठ-भेद का हो जाना असभावित नही हो सकता। वैदिक सहिताओ मे परिशिष्ट-रूप से जोडे हुए सूक्तो के लिए **'खिल-सूक्त'** यह प्राचीन पारिभापिक शब्द प्रसिद्ध है।

ऊपर के सामान्य विचार के बाद हम नीचे प्रत्येक वैदिक सहिता का सक्षेप मे परिचय देने का यत्न करेंगे।

---

१ इस विषय के लिए इसी ग्रन्थ के **द्वितीय परिशिष्ट** के (क) अंश में 'सस्कृत साहित्य में ग्रन्थ-प्रणयन' शीर्षक लेख देखिए।

२ तु० **"एव वेदं तदा व्यस्य भगवानृषिसत्तम.। शिष्येभ्यश्च पुनर्दत्वा तपस्तप्तु गतो वनम्। तस्य शिष्यप्रशिष्यैस्तु शाखाभेदास्त्विमे कृता ।।"** (वायु-पुराण ६१।७७)

३ **"अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत"** (ऋग्० १।१।२), **"इमा प्रत्नाय सुष्टुतिं नवीयसीं वोचेयम्"** (ऋग्० १०।९१।१३) इत्यादि ऋचाओ में स्पष्टत प्राचीन और नवीन ऋषिओ का और बिलकुल नवीन बनायी हुई ऋचाओ का उल्लेख है।

ऋग्वेद-संहिता

वैदिक सहिताओ मे ऋग्वेद-सहिता सबसे बडी है। **छन्दोबद्ध** या **पद्यात्मक** मन्त्रो को ऋक् या ऋचा कहते है। ऋक्सहिता या ऋग्वेद-सहिता ऐसी ही ऋचाओ का बडा भारी सग्रह है। सहिता का अर्थ है, सग्रह।

थोडे-बहुत पाठ-भेदो के कारण इस सहिता की अनेक शाखाएँ मानी जाती है। **महाभाष्य**-जैसे प्राचीन ग्रन्थ मे (लगभग १५० ई० पूर्व) कहा है कि ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ थी (**"एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्"**)[१]। पीछे के ग्रन्थो में केवल पाँच शाखाओ का उल्लेख मिलता है। शाखाओ की इस कमी का मुख्य कारण अध्ययनाध्यापन का सकोच ही हो सकता है। आजकल जो ऋग्वेद-सहिता प्रचलित है, उसका सम्बन्ध **शाकल-शाखा** से है।

इस सहिता के दस भाग हैं, जिनको **मण्डल** कहते है। प्रत्येक मण्डल में अनेक **सूक्त** होते है, और सूक्तो मे अनेक ऋचाएं। इनके विवरण के लिए नीचे की तालिका देखिए—

मण्डल	सूक्त-संख्या	ऋक्-संख्या
प्रथम मण्डल	१९१	२००६
द्वितीय मण्डल	४३	४२९
तृतीय मण्डल	६२	६१७
चतुर्थ मण्डल	५८	५८९
पचम मण्डल	८७	७२७
षष्ठ मण्डल	७५	७६५
सप्तम मण्डल	१०४	८४१
अष्टम मण्डल	९२	१६३६
नवम मण्डल	११४	११०८
दशम मण्डल	१९१	१७५४
	१०१७	१०४७२

ऋचाओं के ऋषि, देवता और छन्द

ऋग्वेद-सहिता की छपी पुस्तको मे प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ मे उस सूक्त के ऋषि, देवता और छन्द (छन्दस्) का निर्देश होता है। छन्द (गायत्री आदि) का अर्थ स्पष्ट है। प्रत्येक ऋचा का कोई न कोई छन्द होना ही चाहिए।

१ देखो, महाभाष्य, पस्पशाह्निक।

'ऋक्' शब्द का मूलार्थ है, जिससे स्तुति की जाए[1]। "ऋच स्तुतौ" धातु से यह बना है। इसलिए ऋचा या सूक्त मे जिस विषय या पदार्थ की स्तुति, वर्णन या प्रतिपादन होता है, वह उसका देवता कहलाता है[2]। इस पारिभाषिक अर्थ के कारण देवता-रूप से प्रसिद्ध इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि के साथ-साथ सूक्तो मे वर्णित ज्ञान, सज्ञान, कृषि, अक्ष आदि को भी उनका देवता कहा जाता है।

ऋचाओ या सूक्तो के **ऋषि** से क्या अभिप्राय है? इस विषय मे अनेक मत है। प्राचीन ग्रन्थो मे कही तो ऐसा उल्लेख आता है कि ऋषि उनको कहते है, जिन्होने वेद-मन्त्रो का साक्षात्कार किया था। कही ऐसा प्रतीत होता है कि मन्त्रो के बनाने वाले को ही ऋषि कहा जाता था।[3] हमारे मत मे तो दोनो बातो मे कोई मौलिक भेद नही है।

करुणा के आवेग मे आदिकवि **वाल्मीकि** के मुख से

मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

यह श्लोक निकल पडा था। इस पर ब्रह्मा जी ने आकर उनसे कहा कि **"मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन् प्रवृत्तेय सरस्वती"** (वाल्मीकि-रामायण १।२।३१), अर्थात्, मेरी प्रेरणा से ही यह सरस्वती तुम्हारे मुख से प्रवृत्त हुई है। कवि की लोकोत्तर प्रतिभा से रची हुई कविता मे कवि का अपना कितना हाथ होता है और लोकोत्तर (या दैवी) प्रेरणा का कितना, यह कहना कठिन होता है। दूसरे, 'खाना खा लीजिए' और 'भोजन पा लीजिए' मे अर्थ का भेद न होने पर भी भावना का गहरा भेद है। इसी तरह 'ऋषि ने मन्त्र बनाया' या 'ऋषि पर मन्त्र प्रकट हुआ' या 'उसने मन्त्र को देखा', इनमे वस्तुत अर्थैक्य के होने पर भी भावना का भेद है। इसलिए उपर्युक्त मत-भेद को हम तो कोई विशेष महत्त्व नही देते। इतना तो स्पष्ट है कि मन्त्रो की शाब्दिक (या मौखिक) परम्परा या श्रुति-परम्परा से उनके ऋषियो का मौलिक सम्बन्ध अवश्य है।[4]

यह भी स्मरण रहे कि काल-भेद मे भाषा के मुहावरो मे अन्तर पड जाता है। 'विद्या पढी जाती है' इसी बात को वैदिक मुहावरे मे कहते थे 'विद्या सुनी

---

१. तु० "ऋग्भिः शसन्ति" (निरुक्त १३।७)।
२. तु० "या तेनोच्यते सा देवता" (ऋक्सर्वानुक्रमणी १।२।५)।
३. तु० "ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यव.।" (निरुक्त २।११), तथा "यस्य वाक्य स ऋषि" (ऋक्सर्वानुक्रमणी १।२।४)।
४. तु० "या त्वसौ वर्णानुपूर्वी सानित्या" (=मा अनित्या) (महाभाष्य ४।३।१०१)।

जाती है'। 'मन्त्रो को देखना' और 'मन्त्रो को बनाना' मे ऐसा ही मुहावरे का भेद-मात्र है। वस्तु-गत भेद न है, न हो ही सकता है।

मण्डलों का ऋषियों से सम्बन्ध और संहिता का क्रम

जैसा आगे चलकर विदित होगा, अन्य वैदिक सहिताओ से ऋग्वेद-सहिता के क्रम में विशेष अन्तर है। इस सहिता के क्रम की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें, याज्ञिक कर्मकाण्ड के किसी क्रम को ध्यान में न रख कर, केवल मन्त्र-द्रष्टा ऋषियो या ऋषि-वशो के आधार पर ही सूक्तो को सगृहीत किया गया है। इसीलिए इस सहिता के क्रम में जैसी ऐतिहासिक महत्ता है, वैसी अन्य सहिताओ के क्रम में नही।

पहले और दसवे मण्डलो मे सूक्त-सख्या (१९१) तो समान है ही, उनमे परस्पर यह भी समानता है कि उन दोनो में विभिन्न ऋषियो के सूक्तो के सग्रह सगृहीत हे। दूसरे मण्डल से सप्तम मण्डल तक प्रत्येक मण्डल का सम्बन्ध केवल एक ही ऋषि या उसके वश से है। क्रम से उन ऋषियो के नाम है—गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ। अष्टम मण्डल का सम्वन्ध **प्राधान्येन** कण्व ऋषि के वश से है। इस मण्डल मे प्रगाथ नामक विशेष छन्द की वहुलता है, इसलिए इसके ऋपियो को 'प्रगाथ' भी कहा जाता है। नवम मण्डल की विशेषता यह है कि उसके लगभग सव सूक्तो का देवता **पवमान सोम** है। ऋषि तो मण्डल २–७ के ऋषियो में से ही है।[1]

ऋग्वेद-सहिता के अवान्तर क्रम का यह **ऐतिहासिक** आधार अपना विशेप महत्त्व रखता है। इससे जहाँ एक ओर सहिता के मन्त्रो और सूक्तो का घनिष्ठ सम्वन्ध विशिष्ट ऋषियो या उनके वशो से स्पष्ट है, वहाँ दूसरी ओर उनका, याज्ञिक कर्मकाण्ड से निरपेक्ष, मौलिक स्वरूप भी वहुत-कुछ प्रतीत हो जाता है।

ऋग्वेद-संहिता का विषय

विभिन्न दृष्टियो मे वेद के प्रतिपाद्य विषयो का विचार हम आगे करेंगे, तो भी ऋग्वेद-सहिता का क्या विषय है, इसको सामान्य रूप से यहाँ वतला देना आवश्यक है।

ऋग्वेद का अर्थ है—ऋचाओ का वेद। अन्य वेदो मे भी ऋचाएँ सम्मिलित हैं। पर ऋग्वेद मे केवल ऋचाओ का ही सग्रह है। ऋचा से स्तुति की जाती है, जिनकी स्तुति की जाती है, उनको 'देवता' कहते है, यह हम ऊपर कह चुके

---

१. देखिए—"**अथ ऋषय। शर्तचिनो माध्यमा गृत्समदो विश्वामित्रो वामदेवोऽत्रिर्भरद्वाजो वसिष्ठ प्रगाथा. पावमान्य. क्षुद्रसूक्ता महासूक्ता इति।**" (आश्वलायनगृह्यसूत्र ३।४।२)।

है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि इस सहिता मे केवल देवताओ की स्तुतियाँ है।

वैदिक देवता क्रमश पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक से सबध रखने के कारण तीन प्रकार के माने जाते है। अग्नि, सोम, पृथिवी आदि **पृथिवी-स्थानीय** कहलाते है, इन्द्र, रुद्र, वायु आदि **अन्तरिक्ष-स्थानीय,** और वरुण, मित्र, उषस्, सूर्य आदि **द्युस्थानीय**।

ऋग्वेद मे लगभग २५० सूक्तो में इन्द्र की, लगभग २०० मे अग्नि की, और १०० से अधिक सूक्तो मे सोम की स्तुति की गयी है। यम, मित्र, वरुण, रुद्र, विष्णु आदि देवताओ के भी सूक्त है, पर उनकी सख्या इन्द्र, अग्नि और सोम के सूक्तो की सख्या के बराबर नही है।

वैदिक देवतावाद का विचार हम आगे करेंगे।

एक प्रकार से अपना व्यक्तित्व रखने वाले इन्द्र, अग्नि आदि देवताओ के अतिरिक्त ऋग्वेद मे ऐसे भी देवता है, जिनका वैसा व्यक्तित्व नही माना जा सकता। उदाहरणार्थ, मन्यु, श्रद्धा आदि ऐसे ही देवता है। इसके अतिरिक्त, कुछ ऐसे भी मूक्त है, जिनमे सुन्दर तथा गम्भीर दार्शनिक विचार प्रकट किये गये है।

ऋग्वेद की विशेषता

ऋग्वेद के सबध मे यहाँ कुछ विस्तार से कहने का कारण यही है कि इसकी कई विशेषताएँ है। इस सहिता के अवान्तर-क्रम के ऐतिहासिक महत्त्व की वात हम ऊपर कह चुके है। इसीलिए वैदिक विचार-धारा के स्वरूप को समझने के लिए जितनी मौलिक तथा पुष्कल सामग्री ऋग्वेद मे मिल सकती है, उसकी दूसरी सहिताओ की सामग्री मे कोई तुलना ही नही की जा सकती। वास्तव मे वैदिक वाङ्मय का मूल ऋग्वेद ही है।[1] सारे वैदिक कर्म-काण्ड का मुख्य आश्रय भी ऋग्वेद ही है।

यजुर्वेद-संहिता

महाभाष्यकार पतञ्जलि के समय मे यजुर्वेद-सहिता १०१ शाखाओ मे पायी जाती थी[2]। अन्य ग्रन्थो में इन शाखाओ की सख्या, अपने-अपने समय के अनुसार, १०१ से कम या अधिक वतलायी गयी है। परन्तु आजकल केवल पाँच शाखाएँ या सहिताएँ मुद्रित रूप में उपलब्ध है।

---

१. तु० "**बह्वृचमिति त्वेव स्थितम्। एतत्परिचरणावितरौ वेदौ।**" (कौषीतकिब्राह्मण ६।११)

२. तु० "**एकशतमध्वर्युशाखाः**" (महाभाष्य, पस्पशाह्निक)।

चिरकाल से यजुर्वेद-संहिता के **शुक्ल** और **कृष्ण** नामो से दो भेद चले आ रहे हैं। उपर्युक्त शाखाओ का समावेश इन्ही दो भेदो मे माना जाता है। इस प्रकार कुछ शाखाओ का सम्बन्ध **शुक्ल-यजुर्वेद** से, और कुछ का **कृष्ण-यजुर्वेद** से रहा है। आजकल की मुद्रित पाँच शाखाओ में से तीन (**तैत्तिरीय, मैत्रायणी और कठ**) का सम्बन्ध कृष्ण-यजुर्वेद से, और दो (**माध्यन्दिन और काण्व**) का शुक्ल-यजुर्वेद से है।

उपर्युक्त दोनो (शुक्ल-यजुर्वेद और कृष्ण-यजुर्वेद) भेदो में वस्तु-गत दृष्टि से यही अन्तर है कि जहाँ शुक्ल-यजुर्वेद में केवल मन्त्र-भाग का सन्निवेश है, वहाँ कृष्ण-यजुर्वेद में मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भाग, दोनो मिले-जुले सन्निविष्ट है।

वेदो की पद्यात्मक (=ऋचाओ के रूप में) या गद्यात्मक रचनाओ को, जिनको प्राय याज्ञिक कर्मकाण्ड मे पढा जाता है, **मन्त्र** कहते है। **ब्राह्मण**, जैसा आगे विदित होगा, एक प्रकार से मन्त्र आदि पर व्याख्यात्मक रचना या ग्रन्थ को कहते हैं। इस प्रकार मन्त्र और ब्राह्मण के स्वरूपो मे मौलिक अन्तर है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्ही मन्त्र और ब्राह्मण के भागो के सम्मिश्रण के कारण यजुर्वेद के एक भेद को कृष्ण, और इस सम्मिश्रण से रहित होने के कारण दूसरे भेद को शुक्ल कहा जाने लगा। दोनो मे, कृष्ण-यजुर्वेद प्राचीन, और शुक्ल-यजुर्वेद नवीन समझा जाता है।

हमारे मत मे एक और कारण भी हो सकता है। कृष्ण-यजुर्वेद की शाखाओ का विस्तार प्रायेण दक्षिण-भारत मे, और शुक्ल-यजुर्वेद का उत्तर-भारत (या मनु के आर्यावर्त) मे है। स्वभावत कृष्ण-यजुर्वेद के साहित्य पर जितना प्रभाव वैदिकेतर विचार-धारा का है,[1] उतना शुक्ल-यजुर्वेदीय साहित्य पर नही हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण-यजुर्वेद की उक्त प्रवृत्ति के विरोध में 'शुद्ध' वैदिक धारा के पक्षपात या अभिनिवेश के कारण ही शुक्ल-यजुर्वेद का प्रारम्भ हुआ होगा, बहुत-कुछ उसी तरह, जिस तरह वर्तमान काल में समन्वयात्मक पौराणिक धर्म के विरोध मे आर्यसमाज का प्रारम्भ हुआ। 'शुद्ध' धारा के कारण ही कदाचित् 'शुक्ल' और 'कृष्ण' शब्दो का प्रचलन होने लगा।

शुक्ल-यजुर्वेद में, अन्य वैदिक संहिताओ के समान, केवल मन्त्र-भाग के ही सन्निविष्ट होने से, यहाँ हम उसका ही कुछ विशेष रूप से वर्णन करना चाहते

---

१ तु० "गिरिसुताय धीमहि। तन्नो गौरी प्रचोदयात्॥ तत्कुमाराय विद्महे, कार्तिकेयाय धीमहि। तन्न स्कन्दः प्रचोदयात्॥ (मैत्रायणी-संहिता २।९।१ तथा काठक-संहिता १७।११)। यहाँ कार्तिकेय, स्कन्द और गौरी, इन पौराणिक देवी-देवो का उल्लेख स्पष्टत वैदिकेतर धारा के प्रभाव का द्योतक है।

है। शुक्ल-यजुर्वेद मे भी, काण्वशाखीय सहिता की अपेक्षा माध्यन्दिन शाखा की यजुर्वेद-सहिता का कही अधिक प्रचार है। कहा तो यह जाता है कि माध्यन्दिन-शाखीय यजुर्वेद-सहिता का जितना प्रचार और विस्तार भारत में है, उतना किसी भी अन्य शाखा का नही है। इसलिए नीचे हम उसी के सम्बन्ध में कहेंगे।

माध्यन्दिन-शाखीय शुक्ल-यजुर्वेद की सहिता में ४० अध्याय और १९७५ कण्डिकाएँ (या मन्त्र) हैं। मन्त्रो की सख्या के विषय में मतभेद भी है। इस सहिता में गद्यात्मक मन्त्रो (=यजुस्) के साथ-साथ ऋचाएँ भी सम्मिलित हैं। सहिता का लगभग आधा भाग ऋचाओ का ही होगा। उन ऋचाओ में से ७०० से अधिक ऋग्वेद मे भी पायी जाती हैं।

यजुर्वेद-संहिता का क्रम और विषय

ऋग्वेद-सहिता के विपरीत, यजुर्वेद-सहिता का क्रम विशिष्ट याज्ञिक कर्मकाण्ड के क्रम को लक्ष्य मे रख कर ही निर्धारित किया गया है। उदाहरणार्थ, प्रथम अध्याय से द्वितीय अध्याय के २८ वे मन्त्र तक दर्श-पूर्णमास नामक यज्ञ का प्रसग है। इसी प्रकार अगले भागो मे पिण्डपितृयज्ञ, अग्निहोत्र, चातुर्मास्य आदि वैदिक यज्ञो से सम्बद्ध मन्त्रो का सग्रह है। केवल अन्त मे ४०वे अध्याय का सम्बन्ध कर्मकाण्ड से न होकर ज्ञानकाण्ड (उपनिषद्) से है।

यजुर्वेद का घनिष्ठ सम्बन्ध याज्ञिक प्रक्रिया से है, यह तो उसके नाम से ही स्पष्ट है। 'यजुस्' और 'यज्ञ' दोनो शब्द "यज देवपूजासगतिकरणदानेपु" इस धातु से निकले हैं। **निरुक्तकार यास्क** ने भी कहा है—**"यजुर्भिर्यजन्ति"** (१३।७) तथा **"यजुर्यजते."** (७।१२)।

यजुर्वेद-सहिता का याज्ञिक कर्मकाण्ड से घनिष्ठ सम्बन्ध है, यही सिद्धान्त यजर्वेद के **शतपथ** आदि ब्राह्मणग्रन्थो का तथा प्राचीन भाष्यकारो का है। याज्ञिक दृष्टि आज के जगत् को रुचिकर नही है, यह अनुभव करते हुए इधर आचार्य स्वामी दयानन्द ने, याजिक दृष्टि के बिना, स्वतन्त्र सामान्य दृष्टि से भी यजुर्वेद की व्याख्या करने का यत्न किया है।

सामवेद-संहिता

महाभाष्य मे सामवेद की एक सहस्र शाखाओ[1] का उल्लेख है। परन्तु आज कल **कौथुम, राणायनीय** और **जैमिनीय** केवल ये तीन शाखाएँ उपलब्ध हैं।

सामवेद की राणायनीय सहिता मे, जो सबसे अधिक प्रसिद्ध है, केवल १५४९ ऋचाएँ हैं। इनमे से केवल ७५ को छोड कर, शेष सब ऋग्वेद मे ली गयी हैं।

---

१. देखिए—**"सहस्रवर्त्मा सामवेद"** (महाभाष्य, पस्पशाह्निक)

सामवेद मे दो भाग हैं, **पूर्वार्चिक** और **उत्तरार्चिक**। पूर्वार्चिक के छह भाग हैं, जिनको **प्रपाठक** कहते हैं। उत्तरार्चिक में नौ प्रपाठक हैं।

यजुर्वेद-सहिता के समान, सामवेद-सहिता भी याज्ञिक कर्मकाण्ड की दृष्टि से ही सगृहीत की गयी है। सामवेद मे सगृहीत ऋचाएँ विशेषत सोम-याग मे गायी जाती थी। साम-गान की पुस्तको मे ये ही ऋचाएँ गान की दृष्टि से सजायी हुई रहती है। सहिता में तो वे ऋग्वेद के समान ही दी हुई हैं, केवल स्वर लिखने का प्रकार सामवेद का अपना है।

केवल साम-गान की दृष्टि से सगृहीत सामवेद का विशेषत अपना प्रतिपाद्य विपय कुछ नही है। ऋचाओ के द्वारा जो विभिन्न देवताओ की स्तुति होती है, वही उनका प्रतिपाद्य विपय कहा जा सकता है। पर ध्येय, उनका साम-गान ही है। सामगान की दृष्टि से एक विशिष्ट वेद की कल्पना हमारे पूर्वजो की उदात्त-भावनामयी मनोवृत्ति की ही द्योतक है। इसी वेद के लिए गीता मे भगवान् कृष्ण ने कहा है—**"वेदाना सामवेदोऽस्मि"** (गीता १०।२२)।

अथर्ववेद-संहिता

महाभाष्यकार के समय मे अथर्ववेद की नौ शाखाएँ पायी जाती थी।[1] पर आजकल दो ही शाखाएँ उपलब्ध है—**शौनक** और **पैप्पलाद**। दोनो मे से शौनक शाखा की सहिता ही अधिक प्रसिद्ध है।

अथर्ववेद की (शौनक-शाखीय) सहिता में २० काण्ड (भाग), ७३० सूक्त और लगभग ६००० मन्त्र हैं। उक्त मन्त्रो मे से कोई १२०० मन्त्र स्पष्टत ऋग्वेद-सहिता से ही लिये हुए प्रतीत होते है। उनमे कुछ पाठान्तर अवश्य है। अथर्ववेद का २० वाँ काण्ड तो, कुछ ही अश को छोड कर, पूरा-का-पूरा ऋग्वेद से ही उद्धृत है। १५ वाँ काण्ड और १६ वे काण्ड का बडा भाग ब्राह्मणो-जैसे गद्य मे है।

अथर्ववेद-संहिता का वैशिष्ट्य

कई दृष्टियो से अथर्ववेद-सहिता का अपना वशिष्ट्य है। इसकी मुख्य विशेपता यह है कि जहाँ उपर्युक्त तीनो सहिताओ का सम्बन्ध श्रौत (=वैदिक) यज्ञो मे है, वहाँ अथर्ववेद का (वीसवें काण्ड को छोड कर) सम्बन्ध प्रायेण गृह्य कर्मकाण्ड (जैसे जन्म, विवाह या मृत्यु से सबद्ध सस्कार आदि) या राजाओ के मूर्धाभिषेक-सम्बन्धी कर्मकाण्ड से है। वीसवे काण्ड मे अधिकतर इन्द्र देवता की स्तुति के सोमयागोपयोगी सूक्तो का ही सग्रह है।

---

१ देखिए—"नवधाथर्वणो वेद" (महाभाष्य, पस्पशाह्निक)।

अथर्ववेद को एक प्रकार से जादू-टोना-सदृश मन्त्रो का सग्रह समझा जाता है। इसीलिए अथर्ववेद के मन्त्रो का विनियोग अनेक रोगो तथा उत्पातो की शाति, शत्रु आदि के प्रतीकार, पौष्टिक कर्म और वशीकरण आदि मे किया जाता है। अनेकानेक ओषधियो से सम्बन्धित मत्र भी अथर्ववेद मे सगृहीत है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, सामनस्य, राजविद्या, अध्यात्मविद्या आदि महत्त्व-पूर्ण विषयो से सम्बन्धित अनेक सूक्त भी अथर्ववेद मे पाये जाते है। अथर्व-वेद का **पृथ्वी-सूक्त** (१२।१) अपने विषय की अद्वितीय रचना है।

यह कहा जा सकता है कि अन्य वैदिक सहिताओ की परम्परा मे मन्त्रो को प्रधानतया वैदिक (या श्रौत) **यज्ञो का अग** मान कर ही उनकी उपयोगिता समझी जाती है।[1] अथर्ववेद मे यह बात नही है।[2] यहाँ मन्त्र को बहुत ऊँचे स्तर पर रखा गया है। मन्त्र मे स्वय शक्ति है, दूसरे शब्दो मे, मन्त्र आत्मा में निहित शक्ति के उद्भावन की प्रधान कुजी है, और इसीलिए उसका प्रयोग-उपयोग, किसी वैदिक यज्ञ के आश्रय के बिना, स्वतन्त्र रूप से भी किया जा सकता है, यह मौलिक सिद्धान्त ही अथर्व-वेद की प्रमुख विशेषता है[3]। एक प्रकार से यदि बहु-द्रव्य-साध्य यज्ञो (=गीता के शब्दो मे 'द्रव्य-यज्ञो') से सम्बन्ध रखने वाले अन्य वेदो को केवल **संपन्न-वर्ग का वेद** कहा जाए, तो अथर्व-वेद को **जनता का वेद**[4] कहा जा सकता है।

(२)

ब्राह्मण-ग्रन्थ

वेदो के बाद वैदिक वाङमय मे ब्राह्मण-ग्रन्थो का स्थान है। हम ऊपर कह चुके है कि प्राचीन परिभाषा के अनुसार मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भाग, दोनो के

---

१. तु० **"मन्त्राश्च कर्मकरणा."** (आश्वलायन-श्रौतसूत्र १।१।२१), तथा **"आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्"** (मीमासासूत्र १।२।१)।

२. तु० **"अथर्ववेदस्तु यज्ञानुपयुक्त शान्तिपौष्टिकाभिचारादिकर्मप्रतिपादकत्वेनात्यन्तविलक्षण एव।"** (प्रस्थानभेद)।

३. तु० **"न तिथिर्न च नक्षत्र न ग्रहो न च चन्द्रमा। अथर्वमन्त्रसप्राप्त्या सर्वसिद्धिर्भविष्यति ॥"** (अथर्वपरिशिष्ट २।५)।

४. तु० **"सा निष्ठा या विद्या स्त्रीषु शूद्रेषु च। आथर्वणस्य वेदस्य शेष इत्युपदिशन्ति।"** (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।२९।११—१२)। इन सूत्रो पर टीका को भी देखिए।

लिए समान रूप से वेद शब्द का प्रयोग साहित्यिक परम्परा में चला आया है। इससे ब्राह्मण-ग्रन्थो का महत्त्व स्पष्ट है।

प्रत्येक वैदिक सहिता के साथ एक या अनेक ब्राह्मण-ग्रन्थो का घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है। इसी दृष्टि से ऋग्वेद के **ऐतरेय-ब्राह्मण** आदि, यजुर्वेद के **शतपथ-ब्राह्मण** आदि, सामवेद के **ताण्डय-महाब्राह्मण** आदि अनेक ब्राह्मण माने जाते है। अथर्ववेद का केवल एक ब्राह्मण **गोपथ** है।

उपर्युक्त सब ब्राह्मण बडे-बडे ग्रन्थ है। **शतपथ** तो बहुत बडा ग्रन्थ है। इसमे १०० अध्याय और १४ काण्ड है। अन्य ब्राह्मण छोटे-छोटे है।

ब्राह्मण-ग्रन्थो की एक विशेषता यह है कि वे गद्यात्मक है। इसलिए सस्कृत-भाषा की गद्यात्मक शैली के विकास के अध्ययन की दृष्टि से उनका अत्यन्त महत्त्व है।

दर्शपूर्णमास आदि वैदिक (श्रौत) यज्ञो की विधि, उनकी व्याख्या और प्रसगत अनेक वैदिक मन्त्रो की व्याख्या, यही ब्राह्मण-ग्रन्थो का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। वैदिक यज्ञो के स्वरूप आदि को समझने के लिए सब से अधिक प्रामाण्य इन्ही ग्रन्थो का है। इसीलिए याज्ञिक दृष्टि से वेद और ब्राह्मणो को एक ही कोटि मे रखा जाता है।

वर्तमान दर्शन-शास्त्रो के उदय से प्राचीनतर दार्शनिक विचार-धारा तथा ऊहापोह की शैली, विभिन्न विषयो पर नपे-तुले परिमार्जित विचार[1], शब्दो का निर्वचन, तथा यत्र-तत्र बिखरी हुई विविध ऐतिहासिक सामग्री—इनके लिए भी, गौण दृष्टि से, ब्राह्मण-ग्रन्थो का पर्याप्त महत्त्व है।

सक्षेप मे, वैदिक-धारा के स्वरूप और प्रवाह को ठीक-ठीक समझने के लिए ब्राह्मण-साहित्य का अध्ययन आवश्यक है।

(३)

वेदाङ्ग

शिक्षा, छन्दः, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, और कल्प, ये छह वेदाग कहलाते है।

शिक्षा मे अभिप्राय अ, क आदि वर्णो के ठीक-ठीक उच्चारण की विद्या से है। छन्द का विषय गायत्री आदि छन्दो की व्याख्या है। **व्याकरण** प्रसिद्ध है। निरुक्त को हम **निर्वचन-शास्त्र** या लगभग **भाषा-विज्ञान** कह सकते है।

१. इस विषय मे हमारे **ऐतरेयब्राह्मण-पर्यालोचन** तथा **ऐतरेयारण्यक-पर्यालोचन** ग्रन्थो को देखिए।

ज्योतिष से यहाँ अभिप्राय **खगोल-विद्या** से है। **कल्प** के श्रौतकर्मकाण्ड, गृह्य-कर्मकाण्ड तथा धर्मसूत्रो का विषय, ये तीन भेद है।

कालान्तर मे विभिन्न सस्कृतियो और विचारो के सपर्क और सघर्ष आदि के कारण वेदो की अध्ययनाध्यापन आदि की परंम्परा में कुछ-न-कुछ शैथिल्य आना स्वाभाविक था। इसीलिए भारतवर्ष के परिवर्तित वातावरण में वेदो के उच्चारण की रक्षा, वेदो के अध्ययन की सुविधा और वैदिक आचार-विचार तथा कर्म-काण्ड की परम्परा की सुरक्षा की दृष्टि से ही उक्त छह वेदागो (=वेद की सहायक विद्याओ) का प्रारम्भ और अद्वितीय विकास प्राचीन काल में ही हो गया था।

ऊपर के छहो नाम वास्तव में विद्या-(अथवा विषय-) परक है, ग्रन्थ-परक नही। तो भी, आजकल प्रत्येक वेदाग से कुछ निश्चित ग्रन्थ ही समझे जाते है, जैसे, शिक्षा से **पाणिनि मुनि की शिक्षा** (यद्यपि वह पाणिनि की बनायी हुई नही है), छन्द से **पिगल-कृत छन्द सूत्र** (इसमें वैदिक और लौकिक सस्कृत के भी छन्दो की व्याख्या है), व्याकरण से **पाणिनि-मुनि-कृत अष्टाध्यायी** (इसमें भी लौकिक सस्कृत तथा वैदिक भाषा, दोनो का व्याकरण दिया है), निरुक्त से **यास्क-मुनि-कृत निरुक्त**, ज्योतिष से **लगध आचार्य का वेदाङ्ग-ज्योतिष**, और कल्प से विभिन्न वेदो और वैदिक शाखाओ से सबद्ध (१) गृह्यसूत्र, (२) श्रौत-सूत्र, और (३) धर्म-सूत्र।

वेदागो की परम्परा में धीरे-धीरे **छन्दः, व्याकरण, ज्योतिष** और **कल्पसूत्रान्तर्गत धर्मसूत्रों** के विषयो ने सामान्य विद्याओ का रूप धारण कर लिया और इस रूप में ये विषय बराबर उन्नति करते रहे। इसी प्रकार अन्य अनेक भारतीय विद्याओ के विकास में वैदिक परम्परा का साक्षात् या असाक्षात् रूप में हाथ रहा है।

उपर्युक्त वेदागो के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थो में प्राय सब के निर्माण का समय ईसवी सन् से कुछ शताब्दियो पहले का है। हम भारतीयो के लिए यह साधारण गर्व की बात नही है। व्याकरण के विषय में तो भारत ने उन्नति की वह सीमा प्राप्त की थी, जहाँ तक ससार अभी तक नही पहुँच सका है।

(४)

वैदिक परिशिष्ट

वेदागो के अतिरिक्त वेदो के पाठ, तथा उनके ऋषि, छन्द, देवता आदि की अनुक्रमणियो आदि के सम्बन्ध में लिखे हुए सैकडो फुटकल छोटे-बडे ग्रन्थो का परिगणन वैदिक परिशिष्टो में किया जाता है।

वेदो की भिन्न-भिन्न शाखा वालो ने अपनी-अपनी सहिता को सुरक्षित रखने की दृष्टि से अनेकानेक उपायो का अवलम्बन किया था। सहिताओ में पदो की सन्धि को तोड कर उनके **पद-पाठ** आदि अनेक प्रकार के पाठ तैयार किये गये। सहिताओ की अनेक प्रकार की सूचियाँ या अनुक्रमणियाँ बनायी गयी। उनके पदो तक की सख्या की गयी। स और श या ष के भेद पर तथा ब और व के भेद पर और इसी प्रकार की अन्य छोटी-से-छोटी बातो को लेकर पुस्तके लिखी गयी। अभिप्राय था अपनी-अपनी सहिता की रक्षा।

ऐसे ग्रन्थो मे ऋग्वेद से सम्बन्ध रखने वाली **शौनक** आचार्य की **बृहद्देवता** (लगभग ई० पू० ५०० की) तथा **कात्यायन** की **ऋक्सर्वानुक्रमणी** (ई० पू० ४५० के लगभग) अति प्रसिद्ध है।

सैकडो की सख्या में उपलब्ध इन परिशिष्टात्मक ग्रन्थो से भारतीय वाङ्मय की परम्परा मे वेदो का अद्वितीय महत्त्व और वैदिक धारा के अनुयायियो में वेदो के प्रति अगाध श्रद्धा का अस्तित्व ही प्रकट होते है।

छठा परिच्छेद

वैदिक धारा की दार्शनिक भूमिका

पिछले परिच्छेद में हमने वैदिक धारा की साहित्यिक भूमिका के रूप में वैदिक वाङ्मय की रूपरेखा को दिखाया है। वैदिक धारा के स्वरूप तथा विकास आदि को दिखाने से पहले, उनको ठीक-ठीक समझने के लिए, यह आवश्यक है कि वैदिक धारा की दार्शनिक भूमिका को भी दिखा दिया जाए।

उक्त रूपरेखा से प्रतीत हो गया होगा कि वैदिक धारा का इतिहास लम्बा ही नही है, उसके क्रमिक विकास में शनै-शनै अनेक प्रकार के परिवर्तन भी होते रहे हैं। इन परिवर्तनो के कारण ही अन्त में एक ऐसी स्थिति आयी, जिसमे उसका अपना मौलिक वेग बहुत मन्द होने लगा और इसकी आवश्यकता हुई कि उसके वेग को आगे बढाने के लिए उसके साथ किसी नयी धारा का सगम हो।

उक्त परिवर्तन और विकास का प्रभाव उसकी मौलिक दार्शनिक दृष्टि पर भी पडना स्वाभाविक था। वास्तव में परिस्थिति और दार्शनिक दृष्टि का कुछ ऐसा अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है कि दोनो का एक-दूसरे पर प्रभाव पडे विना नही रह सकता। सृष्टि की परम्परा में बीज और वृक्ष में कौन पहले है, यह कहना कठिन है। इसी तरह परिस्थिति और दार्शनिक दृष्टि में कौन पहले है, यह कहना प्राय कठिन होता है।

वैदिक धारा की क्रमश बदलती हुई परिस्थिति में उसकी दार्शनिक दृष्टि भी समष्टि रूप मे बराबर एक-सी नही रह सकती थी। इसलिए इस परिच्छेद में जिस दार्शनिक भूमिका को हम दिखाना चाहते हैं, उससे हमारा अभिप्राय प्रायेण वैदिक धारा की उस दार्शनिक दृष्टि से है, जिसको लेकर वह मूल में आगे बढ़ी थी।

अगले परिच्छेद में हम वैदिक धारा के इतिहास में क्रमशः **आने वाली तीन अवस्थाओं** का वर्णन करेंगे। उनमे से प्रायेण प्रथम अवस्था की ही जो दार्शनिक दृष्टि कही जा सकती है, उसीको यहाँ हम दिखाना चाहते है। वास्तव मे उसी को '**वैदिक धारा की दार्शनिक भूमिका**' कहा जा सकता है। सबसे पहले हम देवतावाद पर विचार करेंगे।

देवतावाद

मानव-जाति के इतिहास मे सदा से देवता-वाद का विशिष्ट स्थान रहता आया है। मूल मे देवतावाद, एक प्रकार से, मनुष्य के आदर्शवाद का ही नामान्तर या रूपान्तर है[1]। बलवती प्राकृतिक शक्तियो और घटनाओ के सामने अपने को दुर्बल और बेबस पा कर क्षणभगुर जीवन वाला मानव अपने सामने ऐसे आदर्शो को खडा करता है, जिनसे वह समय-समय पर अपन जीवन मे सान्त्वना, प्रेरणा तथा शान्ति प्राप्त कर सके। वैदिक साहित्य के प्रमुख ग्रन्थ **निरुक्त**[2] में, मनुष्य की कामना (या आदर्श) के आधार पर, जो देवता की परिभाषा की गयी है, उससे भी यही ध्वनि निकलती है।

इसीलिए प्रत्येक जाति के देवता या देवताओ के स्वरूप मे उसके अपने आदर्शों की अनुरूपता स्पष्टतया प्रतिबिम्बित होती है। इसलिए क्रूर कर्मो में निरत जाति के देवताओ में क्रूरता-प्रधान गुण और सौम्य जाति के देवताओ मे दया, प्रेम-जैसे सौम्य गुण देखे जाते हैं। वास्तव मे, किसी भी जाति के स्वरूप और स्वभाव का बहुत कुछ चित्रण उसके देवताओ के स्वरूप और स्वभाव के अध्ययन से किया जा सकता है।

देवताओ के सम्बन्ध मे यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि उनका प्राय घनिष्ठ सम्बन्ध तत्तज्जाति की अपनी प्राकृतिक परिस्थिति से भी हुआ करता है। उदाहरणार्थ, शीतप्रधान देश में ही अग्नि में देवतात्व की भावना का उदय होना समझ मे आ सकता है[3]। ऐसा होने पर भी, प्रत्येक देवता का (अग्नि-देवता का प्राकृतिक अग्नि के समान) प्राकृतिक या भौतिक आधार अवश्य ही हो, ऐसा नही है। कम-से-कम, अनेकानेक देवताओ के विषय में उस आधार को दिखाना बहुत कठिन होता है।

---

१. तु० "संस्कृतेस् तारतम्य य आदर्शा दर्शयन्ति नः। त एव देवतारूपा दृश्यन्ते भावमलका ॥" (रश्मिमाला २८।४)

२ तु० "यत्काम ऋषिर्यस्या देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।" (निरुक्त ७।१)

३ तु० "अग्निर्हिमस्य भेषजम्" (यजु० २३।१०)।

वैदिक देवतावाद

वैदिक देवताओ के विषय में सबसे पहली बात यही है कि उनमे बहुतो का प्राकृतिक आधार प्राय स्पष्ट है। उदाहरणार्थ, अग्नि, वायु, आप (जल), आदित्य, उषस् आदि वैदिक देवताओ के वर्णनो से (तथा नामो से भी) स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ भौतिक अग्नि आदि को ही ऊपर उठा कर देवतात्व के आसन पर बिठाया गया है। अश्विन् (या अश्विनौ), वरुण आदि कुछ वैदिक देवताओ के वर्णन मे इस दृष्टि से अस्पष्टता रहने से, उनके भौतिक या प्राकृतिक आधार के विषय मे सदेह अवश्य रह जाता है। पर **अधिकतर** वैदिक देवताओ के स्वरूप को देखते हुए, इसमे सन्देह नही रहता कि मूल मे इनका भी कोई निश्चित भौतिक आधार अवश्य रहा होगा। वेद-मन्त्रो तथा अन्य वैदिक साहित्य के सूक्ष्म विवेचनात्मक अध्ययन से तथा तुलनात्मक देवता-विज्ञान आदि की सहायता से इसका ठीक-ठीक पता अवश्य लगाया जा सकता है।

इस प्रकार मूल मे प्राकृतिक आधार रखने वाले प्रधान वैदिक देवताओ की न केवल सख्या का[1] ही उल्लेख मिलता है, उनका कर्मभेद तथा स्थानभेद से वर्गीकरण भी **निरुक्त**-जेसे प्रामाणिक ग्रन्थो मे किया गया है[2]।

यही नही, उनके मूल मे प्राकृतिक आधार होने पर भी **स्तोता की तन्मयता के आवेग के कारण**, उन-उन देवताओ मे, उनके पृथग्व्यक्तित्व की पराकाष्ठा के द्योतक, **पुरुष-विधत्व**[3] का आरोप भी य मन्त्रो मे देखा जाता है। देवताओ के हाथ, पैर आदि अगो के साथ[4] उनके वाहन[5], यहाँ तक कि उनकी पत्नियो[6]

---

१ तु० **"ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ। अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ।।"** (ऋग्० १।१३९।११) यहाँ देवताओ की संख्या ३३ दी है।

२. तु० **"तिस्र एव देवता इति नैरुक्ता। अग्नि. पृथिवीस्थान। वायुर्वा इन्द्रो वान्तरिक्षस्थान.। सूर्यो द्युस्थान। तासा माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा कर्मपृथक्त्वात्। अपि वा पृथगेव स्यु। पृथग्हि स्तुतयो भवन्ति। तथाभिधानानि।"** (निरुक्त ७।५)।

३. तु० **"अथाकारचिन्तनं देवतानाम्। पुरुषविधाः स्युरित्येकम्।"** (निरुक्त ७।६)।

४-६. तु० **"ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू"** (ऋग्० ६।४७।८)। **"आ द्वाभ्या हरिभ्यामिन्द्र याहि"** (ऋग्० २।१८।४)। **"कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते"** (ऋग्० ३।५३।६)

का भी वर्णन मन्त्रो मे देखा जाता है। विभिन्न देवताओ के मन्त्रो मे विभिन्न प्रकार की स्तुतियो से उनके पारस्परिक पृथक्त्व की भावना और भी पुष्ट हो जाती है।

इस प्रकार वैदिक मन्त्रो में बहु-देवता-वाद स्पष्ट दिखायी देता है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि क्या यह देवताओ की अनेकता वास्तविक है? क्या उसके पीछे रहने वाली किसी मौलिक एकता का भान उस समय नही था? इसका उत्तर यही है कि व्यावहारिक दृष्टि से यह ठीक है कि वैदिक देवता अपनी-अपनी स्वतन्त्र या पृथक् सत्ता के साथ माने जाते थे। विभिन्न प्राकृतिक कार्यों का सचालन करने वाली इन दैवी शक्तियो की प्रात्यक्षिक पृथक् सत्ता किससे छिपी है? तो भी, वैदिक मन्त्रो के गम्भीर अध्ययन से विभिन्न-स्थानीय और विभिन्न कर्म करने वाले देवताओ मे अनुस्यत जो एक-सूत्रता दिखायी देती है, उसके आधार पर यह मानना पडता है कि उनका मूलरूप अध्यात्म है, जिसकी कार्मिक दृष्टि से विभिन्न प्रतीति को ही तत्तद्देवता का नाम दिया गया था।

वैदिक देवता परस्पर केवल अविरोध भाव से ही नही, अपितु परस्परोन्नायक भाव से भी कार्य करते हुए, चराचर जगत् के नैतिक (या आभ्यन्तर) तथा भौतिक (या वाह्य) शाश्वत नियमो के अनुसार 'सत्य' और 'ऋत' का पालन करते हुए ही अपना-अपना कार्य करते है। **"देवा भागं यथा पूर्वे सजानाना उपासते"** (ऋग्० १०।१६१।२) (अर्थात्, दैवी शक्तियाँ परस्परोन्नायक या सामञ्जस्य के भाव से ही अपने-अपने कर्तव्य का पालन करती हैं), **"सत्यमेव देवा"**, **"ऋतज्ञा"**[1] इत्यादि वैदिक वचनो का यही अभिप्राय है।

वैदिक देवताओ की इस मौलिक आध्यात्मिक एकता[2] का वर्णन वेदो मे ही

> **इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान्।**
> **एक सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः॥** (ऋग्० १।१६४।४६)
> **तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा।**
> **तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आप. स प्रजापति॥** (यजु० ३२।१)

(अर्थात्, तत्त्व-दर्शी लोगो की दृष्टि में इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा,

---

१ "सत्यमेव देवा. एतद्ध वै देवा व्रत चरन्ति यत्सत्यम्" (शतपथब्राह्मण १।१।१।४-५)। "ये देवाना अमृता ऋतज्ञा:" (ऋग्० ७।३५।१५)। "ऋतधीतय .सत्यधर्माण." (ऋग्० ५।५१।२)।

२ निरुक्त मे इसी सिद्वात का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है: "माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति।...प्रकृतिसार्वनाम्याच्च।" (निरुक्त ७।४)।

वैदिक स्तोता का स्वरूप

उपर्युक्त कल्याणोन्मुखता आदि स्वभाव वाले देवताओ मे आस्था रखने वाले वैदिक स्तोता का स्वभाव और चरित्र भी उन देवताओ के अनुरूप ही होना चाहिए।

"सत्यमेव देवाः, अनृतं मनुष्याः" (शतपथ-ब्राह्मण १।१।१।४) (अर्थात्, स्वभाव से ही देवता सत्याचरण वाले और मनुष्य अनृताचरण वाले होते हैं) इस वैदिक उक्ति के अनुसार वह अपनी मानव-स्वभाव-सुलभ त्रुटियो और दुर्बलताओ को अच्छी तरह समझता है। तो भी उसको दैवी उदात्त आदर्शो में विश्वास और आस्था है, और इसीलिए वह उन आदर्शों के प्रतिमूर्ति-रूप देवताओ के अनुरूप ही अपने को बनाना चाहता है। उसका पहला व्रत-ग्रहण यही है—

"अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयम्...
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥" (यजु० १।५)

अर्थात्, हे व्रतो के पति अग्नि देवता! मैं अनृत को छोड कर सत्य को प्राप्त करना चाहता हूँ। तुम्हारे अनुग्रह से मैं इसको पूरा कर सकू, यही मेरा व्रत है।

वह मगलमयी आशामयी उदात्त भावनाओ का केन्द्र है। वह अपने चारो ओर, न केवल अपने देश या जाति मे, न केवल इस पृथिवी पर, अपितु समस्त विश्व मे सुख, शान्ति, सौमनस्य, सौहार्द और प्रकाश का साम्राज्य चाहता है। उसका दृष्टिकोण अत्यन्त विशाल है[1]।

वैदिक उदात्त भावनाओ का वर्णन हम एक स्वतन्त्र परिच्छेद मे करेंगे।

वह अन्धकार (=अज्ञान) से प्रकाश (=ज्ञान) की ओर जाने को उत्सुक है[2]।

वह जीवन की वास्तविक परिस्थिति को खूब समझता है, पर उससे घबडाता नही है। उसकी हार्दिक इच्छा यही रहती है कि वह उसका वीरता-पूर्वक सामना करे। वह ससार में परिस्थितियो का स्वामी, न कि दास, होकर जीवन व्यतीत करना चाहता है[3]।

---

१. तु० "विश्वदानीं सुमनस. स्याम" (ऋग्० ६।५२।५)। "यत्रानन्दाश्च मोदाश्च. तत्र मामसृतं कृधि" (ऋग्० ९।११३।११)। "पुमान् पुमांस परि पातु विश्वतः" (ऋग्० ६।७५।१४)। "अग्ने ..मा सुचरिते भज" (यजु० ४।२८)।

२. तु० "उद्वयं तमसस्परि. अगन्म ज्योतिरुत्तमम्" (यजु० २०।२१)।

३. तु० "अहमिन्द्रो न परा जिग्ये" (ऋग्० १०।४८।५)। "अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्" (अथर्व० १२।१।५४)। "मह्य नमन्ता प्रदिशश्चतस्र" (ऋग्० १०।१२८।१)। "अहमस्मि सपत्नहा" (ऋग्० १०।१६६।२)। इत्यादि।

उपर्युक्त कारणो से जीवन उसके लिए भारभूत या दु खमय न होकर, उत्तरोत्तर उन्नति करने के लिए एक महान् साधन है[१]।

वह जीवन मे ही स्वत एक अनोखा उल्लास और [उत्साह] अनुभव करता है, जो केवल निर्दोष बाल्यभाव से युक्त हृदय ही अनुभव कर सकता है।[२]

उपर्युक्त भावनाओ से ही प्रेरित होकर, वह अपने देवताओ की स्तुति और प्रार्थना करता है। उस स्तुति में दास्य-भाव नही होता। वास्तव में दास्य-भाव से वह परिचित ही नही है। **"न त्वेवार्यस्य दासभावः"** (अर्थात्, आर्यत्व और दास्य, दोनो एक साथ नही रह सकते), यह एक प्राचीन उक्ति है। उसका अपने उपास्य देवताओ के साथ सख्य-भाव या ऐसा ही प्रेम-मूलक भाव होता है।[३]

किसी भी दार्शनिक दृष्टि का आन्तरिक स्वरूप **जीवन की दृष्टि और चरम लक्ष्य** में प्रतिबिम्बित या पर्यवसित होना चाहिए। इसलिए वैदिक धारा की दार्शनिक भूमिका के स्वरूप और प्रेरणा को ठीक-ठीक समझने के लिए वैदिक जीवन की दृष्टि और चरम लक्ष्य पर विचार करना आवश्यक है। इसलिए इन दोनो प्रश्नो पर और उनसे सम्बद्ध **'सृष्टि का प्रयोजन'**, इस प्रश्न पर भी यहाँ हम विचार करेंगे।

वैदिक जीवन की दृष्टि और चरम लक्ष्य

दार्शनिक दृष्टिकोण से वैदिक जीवन की दृष्टि और चरम लक्ष्य को जैसा हम समझ सके है, वह जीवन और उसके लक्ष्य के विषय मे हमारी सहस्रो वर्षों की परम्परा से प्राप्त दृष्टि से मौलिक रूप में भिन्न है। इसलिए उसके अपने स्वरूप को दिखाने से पहले परम्परागत दृष्टि को सक्षेप में दिखा देना आवश्यक है।

जैसा हम पहले परिच्छेद में सकेत कर चुके है, जीवन के विषय मे हमारी **परम्परागत दृष्टि** (=ससार और जीवन दु खमय है। अतएव हेय है। इससे मोक्ष या छुटकारा पाना ही हमारा ध्येय होना चाहिए) का मौलिक आधार हमें बहुत कुछ प्राग्वैदिक या प्राचीनतर वैदिकेतर सस्कृति या सस्कृतियो मे ही दिखायी देता है। इस विषय में परम्परागत दृष्टि, **वैदिक दृष्टि** (=ससार और जीवन का उद्देश्य हमारा उत्तरोत्तर विकास है। उत्तरोत्तर विकास का ही नाम अमृतत्व है। यही नि श्रेयस है) से, जैसा हम नीचे दिखाएँगे, इतनी

---

१ तु० "जीवा ज्योतिरशीमहि" (साम० पू० ३।७।७)।

२ तु० "भवेम शरद शतम् भूयेम शरद. शतम्" (अथर्व० १९।६७।६-७)।

३ तु० "देवाना सख्यमुप सेदिमा वयम्" (ऋग्० १।८९।२)। "स नः पितेव सूनवे" (ऋग्० १।१।९)।

भिन्न है कि परम्परागत दृष्टि की जड को प्राग्वैदिक धारा तक ले जाए विना हम उसके उद्गम और विकास को समझ ही नही सकते। दोनो मे बहुत-कुछ वैसा ही अन्तर है, जैसा कि साधारणतया जीवन के विषय मे एक जरा-जीर्ण बूढे मनुष्य और एक प्रफुल्ल-चित्त शक्तिशाली तथा सच्चरित्र नवयुवक की दृष्टियो मे पाया जाता है।

उक्त परम्परागत दृष्टि का मौलिक आधार जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि इधर सहस्रो वर्षों से भारतवर्ष के वातावरण मे वह व्याप्त रही है। हमारे सारे दर्शन (वैदिक और वैदिकेतर कहे जाने वाले) तथा पुराण, धर्म-शास्त्र आदि का सारा साहित्य उसी दृष्टि को लेकर चलता है और उसी को पुष्ट करना चाहता है।

यहाँ हम विषय-विस्तार के भय से अन्य पुराणादि के साहित्य को न लेकर, केवल दर्शनो से ही इस विषय पर कुछ प्रकाश डालना चाहते है।

यह मानी हुई बात है कि हमारे सारे दर्शनो का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यही है कि मनुष्यो को सासारिक जीवन के दु खो से छुटकारे का वास्तविक मार्ग दिखाया जाए। इसके लिए वे सब अपने-अपने दृष्टिकोण से सासारिक जीवन को दु खमय, और इसीलिए **'बन्ध'** कहते है, और उससे छटने को **'मुक्ति'**, **'मोक्ष'**, **'अपवर्ग'**, या **'निर्वाण'**–जैसे शब्दो द्वारा व्यक्त करते है। प्राय सब, किसी-न-किसी रूप मे, **हेय** (=त्यागने के योग्य, अर्थात् दु ख), **हेयहेतु** (=अविद्या आदि कारण, जिनसे दु ख उत्पन्न होता है), **हान** (=दु ख का मुक्ति के रूप में नाश) और **हानोपाय** (=दु ख से मुक्ति पाने के तत्त्वज्ञान आदि उपाय), इन चार पदार्थों का मुख्यतया प्रतिपादन करते है[1]।

उदाहरणार्थ, **गौतम-न्यायसूत्र** में कहा है ·

"दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः। बाधना-लक्षणं दुःखम्। तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। विविधबाधनायोगाद् दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः।" (न्यायसूत्र १।१।२,२१–२२। तथा ४।१।५५)।

अर्थात्, दु ख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान, -इनमें से उत्तरोत्तर (मिथ्याज्ञान आदि) के अपाय से उनके अनन्तर (दोप आदि) का अभाव हो जाता है, और इस प्रकार **अपवर्ग** अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। दु ख के

---

१. तु० **"हेय दुःखमनागतम्। तस्य हेतुरविद्या। तदभावात् सयोगाभावो हानम् .। विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय.।"** (योगसूत्र २।१६,२४-२६)। **"हेयं, तस्य निर्वर्तकं, हानमात्यन्तिकं, तस्योपायोऽधिगन्तव्य इत्येतानि चत्वार्यर्थपदानि सम्यग् बुद्ध्वा निःश्रेयसमधिगच्छति।"** (न्यायसूत्र-वात्स्यायनभाष्य १।१।१)

अत्यन्त अभाव को ही **अपवर्ग** कहते हैं। अनेक-संकटाकीर्ण होने से जन्म को भी दुःख-स्वरूप ही मानना चाहिए।

इसी प्रकार **कापिल-साख्यसूत्र** का कहना है
"अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। ज्ञानान्मुक्तिः। बन्धो विपर्ययात्।" (साख्यसूत्र १।१ । तथा ३।२३–२४)।

अर्थात्, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक, इन तीनो प्रकार के दुःखो की अत्यन्त निवृत्ति ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। तत्त्व-ज्ञान से **'मुक्ति'** होती है और 'वन्ध' का कारण मिथ्याज्ञान है।

इसी प्रकार हेय, हेय-हेतु, हान तथा हानोपाय की व्याख्या के साथ-साथ **पातञ्जल-योगसूत्र** का कहना है **"दुःखमेव सर्वं विवेकिनः"** (योगसूत्र २।१५)।

अर्थात् विवेकी मनुष्य की दृष्टि मे यह सारा ससार दुःख-रूप ही है।

बौद्ध-दर्शन में भी **"सर्वं दुःखम्"** (=ससार में सब-कुछ दुःखमय है), ऐसी भावना पर वडा वल दिया गया है। जीवन के चरम-लक्ष्य-भूत मोक्ष के लिए उनका पारिभाषिक शब्द **'निर्वाण'** (=दीपक की लौ की तरह बुझ जाना) है, जिसमें स्पष्टतः अभावात्मक अर्थ की प्रधानता है।

इसी प्रकार **वेदान्त-दर्शन, जैन-दर्शन** आदि मे भी वन्ध, दुःख और मोक्ष का सिद्धान्त किसी-न-किसी रूप मे माना गया है।

उक्त दार्शनिक विचार-धारा का **जीवन की दृष्टि और उसके चरम लक्ष्य** के सम्वन्ध मे क्या अर्थ निकलता है, इस पर किञ्चित् विचार करने की आवश्यकता है।

सवसे मुख्य वात यही है कि उक्त दार्शनिक विचारधारा की दृष्टि से हमें मानना पडता है कि

(१) यह ससार, चाहे वह किसी ईश्वर का वनाया हुआ है, या हमारे अदृष्ट (=पुण्य तथा अपुण्य) के कारण या अन्यथा अपने रूप मे आया है, निश्चित रूप से हमारे कर्मों के फलो को भोगने का स्थान है;

(२) हमे उन फलो को भोगने के लिए किसी अदृष्ट शक्ति द्वारा वरवस इसमे डाला गया है,

(३) अतएव यह हमारे लिए वन्ध, दूसरे शब्दो मे, कारागृह या जेल के रूप मे है।

इसीलिए यह ससार, चाहे प्रकृति ने इसे कितना ही सुन्दर क्यो न वनाया हो, हमारे लिए केवल दुःखमय है। स्वभावतः कोई भी कैदी जेल के अन्दर के शोभा-सौन्दर्य मे कोई रुचि नही रख सकता। उसका मन तो सदा अपनी

मुक्ति की प्रतीक्षा में ही व्यग्र रहता है। इसी तरह हमारा प्रथम कर्तव्य हो जाता है कि किसी-न-किसी प्रकार से इस दु खमय ससार के **बन्धन से मुक्ति** की प्राप्ति की जाए।

इस विचारधारा के अनुसार **सृष्टि का प्रयोजन** केवल यही रह जाता है कि वह हमारे लिए एक जेल का काम कर सके। ऐसी अवस्था में हमारे दु खमय **जीवन का चरम लक्ष्य** भी केवल निषेधात्मक या अभावात्मक **मोक्ष या छुटकारा-मात्र** रह जाता है।

इस प्रकार की **जेल की मनोवृत्ति** में आशावाद, उल्लास और उदात्त नतिक भावनाओ के स्थान मे केवल निराशावाद, अवसाद और नैतिक अध पतन का ही प्रसार हो सकता है। ऐसे वातावरण में जीवन का नीरस और भाररूप हो जाना स्वाभाविक है।

इस विचार-धारा का हमारे पुराणादि के साहित्य पर कैसा प्रभाव पडा है, उसके कुछ नमूने हम नीचे उद्धृत करते हैं।

ससार या मृत्यु-लोक के विषय मे कोई कह रहा है--

मृत्युलोके महादुःखं कथयामि ततः शृणु।

संसारः स्वप्नमात्रश्च चलाः प्राणा धनं तथा।
सुख तत्र न पश्यामि दु.ख तत्र दिने दिने॥
इन्द्रजालमय दृष्ट्वा ससार...
अभ्रमध्ये च पश्यन्ति चञ्चलां विद्युतां गतिम्।
क्षण दृष्ट्वा च नश्यन्ति तथा ससारिणो जनाः॥
जले च बुद्बुदो यद्वत्तद्वत्ससारिणो जनाः।....

अर्थात्, मृत्युलोक में महादु ख है। ससार एक स्वप्नमात्र है। प्राण, धनादि अस्थायी है। उसमें सुख नाममात्र को नही है, दु ख प्रतिदिन रहता है। ससार इन्द्रजालमय या धोखे की चीज़ है। बादलो में चञ्चल विद्युत् अथवा पानी मे बुलबुल के समान ही मनुष्यो का जीवन है। इत्यादि।

इसी प्रकार के ससार को हेय, असार और मिथ्या तथा जीवन को क्षण-भगुर और दु खमय बताने वाले विचार हमारे पुराणादि में तथा सस्कृतेतर प्रान्तीय भाषाओ के साहित्य में भी भरे पडे है। भारतवर्ष की जनता पर और विशेष कर हमारे पारिवारिक आदि जीवन पर उनका जैसा निराशामय प्रभाव रहा है और अब तक है, वह किससे छिपा है ?

उपर्युक्त विचार-धारा की तुलना में अब हमें वैदिक विचार-धारा को देखना चाहिए।

वैदिक विचार-धारा के अनुसार हमारा जीवन, एक कैदी का-सा दु खमय निराशामय जीवन न होकर, हमारे उत्तरोत्तर विकास की एक आशामय अवस्था विशेष है। जैसे अपनी बुद्धि और ज्ञान के उत्तरोत्तर विकास के लिए उत्सुक छात्र उत्साह और उमग के साथ एक श्रेणि से दूसरी मे, दूसरी से तीसरी में, इसी तरह क्रमश उत्तीर्णता प्राप्त करता हुआ, अपने विकास के मार्ग में अग्रसर होता जाता है, वैसे ही जीवन की यात्रा में उन्नति-विरोधिनी भावनाओ और शक्तियो पर विजय प्राप्त करता हुआ, आत्मा बराबर अपने उत्तरोत्तर विकास की ओर उन्नति करता जाता है।

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

(यजु० २०।२१)

(अर्थात्, अज्ञान से प्रकाश की ओर बढते हुए हम अपने को उत्तरोत्तर समुन्नत करे)[१] आदि वैदिक वचनो म इसी उत्तरोत्तर विकास की ओर सकेत है। इस दृष्टि से मनुष्य-जीवन के स्वरूप का वर्णन हम अपने शब्दो मे इस प्रकार कर सकते हैं

जीवन परमोत्कृष्टः प्रसादो जगतीपतेः।
तस्य तत्त्व रहस्यं च ये विदुस्ते मनीषिणः॥
कर्मैव जीवनं नित्यं विकासस्तस्य भास्वरः।
उत्तरोत्तरलोकेषु कर्तव्यत्वेन मन्यताम्॥
उत्तरोत्तरमुत्कर्षि जीवनं शाश्वत हि नः।
अस्पृष्टं तमसा चापि मोहरूपेण सर्वथा॥

(रश्मिमाला २१,६–७)

अर्थात्, यह हमारा जीवन भगवान् का सर्वोत्कृष्ट प्रसाद है। मनीषी लोग ही इसके तत्त्व और रहस्य को समझते है। कर्म ही तो जीवन है। उसका प्रकाशमय उत्तरोत्तर विकास ही हमारा कर्तव्य है। वास्तव में तो आत्मा का जीवन शाश्वत है। वह सर्वदा उत्तरोत्तर उत्कर्ष की ओर चलता है। वह मोह अथवा निराशारूपी अन्धकार से परे है।

इस विचार-धारा की दृष्टि से, यह स्पष्ट है, इस सृष्टि का प्रयोजन हमको बन्ध या कैद मे डाल कर दण्ड देने का नही है, अपितु हमारे सतत-समुन्नतिशील विकास मे सहायक होना ही है।

---

१. तु० "परेतु मृत्युरमृतं न ऐतु" (अथर्व० १८।३।६२)।

जगत्-सृष्टि के मूल मे जो भी सर्जन करने वाली शक्ति है, वह निश्चय ही चेतनायुक्त होने के साथ-साथ करुणामयी भी है[1]। उसके द्वारा उत्पन्न की हुई इस सृष्टि का सारा उद्देश्य या प्रयोजन केवल हमारे विकास में सहायता देने का ही है, ठीक उसी तरह, जैसे एक सुन्दर रमणीय विद्यालय का निर्माण बच्चो के सर्वप्रकार के विकास के लिए होता है। ऐसे स्कूल या विद्यालय के छात्रो और जेल के कैदियो की मनोवृत्तियो में कितना मौलिक अन्तर होता है! एक कैदी के निराशामय दु खमय जीवन की तुलना में, छात्र के जीवन में आशा उल्लास और उत्साह होते है। उसका हृदय आशा के प्रकाश से सदा प्रकाशित रहता है। उसके जीवन का पहला मन्त्र होता है

निराशाया: समं पाप मानवस्य न विद्यते ।।
आशा सर्वोत्तमं ज्योतिर्निराशा परमं तमः ।।

(रश्मिमाला १।१,३)

अर्थात्, मनुष्य के लिए निराशा के बराबर दूसरा पाप नही है। आशा सर्वोत्कृष्ट प्रकाश है और निराशा घोर अन्धकार है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि वैदिक विचार-धारा के अनुसार **जीवन का चरम** लक्ष्य, दु ख का अभावरूप, **मुक्ति** या **मोक्ष** जैसा न होकर, निश्चितरूप से भावात्मक ही है। वह चरम लक्ष्य केवल **अमृतत्व**, **आनन्त्य** या **नि:श्रेयस** ही कहा जा सकता है। वैदिक साहित्य में प्राय इन्ही शब्दो द्वारा चरम लक्ष्य का निर्देश किया गया है।

इन अमृतत्व आदि शब्दो का अभिप्राय यही है कि मनुष्य (या आत्मा), अपनी अज्ञान-बहुल अपूर्णता की अवस्था से अपने को विकसित करता हुआ, पूर्णता की ओर बढता जाता है। वह पूर्णता स्वय अनन्त है, उसी तरह, जैसे आकाश या अनन्तानन्त सूर्य-रूपी ताराओ से युक्त यह दृष्ट तथा अदृष्ट ब्रह्माण्ड अनन्त है।

जीवन के इसी चरम लक्ष्य को वैदिक परिभाषा में 'अन्धकार से प्रकाश की ओर जाना' (तु० "**तमसो मा ज्योतिर्गमय**") या 'आनन्दमय ज्योतिर्मय अमृत लोक की प्राप्ति' (तु० "**यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्**।

---

१ तु० "विश्वमेतद् यया शक्त्या धार्यते पाल्यते तथा। नून सा प्रथमा वुद्धिश्चेतना चैव मन्यताम् ।। तया सहेतुक विश्वमाब्रह्माण्डं व्यवस्थितम्। चाल्यते हितभावेन ।।" (रश्मिमाला ६६।१-२)।

तस्मिन् मां घेहि पवमानामृते लोके अक्षिते ।" ऋग्० ९।११३।७) जैसे भावात्मक आदर्शो के रूप में भी प्राय वर्णन किया गया है। वास्तव मे इन सब का अभिप्राय एक ही है।

वैदिक दार्शनिक दृष्टि का महत्व

भारतीय सस्कृति की वैदिकधारा की दार्शनिक भूमिका को जिस रूप में हमने ऊपर दिखाया है, वह वास्तव में अत्यन्त प्राचीन होने पर भी एक प्रकार से बिलकुल नवीन भी है । कम-से-कम यह तो स्पष्ट ही है कि इधर, सहस्त्रो नही, तो सैकडो वर्षो से हमारी जिस उत्तरवर्ती दार्शनिक विचार-धारा को वैदिक समझा जाता रहा है, वह वैदिक विचार-धारा की मौलिक दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त भिन्न है।

वैदिक धारा की मौलिक दार्शनिक दृष्टि के विषय मे जो कुछ ऊपर लिखा गया है, वह किञ्चिन्मात्र भी वैदिक मन्त्रो की खीचा-तानी पर आश्रित नही है। हमारा विश्वास है कि वैदिक मन्त्रो में जो उदात्त, आशामय विचारधारा वह रही है, उसको हम पूर्वोक्त दार्शनिक दृष्टि को स्वीकार किये विना समझ ही नही सकते । एक के विना दूसरी रह नही सकती ।

> बहुत से विद्वानो को भी यह जानकर आश्चर्य होगा कि वैदिक संहिताओ में 'मुक्ति', 'मोक्ष' अथवा 'दु:ख' शब्द का प्रयोग एक बार भी हमको नहीं मिला। हमारी समक्ष में उपर्युक्त वैदिक दार्शनिक दृष्टि की पुष्टि में यह एक अद्वितीय प्रमाण है।

जो भी हो, इसमे सन्देह नही कि उपर्युक्त दार्शनिक भूमिका की भावभित्ति के आधार पर ही हम अधिकतर वैदिक मत्रो के स्वरूप को समझ सकते हैं और वैदिककालीन आर्यो के जीवन को मानो स्नेहमयी प्रकृति-माता की गोद में खेलते हुए बच्चो का उल्लासमय जीवन कह सकते हैं। वह जीवन प्रकृति के प्रत्येक रूप में उषा में, रात्रि में, अरण्यानी में, सूर्य और चन्द्र मे, वायु मे, सर्वत्र ही अकृत्रिम सौदर्य, माधुर्य और निर्दोष आनन्द की अबाध धारा का अनुभव कर सकता है।

उक्त मानसिक अवस्था का वर्णन हम अपने शब्दो में इस प्रकार कर सकते हैं –

प्रकृतेर्मातृभूताया. क्रोडे क्रीडन्ननारतम् ।
लालित. पालितश्चापि सदानन्दो वसाम्यहम् ।।
स्नेहार्द्रं नित्यसस्याथि तस्या माधुर्यमद्भुतम् ।
दृष्ट्वा पीत्वेव पीयूष सदानन्दो वसाम्यहम् ।।
(रश्मिमाला ३६।१-२)

अर्थात्,

प्रकृति-माता की गोद में
सदा क्रीडा करता हुआ,
तथा लालित और पालित,
मैं सदा आनन्द से रहता हूँ।
उसके स्नेह से आर्द्र, नित्य रहने वाले,
अद्भुत माधुर्य को देखकर,
मानो अमृत को पीकर,
मैं सदा आनन्द से रहता हूँ।

लोकोत्तरेण दिव्येन माधुर्येण समन्विता।
येयं प्रसादनी शक्तिर्लोके सर्वत्र संस्थिता॥
सूर्ये चन्द्रे जले वायावुत्फुल्लकुसुमावलौ।
सेयमाविर्भवेत् शश्वत् तिष्ठतान्मम मानसे॥

(रश्मिमाला ३४।१-३)

अर्थात्,

लोकोत्तर दिव्य माधुर्य से समन्वित,
जो प्रसादनी शक्ति
सृष्टि में सर्वत्र—
सूर्य में, चन्द्रमा में, जल में, वायु में,
प्रफुल्ल कुसुमावलि में—
संस्थित है, वह आविर्भूत होकर
सर्वदा मेरे मन में वास करे!

उपर्युक्त भाव-भूमिका में ही हम वेद के अनेकानेक जीवन-संगीतों के मर्म को समझ सकते हैं। उदाहरणार्थ, ऐसा ही एक जीवन-संगीत हम नीचे देते हैं :

पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्।
बुध्येम शरदः शतम्। रोहेम शरदः शतम्।
पूषेम शरदः शतम्। भवेम शरदः शतम्।
भूषेम शरदः शतम्। भूयसी शरदः शतात्॥

(अथर्व० १९।६७।१-८)।

अर्थात्, सौ और सौ से भी अधिक वर्षों तक हम जीवित रहें, देखने-सुनने आदि में सशक्त रहें, ज्ञान का उपार्जन करें, बराबर उन्नति करते रहें, पुष्ट रहें, आनन्दमय स्वस्थ जीवन व्यतीत करते रहें और अपने को भूषित करते रहें!

जीवन के विषय में यह सुखद, स्वस्थ, भव्य और स्वर्गीय भावना कितनी उत्कृष्ट है! भारतीय संस्कृति की लम्बी परम्परा में यह निःसन्देह अद्वितीय है और गंगा की लम्बी धारा की परम्परा में गंगोत्तरी के जल के समान दिव्य और पवित्र है!

इस मौलिक वैदिक विचार-धारा का वैदिक-काल में ही शनैः शनैः रूपान्तर कैसे हो गया, इसको हम आगे दिखाने का यत्न करेंगे।

सातवाँ परिच्छेद

वैदिक धारा की तीन अवस्थाएँ

पिछले परिच्छेद मे, **वैदिक धारा की दार्शनिक भूमिका** का वर्णन करते हुए, हमने वैदिक धारा के इतिहास मे क्रमश आने वाली विभिन्न अवस्थाओ की ओर सकेत किया है। यह सत्य है कि हमारे प्राचीन ग्रन्थकारो के लेखो में किसी भी विचार-धारा की क्रमिक अवस्थाओ पर विचार करने की पद्धति स्पष्टत नही पायी जाती। इन ग्रन्थकारो का अपना दृष्टिकोण प्राय साप्रदायिक होता है और वे उसी दृष्टिकोण से अपनी साप्रदायिक विचार-धारा के गीत गाते हैं। उनके लिए उनकी साप्रदायिक विचार-धारा एक चिरन्तन, शाश्वत परम्परा की वस्तु होती है और इसीलिए उसके प्रारम्भ, विकास और ह्रास के विषय मे विचार करने की गुजायश ही नही होती।

> परन्तु प्रकृत ग्रन्थ की तो विशेषता ही यह है कि भारतवर्ष की विभिन्न विचार-धाराओ में न केवल उनके पारस्परिक प्रभाव अथवा आदान-प्रदान को दिखाया जाए, अपितु उनमें से प्रत्येक प्रधान विचार-धारा की अवान्तर क्रमिक अवस्थाओ को दिखाते हुए, उसके अनन्तर आने वाली विचार-धारा के साथ, उसके ऐसे अपरिहार्य क्रमिक सबध को भी सहेतुक दिखाया जाए, जिससे अन्त में हम समष्टिमूलक भारतीय संस्कृति की एक जीवित अविच्छिन्न परम्परा के सिद्धान्त की स्थापना कर सकें।

किसी भी ऐतिहासिक विकास के अध्ययन में दो पक्ष हो सकते हैं। एक तो वाह्य प्रभावो का अन्वेषण, और दूसरा, आन्तरिक कारणो का विश्लेषण। इन दोनो में से, प्रथम की अपेक्षा दूसरे का महत्त्व स्पष्टत कही अधिक होता है। हमारी उन्नति या अवनति मे वाह्य कारणो की अपेक्षा हमारा ही उत्तर-

दायित्व अधिक होता है। विचारशील मनुष्य के लिए अन्तरवेक्षण या आत्म-परीक्षण का महत्त्व इसीलिए अत्यधिक माना जाता है।

उपर्युक्त कारणो से, प्रकृत ग्रन्थ की दृष्टि से, वैदिक धारा के इतिहास में क्रमश आने वाली अवस्थाओ का विचार, और वह भी उसकी अपनी ही अन्तरग प्रधान प्रवृत्तियो के अध्ययन के आधार पर, किया जाना अत्यन्त आवश्यक है।

वैदिक धारा के इतिहास मे, जैसा हम नीचे दिखाएँगे, विभिन्न प्रवृत्तियाँ तो पायी ही जाती है, साथ ही आगे चल कर एक ऐसा समय आता है, जब वैदिक धारा का, विनशन-प्रदेश में ऐतिहासिक सरस्वती नदी की तरह[1], प्रायेण लोप हो जाता है और उसके स्थान मे अन्य धाराएँ बहती हुई दीखती हैं। इस सारी परिस्थिति को ठीक-ठीक समझने के लिए हमको वैदिक धारा के प्रारम्भ, विकास और ह्रास के स्वरूप और कारणो के अध्ययन तथा अनुसन्धान में बलात् प्रवृत्त होना पडता है।

इस अनुसन्धान को विशुद्ध कल्पना-मूलक या युक्तिमूलक ही न समझना चाहिए। प्रसन्नता की बात है कि सस्कृत-साहित्य मे भी इस अनुसन्धान के लिए पुष्कल सामग्री और प्रमाण मिल जाते हैं। इसलिए नीचे हम अपना प्रत्येक प्रतिपादन, आवश्यक युक्तियो के साथ-साथ, यथासभव प्राचीन प्रमाणो के आधार पर करना चाहते हैं।

वैदिक परम्परा के तीन काल

'वैदिक वाङमय की रूपरेखा' (परिच्छेद ५) से विशाल वैदिक वाङमय के महान् विस्तार के साथ-साथ, विभिन्न स्तरो का भी बहुत-कुछ सकेत पाठको को मिल गया होगा। इस विस्तृत वाङमय के विकास का काल कितना लम्बा होगा, यह कहने की आवश्यकता नही है। विभिन्न विद्वानो के अनुसार, यह सैकडो वर्षो से सहस्रो वर्षो तक का हो सकता है। इसी लम्बे काल मे वैदिक धारा के प्रारम्भ, विकास और ह्रास का इतिहास छिपा होना चाहिए। वास्तव मे है भी ऐसा ही।

इसी दिशा में, सौभाग्य-वश, यास्क-आचार्य-कृत सुप्रसिद्ध निरुक्त में हमको एक अत्यन्त महत्त्व का प्रमाण मिलता है। वेद के छह अगो में निरुक्त[2]

---

१ देखिए—"हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्य यत्प्राग्विनशनादपि। प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेश प्रकीर्त्तित ॥" (मनुस्मृति २।२१)। यहाँ टीकाकारो के अनुसार 'विनशन' वह स्थान कहलाता था, जहाँ सरस्वती नदी अन्तर्हित होती थी।

२ तु० "तदिद विद्यास्थान व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्।" (निरुक्त १।१५) [illegible] "निरुक्त श्रोत्रमुच्यते" [illegible]।

का प्रमुख स्थान है। इसलिए निरुक्त के प्रमाण का मूल्य अत्यधिक है, इसमें विवाद नही हो सकता।

निरुक्त का उपर्युक्त प्रमाण यह है—

"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः। वेद च वेदाङ्गानि च।" (निरुक्त १।२०)।

अर्थात्, प्रारम्भ में ऐसे ऋषि हुए, जिन्होने धर्म का स्वय साक्षात्कार किया था। उनके पीछे ऐसे लोग आये, जिन्होने स्वय धर्म का साक्षात्कार नही किया। उन्होने उपदेश द्वारा मन्त्रो को प्राप्त किया। उनके भी अनन्तर ऐसे लोग हुए, जिनको मन्त्रोपदेश मे रुचि नही थी। उन्ही लोगो ने मन्त्रार्थ को समझने के लिए वेद और वेदागो का समाम्नान (=सग्रन्थन) किया।

स्पष्टत इसका अभिप्राय यही है कि निरुक्तकार यास्क के समय तक वैदिक वाङ्मय की परम्परा को **तीन कालों** में विभाजित किया जाता था। इनमें से **प्रथम काल** को **'मन्त्र-काल'** भी कहा जा सकता है। इसी काल में ऋषियो ने, जिनको मन्त्रो में 'कवि' भी कहा गया है, अपने मानस-तपो-बल और लोकोत्तर प्रतिभा से 'धर्म' का (अग्नि, वायु, आदित्य आदि के स्वरूप का, अथवा मन्त्रो में प्रतिपादित अर्थ का) स्वय साक्षात्कार या अनुभव किया और उसको मन्त्रो द्वारा प्रकट किया। ऊपर के उद्धरण में 'साक्षात्कृतधर्माणः' का यही अभिप्राय है। दूसरे शब्दो में, मन्त्रो के 'दर्शन' या निर्माण का यही युग था।

द्वितीय काल को हम **'मन्त्र-प्रवचन-काल'** भी कह सकते हैं। इस काल में मन्त्रो का 'दर्शन' या निर्माण बहुत-कुछ रुक चुका था, क्योकि परिवर्तित नूतन राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थिति मे मत्रो के 'दर्शन' या निर्माण के लिए पहले-जैसी प्रेरणा नही रही थी। उस समय प्रायेण श्रुति-परम्परा-प्राप्त प्राचीन मन्त्रो को, गुरु-शिष्य की **प्रवचन-श्रवण-पद्धति**[1] द्वारा, सुरक्षित रखने पर ही ध्यान था।

ऐसा प्रतीत होता है कि वेद के लिए **'श्रुति'** शब्द के प्रयोग का प्रारम्भ इसी समय हुआ था।

शनै शनै ऐसा समय (**तृतीय काल**) आया जब कि उक्त प्रवचन-श्रवण-पद्धति में भी शिथिलता आने लगी और अनुभव किया जाने लगा कि परम्परा-प्राप्त वाङमय का ग्रन्थीकरण किया जाए। वैदिक सहिताओ के साथ-साथ ब्राह्मणो-जैसे वाङमय का सग्रन्थन इसी काल की कृति है।

---

१ इस सम्बन्ध मे इसी ग्रन्थ के **द्वितीय परिशिष्ट** के (क) अश मे **'संस्कृत-साहित्य में ग्रन्थ-प्रणयन'** शीर्षक लेख देखिए।

'ऋक्सहिता', 'यजु सहिता' आदि में प्रयुक्त 'सहिता' शब्द से भी ऊपर की बात की पुष्टि होती है। 'सहिता' शब्द का वास्तविक अर्थ आज-कल प्राय विलुप्त-सा हो रहा है। पर इसके ठीक-ठीक अर्थ को समझ लेने से सस्कृत वाङमय के सबध में अनेक ग्रन्थियो का समाधान स्वत हो जाता है।

प्राचीन परम्परा के अनुसार 'महाभारत' एक सहिता है, 'वाल्मीकि-रामायण' को सहिता नही कहा जाता। इस एक ही उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'सहिता' शब्द का तात्पर्य प्रथमत ऐसे सग्रहात्मक ग्रन्थ से होता है, जिसमें विभिन्न स्रोतो से प्राप्त सामग्री को एकत्र कर दिया जाता है। 'महाभारत' इसी अर्थ में एक सहिता है, ऐसा विद्वानो का मत है। 'चरक-सहिता', 'सुश्रुत-सहिता' आदि में भी 'सहिता' शब्द का मौलिक अर्थ यही है। इसलिए यही मानना पडता है कि विभिन्न काल में 'दृष्ट' या निर्मित और अनेक ऋषिवशो मे विखरे हुए परम्परा-प्राप्त मन्त्रो के सग्रह होने के कारण ही वैदिक सहिताओ को 'सहिता' कहा जाता है। स्पष्टत मन्त्र-निर्माण-काल से सहिताओं का काल बहुत पीछे का है। ऐसा होने पर भी, कुछ सप्रदाय-वादियो का यह कथन कि वैदिक सहिताएँ अपने वर्तमान रूप मे 'अनादि' या 'अपौरुषेय' है, कितना उपहासास्पद प्रतीत होता है!

निरुक्त के ऊपर दिये गये उद्धरण मे, जिन तीन कालो का उल्लेख है, उनमे से एक-एक काल की लबाई काफी बडी रही होगी। प्रत्येक परम्परा के लिए लबे काल की अपेक्षा होती है।

वैदिक विचार-धारा का इतिहास

ऊपर प्रधानत वैदिक मत्रों के निर्माण, उनकी श्रुति-परम्परा और संग्रन्थन के आधार पर सामान्य रूप से तीन कालो का विचार किया गया है। पर वैदिक मन्त्रो की परम्परा के साथ-साथ चलने वाली वैदिक विचार-धारा का भी कोई इतिहास होना चाहिए। ऋषियो द्वारा मन्त्रो की प्रवृत्ति एक विशेष काल में ही हुई, और आगे चल कर प्रायेण वह रुक गयी, इसका मौलिक कारण उस काल की विभिन्न परिस्थितियो में ही मानना पडेगा। उन परि-स्थितियो का प्रभाव, मन्त्रो की अपनी परम्परा की तरह, उनके साथ मे चलनेवाली विचारधारा पर भी अवश्य पडना चाहिए। उन विभिन्न राजनीतिक आदि परिस्थितियो पर विचार करने का यह अवसर नहीं है। यहाँ तो हम केवल मन्त्र-परम्परा के उपर्युक्त तीनो कालो में बहने वाली विचार-धारा का वर्णन करेंगे।

का प्रमुख स्थान है। इसलिए निरुक्त के प्रमाण का मूल्य अत्यधिक है, इसमें विवाद नही हो सकता।

निरुक्त का उपर्युक्त प्रमाण यह है—

"**साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषु. । वेदं च वेदाङ्गानि च।**" (निरुक्त १।२०)।

अर्थात्, प्रारम्भ मे ऐसे ऋषि हुए, जिन्होने धर्म का स्वय साक्षात्कार किया था। उनके पीछे ऐसे लोग आये, जिन्होने स्वय धर्म का साक्षात्कार नही किया। उन्होने उपदेश द्वारा मन्त्रो को प्राप्त किया। उनके भी अनन्तर ऐसे लोग हुए, जिनको मन्त्रोपदेश मे रुचि नही थी। उन्ही लोगो ने मन्त्रार्थ को समझने के लिए वेद और वेदागो का समाम्नान (=सग्रन्थन) किया।

स्पष्टत इसका अभिप्राय यही है कि निरुक्तकार यास्क के समय तक वैदिक वाङ्मय की परम्परा को **तीन कालो** में विभाजित किया जाता था। इनमें से **प्रथम काल** को '**मन्त्र-काल**' भी कहा जा सकता है। इसी काल में ऋषियो ने, जिनको मन्त्रो में 'कवि' भी कहा गया है, अपने मानस-तपो-बल और लोकोत्तर प्रतिभा से 'धर्म' का (अग्नि, वायु, आदित्य आदि के स्वरूप का, अथवा मन्त्रो में प्रतिपादित अर्थ का) स्वय साक्षात्कार या अनुभव किया और उसको मन्त्रो द्वारा प्रकट किया। ऊपर के उद्धरण में 'साक्षात्कृतधर्माणः' का यही अभिप्राय है। दूसरे शब्दो में, मन्त्रो के 'दर्शन' या निर्माण का यही युग था।

द्वितीय काल को हम '**मन्त्र-प्रवचन-काल**' भी कह सकते है। इस काल में मन्त्रो का 'दर्शन' या निर्माण बहुत-कुछ रुक चुका था, क्योकि परिवर्तित नूतन राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थिति में मत्रो के 'दर्शन' या निर्माण के लिए पहले-जैसी प्रेरणा नही रही थी। उस समय प्रायेण श्रुति-परम्परा-प्राप्त प्राचीन मन्त्रो को, गुरु-शिष्य की **प्रवचन-श्रवण-पद्धति**[1] द्वारा, सुरक्षित रखने पर ही ध्यान था।

ऐसा प्रतीत होता है कि वेद के लिए 'श्रुति' शब्द के प्रयोग का प्रारम्भ इसी समय हुआ था।

शनै शनै ऐसा समय (**तृतीय काल**) आया जब कि उक्त प्रवचन-श्रवण-पद्धति में भी शिथिलता आने लगी और अनुभव किया जाने लगा कि परम्परा-प्राप्त वाङ्मय का ग्रन्थीकरण किया जाए। वैदिक सहिताओ के साथ-साथ ब्राह्मणो-जैसे वाङ्मय का सग्रन्थन इसी काल की कृति है।

---

१. इस सम्बन्ध में इसी ग्रन्थ के **द्वितीय परिशिष्ट** के (क) अश मे '**संस्कृत-साहित्य में ग्रन्थ-प्रणयन**' शीर्षक लेख देखिए।

'ऋक्संहिता', 'यजुःसंहिता' आदि में प्रयुक्त 'संहिता' शब्द से भी ऊपर की बात की पुष्टि होती है। 'संहिता' शब्द का वास्तविक अर्थ आज-कल प्रायः विलुप्त-सा हो रहा है। पर इसके ठीक-ठीक अर्थ को समझ लेने से संस्कृत वाङ्मय के संबंध में अनेक ग्रन्थियों का समाधान स्वतः हो जाता है।

प्राचीन परम्परा के अनुसार 'महाभारत' एक संहिता है, **'वाल्मीकि-रामायण'** को संहिता नहीं कहा जाता। इस एक ही उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'संहिता' शब्द का तात्पर्य प्रथमतः ऐसे संग्रहात्मक ग्रन्थ से होता है, जिसमें विभिन्न स्रोतों से प्राप्त सामग्री को एकत्र कर दिया जाता है। 'महाभारत' इसी अर्थ में एक संहिता है, ऐसा विद्वानों का मत है। **'चरक-संहिता'**, **'सुश्रुत-संहिता'** आदि में भी 'संहिता' शब्द का मौलिक अर्थ यही है। इसलिए यही मानना पड़ता है कि विभिन्न काल में 'दृष्ट' या निर्मित और अनेक ऋषिवंशों में बिखरे हुए परम्परा-प्राप्त मन्त्रों के संग्रह होने के कारण ही वैदिक संहिताओं को 'संहिता' कहा जाता है। **स्पष्टतः मन्त्र-निर्माण-काल से संहिताओं का काल बहुत पीछे का है।** ऐसा होने पर भी, कुछ सम्प्रदाय-वादियों का यह कथन कि वैदिक संहिताएँ अपने वर्तमान रूप में 'अनादि' या 'अपौरुषेय' हैं, कितना उपहासास्पद प्रतीत होता है!

निरुक्त के ऊपर दिये गये उद्धरण में, जिन तीन कालों का उल्लेख है, उनमें से एक-एक काल की लंबाई काफी बड़ी रही होगी। प्रत्येक परम्परा के लिए लंबे काल की अपेक्षा होती है।

वैदिक विचार-धारा का इतिहास

ऊपर प्रधानतः वैदिक **मंत्रों के निर्माण**, उनकी **श्रुति-परम्परा** और **संग्रन्थन** के आधार पर सामान्य रूप से तीन कालों का विचार किया गया है। पर वैदिक मन्त्रों की परम्परा के साथ-साथ चलने वाली वैदिक विचार-धारा का भी कोई इतिहास होना चाहिए। ऋषियों द्वारा मन्त्रों की प्रवृत्ति एक विशेष काल में ही हुई, और आगे चल कर **प्रायेण** वह रुक गयी, इसका मौलिक कारण उस काल की विभिन्न परिस्थितियों में ही मानना पड़ेगा। उन परि-स्थितियों का प्रभाव, मन्त्रों की अपनी परम्परा की तरह, उनके साथ में चलनेवाली विचारधारा पर भी अवश्य पड़ना चाहिए। उन विभिन्न राजनीतिक आदि परिस्थितियों पर विचार करने का यह अवसर नहीं है। यहाँ तो हम केवल मन्त्र-परम्परा के उपर्युक्त तीनों कालों में बहने वाली विचार-धारा का वर्णन करेंगे।

वैदिक धारा का प्रथम काल

ऋषियो द्वारा वैदिक मन्त्रो के प्रवर्तन का यह युग वास्तव मे **वैदिक संस्कृति का उष काल** था, जब प्राण-प्रद वातावरण और जीवन-प्रद प्रभावो से प्रेरित होकर आर्यजाति अपने यशस्वी जीवन की लम्बी विजय-यात्रा में अग्रसर हो रही थी, और अपने वेदमय (=विचारशील) पुरोहितो अर्थात् पुरोगामी नेताओ के नेतृत्व मे उसके प्रभाव का बराबर विस्तार हो रहा था। वास्तव मे इसी उत्साहप्रद जाति-व्यापी वातावरण ने ऋषियो को मन्त्रो के प्रवर्तन में प्रेरणा प्रदान की थी।

इस काल मे मन्त्रात्मक वेद और आर्यजाति के जीवन मे एक प्रकार से एकरूपता थी। उसका जीवन वेद था और वेद जीवन था, क्योकि एक से दूसरे की व्याख्या की जा सकती थी और आर्यजाति के जीवन मे उदात्त वैदिक आदर्शों का जीता-जागता नमूना दिखायी देता था।

उस समय मे आर्यजाति के अन्तर्हृदय मे जो उत्साह और उमग की लहरे उद्वेल्लित हो रही थी, जो ओज उसकी धमनियो में बह रहा था, उसका प्रत्यक्ष दर्शन आज भी वैदिक मत्रो द्वारा हो सकता है। आर्यजाति के सतत-कर्मशील जीवन की वास्तविकता और आशावाद, तथा साथ ही विश्व मे व्याप्त दैवी शक्ति की साक्षात् अनुभूति मत्रो के प्रत्येक शब्द से प्रतिध्वनित हो रही है। ऐसा प्रतीत होता है मानो विश्व-विजयिनी आर्यजाति की विजय-यात्राओ में देवता उसके साथ 'मार्च' करते थे। वास्तव मे इसी युग की मन्दस्मृति को पुराणो में आलकारिक भाषा मे, मनुष्यो के बीच मे देवताओ के आने और वार्तालाप करने के रूप मे, वर्णन किया गया है।

पिछले परिच्छेद मे वैदिक धारा की जिस दार्शनिक दृष्टि का प्रतिपादन हमने किया है, उसका विशुद्ध, वास्तविक जीवित रूप इसी प्रथम काल मे हमें मिलता है। उस आशावादिनी दार्शनिक दृष्टि को जन्म देने वाली और बराबर अनुप्राणित करने वाली भद्रभावना, समष्टिभावना आदि वैदिक उदात्त भावनाओ का मुख्य समय भी यही था।

वैदिक उदात्त भावनाओ का वर्णन, जिनको हम वैदिक सस्कृति का प्राण समझते हैं, हम अगले परिच्छेद में करेंगे।

कहने की आवश्यकता नही है कि इस प्रथम काल मे, जो सच्चे अर्थों में **कृति और निर्माण का युग** था, और जिसको हम पिछली पौराणिक भाषा में 'सत्ययुग' या 'कृतयुग' का नाम दे सकते है, सुप्रसिद्ध पूजा-पद्धति के रूप में,

कर्म-काण्ड का नाममात्र रहा होगा। उस समय तो आर्यों का जीवन ही उनका कर्म-काण्ड था। **किसी भी जाति के निर्माण-काल में उसका सतत-कर्म-शील जीवन ही कर्मकाण्ड होता है।** जीवन मे इतना अवकाश ही नही मिलता कि कृत्रिम कर्मकाण्ड की ओर मनुष्य प्रवृत्त हो। जो कवि स्वय अपनी कविता कर सकता है, वह दूसरो के पदो को लेकर किसी कर्मकाण्ड में प्रवृत्त नही होता।

वास्तव में, जैसा हम नीचे दिखाएँगे, कर्मशील जीवन और कर्मकाण्ड के विकास और ह्रास में एक द्वन्द्वात्मक अनुपात रहा करता है। किसी भी सस्कृति या जाति के इतिहास से इस तथ्य को प्रमाणित किया जा सकता है।

वैदिक धारा का द्वितीय काल

वैदिक-धारा के प्रथम काल में आर्यजाति के प्रभाव का बराबर विस्तार हो रहा था यह हमने ऊपर कहा है। इसके अनन्तर **व्यवस्था और संगठन के प्रारम्भ का युग** आता है।

द्वितीय काल मे वैदिकधारा में जहाँ एक ओर स्थिरता और गम्भीरता आयी और भारतीय जीवन, समाज और राजनीति को व्यवस्थित करने की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ, वहाँ दूसरी ओर परम्परा से प्राप्त वैदिक मन्त्रो और उनकी विचार-धारा को सुरक्षित रखने का भी प्रयत्न किया गया।

उपर्युक्त वैदिक परम्परा की रक्षा की प्रवृत्ति के कारण ही, प्रथम काल के समान इस युग में भी, वैदिक आदर्शों का जीता-जागता रूप, न केवल शाब्दिक परम्परा के रूप में, अपितु जीवन में वस्तुत पायी जाने वाली वैदिक उदात्त भावनाओ के रूप मे भी, आर्यजाति मे विद्यमान था। निश्चय ही उस दिव्य जीवन और अवस्था का ज्ञान हमे केवल वेद-मत्रो से ही हो सकता है। उत्तर-कालीन साहित्य, चाहे वह कितना ही प्राचीन क्यो न हो, उस अवस्था को ठीक-ठीक अनुभव करने में हमारा सहायक नही हो सकता।

प्रथम काल के समान इस युग में भी हमारे पूर्वज वास्तव मे अपने प्रतिदिन के जीवन में, प्रकृति-माता की गोद मे मानो बच्चो की तरह खेलते हुए[1],

---

१ तु० "प्रकृतेर्मातृभूताया क्रोडे क्रीडन्ननारतम्। लालित. पालितश्चापि सदानन्दो वसाम्यहम्॥ स्नेहार्द्रं नित्यसस्थायि तस्या माधुर्यमद्भुतम्। दृष्ट्वा पीत्वेव पीयष सदानन्दो वसाम्यहम्॥" (रश्मिमाला ३६।१-२)

परमात्मा के विभूति-रूप सूर्य, वायु, उषा आदि देवताओं के साथ मानो सखा-भाव से विचरते और बातचीत करते हुए, ऐसे दिव्य गीत गाते थे :

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।।

(ऋग्० १।११५।१)

(अर्थात्, देवताओं के रमणीय मुखडे के समान, मित्र वरुण और अग्नि के चक्षु स्थानीय, जंगम और जड जगत् के आत्म-भूत, ये सूर्य भगवान् उदित हुए हैं और उदित होते ही इन्होंने पृथिवी आदि तीनों लोकों को व्याप्त कर लिया है ।)

वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे ।
प्र ण आयूंषि तारिषत् ।।

(ऋग्० १०।१८६।१)

(अर्थात्, यह वायु हमारे हृदयों के लिए कल्याणकारी और सुखकारी ओषधि के रूप में होकर बहे और हमारे लिए दीर्घ आयुष्य का संपादन करे ।)

एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात् ।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति ।।

(ऋग्० १।१२४।३)

(अर्थात्, द्युलोक की दुहितृ-स्थानीय, ज्योतिर्मय वस्त्रों को पहने हुए, सबके प्रति सद्भावना को रखने वाली, यह उषादेवी सामने दृष्टिगोचर हो रही है, मानो बुद्धि-पूर्वक वह सत्य के मार्ग का अनुसरण करती है और कभी अपने नियमों का अतिक्रमण नहीं करती ।)

अभिप्राय यह है कि आर्यजाति के जीवन में बाह्य संघर्ष के बहुत-कुछ कम हो जाने पर भी, वैदिक जीवन का प्रायेण वही रूप था, जो उसके प्रथम काल में था। साथ ही, यह भी कहा जा सकता है कि किसी भी महान् संघर्ष के अनन्तर जो शान्ति और गम्भीरता की भावनाओं का अनिवार्य संचार होता है, वह इस युग की विशेषता थी ।

इसीलिए, निरुक्तकार यास्क के अनुसार वैदिक परंपरा के प्रथम काल के साथ ही मन्त्रों के प्रवर्तन के युग के समाप्त हो जाने पर भी, ऐसे मन्त्रों की रचना, जिनमें समस्त विश्व-प्रपंच में शान्ति के दर्शन की तीव्र कामना का भाव बह रहा है, प्रायेण इसी युग की वस्तु है। इसी प्रकार सामाजिक तथा

राजनीतिक सामान्य सगठन से सबद्ध मत्रो को भी इसी काल की रचना समझना चाहिए।

ऐसी अवस्था मे निरुक्त के उपरि-निर्दिष्ट उद्धरण का अभिप्राय केवल यही है कि सामान्य रूप से वैदिक परम्परा के काल-क्रम को दिखाया जाए।

पौराणिक युगो की परिभाषा में हम इस युग को सत्य-युग या कृत-युग का उत्तरार्ध कह सकते हैं। अथवा, सत्य-युग और त्रेता-युग की सन्धि-(या संक्रमण-) -काल भी कह सकते हैं।

वास्तव में यह युग वैदिक सस्कृति का प्राहण-काल था, जिसकी स्थिति प्रात काल के पश्चात् और मध्याह्न-काल से पहले होती है।

इसी द्वितीय काल में, जातीय जीवन को सुव्यवस्थित और सुसगठित करने की प्रवृत्ति के आधार पर, याज्ञिक कर्मकाण्ड का, एक विशिष्ट कर्मकाण्ड के रूप में, प्रारम्भ हुआ था। वैदिक सस्कृति के उत्कर्ष के दिनो में याज्ञिक कर्म-काण्ड ही उसका महान् प्रतीक माना जाता था और अन्त में याज्ञिक कर्मकाण्ड की अत्यधिकता ही वैदिक सस्कृति के ह्रास का कारण हुई, यह हम आगे चल कर दिखाएँगे। याज्ञिक कर्मकाण्ड के उस विकास और तत्पश्चात् अपकास को समझने के लिए, इस द्वितीय काल में उसके प्रारम्भ को मानना आवश्यक हो जाता है।

स्वभावत अभी तक वह अपने बाल्यकाल में ही था। अतएव कृत्रिमता के स्थान मे उसमें स्वाभाविकता और सार्थकता वर्तमान थी। श्रद्धा, भक्ति और उल्लास की भावनाओ का मूर्तीकरण ही उसका आधार था। उसके साथ वैदिक मंत्रो का प्रयोग अवश्य होता था, पर पूरी तरह अर्थ-ज्ञान-पूर्वक और उनकी उपयुक्तता को देख कर। निरुक्त में गोपथ-ब्राह्मण (२।२।६) के आधार पर कहा है—

> "एतद्वै यज्ञस्य समृद्ध यद् रूपसमृद्ध
> यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति ।।"
>
> (निरुक्त १।१६)।

अर्थात्, यज्ञ की महत्ता इसी में होती है कि उसमे ऐसे ही उपयुक्त और सार्थक मत्रो का प्रयोग किया जाए, जिनका उसके कर्मकाण्ड से वास्तविक सम्बन्ध हो। इस मौलिक सिद्धान्त की उपेक्षा ही अन्त में वैदिक कर्मकाण्ड के अपकास का प्रधान कारण हुई, यह हम आगे दिखाएँगे। पर अपने आरम्भ काल में याज्ञिक कर्मकाण्ड, निश्चय ही, इस सिद्धान्त पर आश्रित था।

वैदिक सस्कृति के विकास और ह्रास में वैदिक या याज्ञिक कर्मकाण्ड का बहुत बडा हाथ रहा है, यह हमने ऊपर कहा है। आगे इसकी व्याख्या की जाएगी। यहाँ, कर्मकाण्ड के विकास और ह्रास (या अपकास) से क्या अभिप्राय है, इसको स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

कर्मकाण्ड का विकास और ह्रास

एक प्रकार से धार्मिक कर्मकाण्ड की भावना मनुष्य मे स्वाभाविक होती है। जैसे एक बच्चा भी प्रकृति के सुन्दर दृश्यो को देख कर, अपने उल्लास को दबाने में असमर्थ होकर, उछलने-कूदने लगता है, इसी प्रकार मनुष्य भी प्राकृतिक देवताओ के सपर्क में, एक अद्भुत उल्लास से प्रभावित हो कर, बाह्य चेष्टा द्वारा उसको अभिव्यक्त करना चाहता है। प्रायेण इसी आधार पर विभिन्न कर्मकाण्डो का विकास हुआ है। इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति के सहारे विभिन्न जातियो मे, साधारणजनो के आकर्षण और मनोरजन की दृष्टि से, विभिन्न आदर्शों को मूर्त या ऐन्द्रियक रूप देने के लिए, समय-समय पर, विभिन्न कर्मकाण्डो का विकास होता रहता है।

मनुष्य-समाज की यह एक सार्वकालिक प्रवृत्ति है और इसकी आवश्यकता भी है। पर शनै शनै कर्मकाण्ड में वह अवस्था आ जाती है, जब वह जटिल होने लगता है और उसके सचालन के लिए समाज में एक विशिष्ट पुरोहित-वर्ग की आवश्यकता होने लगती है। प्रारम्भ मे पुरोहित-वर्ग समाज में से ही बनने के कारण, नियत्रित होने के साथ साथ, सयत भी होता है।

पर कुछ काल के अनन्तर कर्मकाण्ड के विकास में 'कलियुग' की अवस्था आने लगती है। इसका दुष्प्रभाव उभयतोमुखी होता है। एक ओर तो जनता में, आलस्य और अकर्मण्यता की भावना के साथ-साथ, यह विचार उत्पन्न हो जाता है कि उसका उपास्य देव उससे दूर और उसकी पहुँच से बाहर है। वह पुरोहित-वर्ग का सहारा ढूढने लगती है, और अन्त में, अपनी कर्तव्यता का सारा भार पुरोहित-वर्ग पर छोड कर, धर्म में वकालत या प्रातिनिध्य के सिद्धान्त को मानने लगती है। इससे प्रायेण उसकी नैतिकता के सर्वनाश की स्थिति उपस्थित हो जाती है।

दूसरी ओर पुरोहित लोग, जो प्रारम्भ में अर्थत पुर + हित (अर्थात् नेता) का काम करते है, शनै शनै जनता को अपने स्वार्थ के लिए दुहने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझने लगते है। इस अवस्था मे कर्मकाण्ड 'दिन-दूना रात-चौगुना' बढने लगता है, क्योकि पुरोहित-वर्ग का हित इसी मे होता है कि,

वकीलो के पजे मे फँसे मुवक्किलो की तरह, जनता, साधारण से साधारण बात के लिए उस पर आश्रित होकर, उसके लाभ का साधन बने।

ससार की विभिन्न जातियो के इतिहास में कर्मकाण्ड के विकास के (जो कि अन्त में क्रमश अपकास का रूप धारण कर लेता है) इस प्रकार के उदाहरण मिलते है। भारतवर्ष में वैदिक कर्मकाण्ड के विकास की भी गति इसी प्रकार की रही है। इसका अधिक स्पष्टीकरण हम आगे चल कर करेंगे। उसी वैदिक कर्मकाण्ड का स्वाभाविक प्रारम्भ वैदिक धारा के उपर्युक्त द्वितीय काल में हुआ था।

वैदिकधारा का तृतीय काल

ऊपर हमने वैदिक धारा के द्वितीय काल को व्यवस्था और सगठन के प्रारभ का युग कहा है। उसी दृष्टि से इस तृतीय काल को हम वैदिक धारा की वास्तविक व्यवस्था और संगठन का युग कह सकते है।

इस युग को हम वैदिक संस्कृति का मध्याह्न-काल भी कह सकते है; क्योकि अपने विशिष्ट रूप में वैदिक सस्कृति के परम उत्कर्ष का काल यही था।

'मध्याह्न-काल' कहने का एक दूसरा अभिप्राय भी है। मध्याह्नकाल में सूर्य का प्रकाश और तेज अपने चरम उत्कर्ष में होता है। पर उस काल के अनन्तर ही उसका अपकर्ष शुरू हो जाता है, और अपराह्ण के पश्चात् तो सूर्य अस्तोन्मुख ही होने लगता है। ठीक इसी प्रकार, अपने इस तृतीय काल में परम उत्कर्ष को पाकर वैदिक धारा अपनी आन्तरिक प्रवृत्तियो के कारण ही धीरे-धीरे ह्रास की ओर चलने लगी और अन्त में प्राय, जैसा ऊपर कहा है, विलुप्त-सी हो गयी। इसको हम ग्यारहवें परिच्छेद में स्पष्ट करेंगे। यहाँ तो उसके उत्कर्ष के स्वरूप पर ही विचार करना चाहते है।

याज्ञिक कर्मकाण्ड

इस तृतीय काल की सबसे बड़ी विशेषता विशाल वैदिक (या श्रौत) कर्मकाण्ड का व्यवस्थित किया जाना था।

वैदिक वाङमय में विस्तृत ब्राह्मण-ग्रन्थो और श्रौतसूत्रो का सम्बन्ध वैदिक यज्ञो से ही है। यही नही, वैदिक संहिताओ में सामवेद और यजुर्वेद का तो सग्रन्थन ही याज्ञिक दृष्टि से किया गया है, यह हम पहले कह चुके हैं।

वाह्य तथा आन्तरिक राजनीतिक सघर्ष के अनन्तर जो नयी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी थी, उसमें आर्यजाति के विभिन्न अगो में परस्पर सद्भावना, सामञ्जस्य, एकजातीयता और एक सस्कृति की भावना की पुष्टि के लिए, और साथ ही,

प्राचीन वैदिक परम्परा और उदात्त भावनाओ के सरक्षण के उद्देश्य से, याज्ञिक कर्मकाण्ड का विस्तार और व्यवस्था इस युग में की गयी थी। नयी परिस्थिति की वह एक अनिवार्य आवश्यकता थी।

व्यवस्थित वैदिक (याज्ञिक) कर्मकाण्ड का विकास इसी तृतीय काल में हुआ था, इस बात की पुष्टि अनेकानेक प्रमाणो से होती है। उदाहरणार्थ, **मुण्डकोपनिषद्** (१।२।१) में कहा है

> तदेतत्सत्य मन्त्रेषु कर्माणि कवयो
> यान्यपश्यस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि ॥

(अर्थात्, मत्रो में देखे गये कर्मों को ही पीछे से त्रेता में वहुत प्रकार से विस्तृत किया गया)

इसी बात का आलकारिक वर्णन श्रीमद्भागवत (स्कन्ध ११।५) में इस प्रकार मिलता है—

> कृतं त्रेता द्वापर च कलिरित्येषु केशव. ।
> नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते ॥२०॥
> कृते . . . . ॥२१॥
> मनुष्यास्तु तदा शान्ता निर्वैरा सुहृदः समा ।
> यजन्ति तपसा देव शमेन च दमेन च ॥२२॥
> त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ चतुर्वाहुस्त्रिमेखल. ।
> हिरण्यकेशस्त्रय्यात्मा स्रुक्स्रुवाद्युपलक्षण. ॥२४॥
> तं तदा मनुजा देवं सर्वदेवमयं हरिम् ।
> यजन्ति विद्यया त्रय्या धर्मिष्ठा ब्रह्मवादिनः ॥२५॥

अर्थात्, कृतयुग आदि मे विभिन्न प्रकार, नाम और आकार से, विभिन्न विधि द्वारा, भगवान् की पूजा की जाती है। कृतयुग में मनुष्य शान्त, निर्वैर होकर परस्पर मित्रता और साम्य-भाव से रहते है और तप, शम और दम से भगवान् का यजन करते है। त्रेता मे वेदत्रयी-रूप भगवान् स्रुक्-स्रुवा आदि याज्ञिक उपकरणो से उपलक्षित होते है और यज्ञवाहक अग्नि ही उनका प्रधान प्रतीक समझा जाता है। उस समय मे ऋगादि वेदत्रयी से सपाद्य वैदिक यज्ञो द्वारा ही भगवान् का यजन किया जाता हैं।

इस वर्णन में स्पष्टतया सत्य-युग के अनन्तर त्रेतायुग मे स्रुक्, स्रुवा आदि उपकरणो से युक्त वैदिक यज्ञ का प्रतिपादन किया गया है।

इसी प्रकार विष्णु-पुराण (१।५।४९) में कहा है

त्रेतायुगमुखे ब्रह्मा कल्पस्यादौ द्विजोत्तम।
सृष्ट्वा पश्वोषधीः सम्यग्युयोज स तदाध्वरे॥

अर्थात्, ब्रह्मा ने कल्प के आदि में पशुओ और ओषधियो की सृष्टि करके, त्रेतायुग के प्रारम्भ मे यज्ञ से उनका सम्बन्ध स्थापित किया।

यहाँ स्पष्टतया, त्रेतायुग में ही यज्ञो की प्रवृत्ति हुई, यह कहा गया है। इसी श्लोक की व्याख्या में श्रीधरस्वामी ने कहा है—

"कृतयुगे यज्ञानामप्रवृत्तेः"

अर्थात्, सत्ययुग मे यज्ञो की प्रवृत्ति नही हुई थी।

पौराणिक परिभाषा का त्रेता-युग और हमारा उपर्युक्त वैदिक धारा का तृतीय काल वास्तव में एक ही हैं।

वैदिक वाङ्मय मे वैदिक यज्ञो की महिमा का गान भरा पडा है।[1]

इसमे सन्देह नही कि उस समय की परिस्थिति मे इस याज्ञिक कर्मकाण्ड ने वैदिक परम्परा के वातावरण की रक्षा के लिए बडा काम किया था। इसके लिए आवश्यक था कि यज्ञो में वैदिक मत्रो का प्रयोग अर्थज्ञानपूर्वक ही किया जाए। ऊपर उद्धृत किये गये गोपथ-ब्राह्मण के वचन का भी यही अभिप्राय है।

वडे भारी सामूहिक सगीत (Musical Concert) के समान, यज्ञो मे अनेकानेक ऋत्विजो द्वारा स्वरो के आरोह और अवरोह के साथ मत्रो आदि का पाठ और अपने-अपने कर्तव्यो का नियमानुसार करना उपस्थित जनता पर निश्चय ही विचित्र मनोमोहक प्रभाव डालता होगा।

इसीलिए आर्य-जाति के प्रत्येक सदस्य की यह लालसा रहती थी कि वह वैदिक यज्ञो को कर सके।

यही याज्ञिक कर्मकाण्ड अपनी अत्यधिकता की प्रवृत्ति के कारण आगे चल कर वैदिक धारा के ह्रास का मुख्य कारण बन गया, इसका प्रतिपादन हम आगे करेगे।

वर्ण-विभाग की प्रवृत्ति

उक्त वैदिक कर्म-काण्ड के विकास और व्यवस्था के साथ-साथ, इस युग की दूसरी विशेषता थी जन्म-परक वर्ण-विभाग की प्रवृत्ति का उदय और विकास।

---

१ तु० "देवरथो वा एष यद् यज्ञः" (ऐतरेयब्राह्मण २।२७)। "यज्ञो वै सुतर्मा नौ" (ऐत० ब्रा० १।१३)। "ब्रह्म वै यज्ञ." (ऐत०ब्रा० ७।२२)।

यह निश्चय है कि वैदिक धारा के इतिहास में एक समय ऐसा था, जब जीवन-यात्रा के लिए किसी भी धन्ध को करने वाले स्त्री-पुरुष 'साक्षात्कृतधर्मा' ऋषिका तथा ऋषि तक हो सकते थे।

"कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।" (ऋग्० ९।११२।३)

(अर्थात्, एक ऋषि का कहना है कि मै तो कवि हूँ, मेरा पिता वैद्य है, और माता पिसनहारी है) से यही बात स्पष्ट होती है। ऋग्वेद के मत्रो के अनेक ऋषियो को पिछले ग्रन्थकारो ने, उत्तरकालीन परिभाषा में, वैश्य-ऋषि, राजन्य-ऋषि बतलाया है[1]।

एक प्रकार से वह समय विशुद्ध जनतत्र तथा साम्यवाद का था। सारी आर्य-जनता अपने को 'विश्' (=आर्य-प्रजा[2]) समझती थी। प्रत्येक व्यक्ति अपने-आप में अपना पुरोहित, राजा तथा योद्धा था।[3] सघर्षमय जीवन के

---

१. देखिए 'आर्यविद्यासुधाकर' (१९४०), पृष्ठ ३१-३२।

२ सुना है कि इसी प्राचीन अर्थ में 'विट्' या 'वीट्' शब्द का प्रयोग गढ-वाल आदि मे आजकल भी होता है। इसका मौलिक अर्थ 'वसनेवाला' है। इसका साथी शब्द 'कृष्टि' (देखो वैदिक 'निघण्टु' में मनुष्य-नाम) भी प्रजा के अर्थ में ही ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ है। उसका सम्बन्ध स्पष्टतया कृषि से है। आदिकाल में खेतो के साथ ही बस्ती का प्रारम्भ होता था। उत्तरकालीन 'वैश्य' शब्द 'विश्' शब्द की तीसरी पीढी में बना है। 'विश्' से 'विश्य' (अथर्व० ६।१३।१), और उनमे 'वैश्य'। इस प्रकार कम-से-कम ऋग्वेद म 'विश्' शब्द उत्तरकालीन 'वैश्य' शब्द का समानार्थक नही है।

३ उस समय की प्रजा की सामाजिक स्थिति को वायु-पुराण के शब्दो में इस प्रकार कहा जा सकता है

"वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च न तदासन्न संकरः।... तुल्यरूपायुषः सर्वा अधमोत्तमवर्जिताः। सुखप्राया ह्यशोकाश्च उत्पद्यन्ते कृते युगे। नित्यप्रहृष्ट-मनसो महासत्त्वा महाबलाः॥" (वायुपु० १।८।६०-६२)

अर्थात्, सत्य-युग में न तो उत्तरकालीन वर्णाश्रम-व्यवस्था थी, न तन्मूलक परस्पर सघर्ष था। महान् सत्त्व और बल से सपन्न उस समय की जनता सदा प्रसन्नता से युक्त, शोकरहित, सुखमय जीवन व्यतीत करती थी। उसमें नीच-ऊँच का भाव नही था, और रूप तथा आयु मे सब का साम्य होता था।

कारण शनै-शनै क्षत्र और ब्रह्म[1] इन दो कर्मों की प्रधानता हो जाने पर भी सबको विश् होने का अभिमान था।

पर सभ्यता के इतिहास में, जीवन की विसष्ठुलता की वृद्धि के साथ-साथ, विभिन्न सामाजिक वर्गों की उत्पत्ति होती है। इसी नियम के अनुसार और विशेषत उस समय के राजनीतिक (प्रारम्भ, में आर्य-अनार्य के रूप में) सघर्ष के कारण आर्य-जनता में शनै-शनै राजा, क्षत्रिय (=शत्रु के घात से रक्षा करने वाला), पुरोहित (=पुर + हित=धार्मिक कृत्य के लिए प्रतिनिधि के रूप में चुना गया व्यक्ति), ब्राह्मण (=देवताओ की स्तुति आदि करने वाला) आदि की उत्पत्ति हुई।

प्रारम्भ में राजा का चुनाव प्रजा द्वारा होता था[2] और ब्राह्मण आदि का विभाग भी कर्म-मूलक था। पर शनै-शनै शक्ति और प्रभाव के केन्द्रीभूत होने से इन पदो और वर्गों में रूढि और स्थिरता आने लगी।

जनता मे अपने-अपने प्रभाव और स्थिति को बढ़ाने की दृष्टि से उत्पन्न होने वाले ब्रह्म और क्षत्र के सघर्ष का समय यही था। इसी सघर्ष की स्वप्निल और काफी विकृत स्मृति परशुराम, वसिष्ठ और विश्वामित्र की दन्तकथाओ के रूप में हमारे पौराणिक साहित्य में सुरक्षित है। इस सघर्ष का अन्त अपने-अपने

---

१ 'क्षत्र' और 'ब्रह्मन्' शब्द नपुसक लिंग मे प्रयुक्त होते है। अत भाव-वाचक होने से भिन्न-भिन्न कामो के ही द्योतक है। ('क्षत्रिय' और 'ब्राह्मण' शब्द उक्त शब्दो से उत्तर-काल में ही निकले और व्यवहार मे आये)। यह ठीक भी है, क्योकि पहले काम होता है, फिर उससे नाम बनता है। **मूल वैदिक काल में, वास्तव में, आर्य-जनता (=विशः) में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का वर्गीकरण नहीं हुआ था।** यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि समस्त ऋग्वेद-सहिता मे 'शूद्र' और 'राजन्य' शब्द केवल एक-एक बार (ऋग्० १०।६०।१२ मे) आये है। यह सूक्त (पुरुष-सूक्त) स्पष्टतया अन्तिम वैदिक काल की रचना है। 'ब्राह्मण' और 'क्षत्रिय' शब्दो का प्रयोग भी 'ब्रह्मन्' और 'क्षत्र' शब्दो की अपेक्षा बहुत ही कम हुआ है और स्पष्टतया अपेक्षाकृत पिछले काल का है। इस प्रकार इन दो-चार शब्दो का विचार भी वर्ण-व्यवस्था के ऐतिहासिक विकास पर पर्याप्त प्रकाश डाल सकता है।

२. तु० **"विशि राजा प्रतिष्ठित"** (यजु० २०।६)। **"राष्ट्राणि वै विश."** (ऐत० ब्रा० ८।२६)। **"त्वा विशो वृणता राज्याय"** (अथर्व० ३।४।२)।

कार्य-क्षेत्र मे दोनो की प्रधानता की स्वीकृति में हुआ। इस प्रकार उक्त सामाजिक सघर्ष ने अन्त मे सामञ्जस्य का रूप धारण कर लिया।[1]

इस प्रकार उत्तर वैदिक काल मे प्रजातन्त्र के स्थान मे राजतन्त्र की स्थापना हुई और सामान्य-जनता (=विश् या प्रजा) मे से ही ब्राह्मण-वर्ग तथा क्षत्रिय-वर्ग के साथ-साथ वैश्य-वर्ग का भी प्रारम्भ हुआ। उत्तरकालीन रूढि-मूलक वर्ण-व्यवस्था का यही सूत्रपात था।

वैदिक धारा के उपर्युक्त तृतीय काल मे अत्यन्त जटिल और विस्तृत याज्ञिक कर्मकाण्ड के विकास और वृद्धि से भी जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त के विकास में स्पष्टत अत्यन्त सहायता मिली[2], क्योकि ऋत्विक् के पेशे के लिए भी, अन्य पेशो के समान, वश-परम्परा से प्राप्त कर्मकाण्ड-विषयक परिज्ञान आवश्यक होने लगा था।

इस प्रकार अपने-अपने स्वार्थ, आजीविका और पेशे की रक्षा की प्रवृत्ति से वर्ण-विभाग की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ। वैदिक धारा के तृतीय काल की यह भी एक बडी विशेषता थी। पर अभी तक इस प्रवृत्ति में वह घोर रूढि-मूलकता नही आयी थी, जिसने आगे चल कर वैदिक धारा के प्रवाह को काफी विकृत और दूषित कर दिया, जैसा कि हम आगे स्पष्ट करेंगे।

जातीय जीवन के अन्य क्षेत्रों की व्यवस्था

याज्ञिक कर्मकाण्ड (=धार्मिक क्षेत्र), और वर्ण-विभाग (=सामाजिक क्षेत्र) के समान ही, वैदिक धारा के इस तृतीय काल मे जातीय जीवन के अन्य क्षेत्रो को भी व्यवस्थित करने का यत्न किया गया।

निरुक्त के अनुसार वेद और वेदागो का (अर्थात् परम्परा-प्राप्त वैदिक वाङमय का) सग्रन्थन इसी काल मे किया गया था, यह हम ऊपर दिखा चुके है। इसी वाङमय की परम्परा से सबद्ध गृह्य-सूत्रो और धर्म-सूत्रो से यह स्पष्ट है कि आर्य-जाति की राजनीति, दण्डनीति, शासन-नीति तथा पारिवारिक जीवन आदि को व्यवस्थित करने का युग भी वैदिक धारा का यही तृतीय काल था।

उपर्युक्त कारणो के आधार पर ही हमने तृतीय काल को वैदिक धारा के विकास का मध्याह्न-काल कहा है।

---

१ तु० "ब्रह्म च क्षत्र च सश्रिते" (सश्रित=परस्पराश्रित) (ऐत० ब्रा० ३।११)। "ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितम्। क्षत्रे ब्रह्म" (ऐत० ब्रा० ८।२)।

२ तु० "यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार वै। चातुर्वर्ण्यं महाभाग यज्ञसाधनमुत्तमम्॥" (विष्णु-पुराण १।६।७)।

आठवाँ परिच्छेद

वैदिक उदात्त भावनाएँ

भारतीय सस्कृति के विकास में वैदिक धारा का निर्विवाद रूप से अत्यधिक महत्त्व है, यह हम पहले (परिच्छेद ५ में) कह चुके है। वैदिक धारा का उद्‌गम वेदो से है। इसीलिए, जैसा पहले दिखला चुके है, वेदो की महिमा का गान सस्कृत वाङ्मय में अनेक प्रकार से किया गया है।

ऐसा होने पर भी, यह बडे आश्चर्य की बात है कि इधर सहस्रो नही, तो सैकडो वर्षो से मानवीय जीवन के लिए उपयोगी प्रेरणाओ या आदर्शो की दृष्टि से वेदो का कोई महत्त्व है या हो सकता है, इसका स्पष्ट प्रतिपादन हमारे ग्रथो मे प्राय नही मिलता।

इसका मुख्य कारण, जैसा कि हम आगे चलकर स्पष्ट करेंगे, उस जीवित वातावरण के, जिसमें वेदो का प्रकाश हुआ था, नष्ट हो जाने पर, शनै.-शनै. अर्थ-हीन यान्त्रिक कर्मकाण्ड की दृष्टि के प्रसार के कारण "अनर्थका हि मन्त्राः"[1] (अर्थात्, वैदिक मत्रो का कोई अर्थ नही होता, वे यज्ञ मे पढने मात्र से फल देते है), इस अपसिद्धान्त का प्रचार ही हो सकता है।

उत्तरकालीन भारतीय दृष्टि

यद्यपि 'निरुक्त' जैसे ग्रथो में, अर्थ-ज्ञान-पूर्वक ही वेदो को पढना चाहिए,

---

१. देखिए 'निरुक्त' १।१५।

इस बात पर बडा बल दिया गया है[1], तो भी उत्तरकालीन वैदिक परम्परा में वैदिक मत्रो के विषय में इधर चिरकाल से,

(१) "**मन्त्राश्च कर्मकरणाः**" (आश्वलायन-श्रौतसूत्र १।१।२१),

(अर्थात्, मंत्रो का मुख्य उपयोग यही है कि वे कर्मकाण्ड में प्रयुक्त होते है),

तथा (२) "**अनर्थका हि मन्त्राः**" (निरुक्त १।१५)

इसी दृष्टि[2] का बोलबाला रहा है।

इसीलिए निरुक्त-कार यास्क के अनन्तर जो भी वेद-भाष्य-कार हुए है उनमे से प्राय सभी ने याज्ञिक दृष्टि के आधार पर ही अपनी-अपनी व्याख्याएँ लिखी है।

पूर्वमीमासा ने "**आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्**" (१।२।१) इस सूत्र मे स्पष्टतया यह स्वीकार किया है कि वेदो की उपयोगिता केवल कर्मकाण्ड की दृष्टि से है।

महाभाष्यकार **पतञ्जलि** ने '**पस्पशाह्निक**' मे व्याकरण-शास्त्र के अठारह प्रयोजन दिखलाये है। उनमे से अधिक का सबध वैदिक कर्मकाण्ड से ही है।

वेद के षडग प्रसिद्ध है। उनमें से 'कल्प' को वेदो का 'हाथ' माना गया है[3]। श्रौत तथा गृह्य कर्मों के प्रतिपादक 'कल्प' का स्पष्टतया वैदिक कर्मकाण्ड से ही सबध है।

वेदो के उत्तरकालीन भाष्यो में जहाँ कही वेद के प्रतिपाद्य विषय का और उसकी उपयोगिता का विचार किया गया है, वहाँ यही सिद्धान्त निर्धारित किया गया है कि वेद का वेदत्व इसी बात मे है कि उसके द्वारा हमें प्रधानतया उस वदिक कर्मकाण्ड का बोध होता है, जिसको हम प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा नही जान सकते[4]।

---

१. देखिए "**स्थाणुरयं भारहार· किलाभूदधीत्य वेद न·विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ।। यद् गृहीतमविज्ञात निगदेनैव शब्दचते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तज् ज्वलति कर्हिचित् ।।**" (निरुक्त १।१८)।

२. इस दृष्टि का स्पष्टीकरण हम आगे चलकर (**परिच्छेद ११ में**) करेगे।

३ देखिए—"**छन्द· पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठचते।**" (पाणिनीय-शिक्षा ४१)।

४ देखिए—"**प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न वुध्यते। एन विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ।। अत· कर्माणि वेदस्य विषय। तदवबोध प्रयोजनम्।**" (सायणाचार्य-कृत काण्व-सहिता-भाष्य की उपक्रमणिका)

मनुस्मृति में तो स्पष्ट शब्दो में कहा गया है कि यज्ञ की सिद्धि के लिए ही ऋग्वेदादि की प्रवृत्ति हुई थी[1]।

ऊपर के प्रमाणो से स्पष्ट है कि चिरकाल से हमारे देश में, भारतीय जीवन के लिए उपयोगी प्रेरणाग्रो या ग्रादर्शों की दृष्टि से वेदो का कोई महत्त्व हो सकता है, इसका प्राय. विचार ही नही किया गया।

पाश्चात्य दृष्टि

वर्तमान युग में पाश्चात्य विद्वानो का ध्यान वैदिक साहित्य की ग्रोर गया। वैदिक वाङमय के ग्रध्ययन के इतिहास में यह एक ग्रनोखी घटना थी। इससे सबसे बडा लाभ यह हुग्रा कि वेदो के ग्रध्ययन को सार्वभौम महत्त्व प्राप्त हो गया। पाश्चात्य विद्वानो ने वैदिक साहित्य के विषय में जो कार्य किया है वह कितना उपयोगी ग्रौर महान् है, यह वैदिक विद्वानो से छिपा नही है। उसके लिए वे हमारे भूरि-भूरि प्रशसा के पात्र है। परन्तु ऐसा होने पर भी वेदो के ग्रध्ययन के विषय में हमारी ग्रौर पाश्चात्य विद्वानो की दृष्टियो ग्रौर उद्देश्यो में इतना मौलिक ग्रन्तर है कि दोनो को तुलना के लिए ग्रावश्यक समान धरातल पर ही नही रखा जा सकता।

पाश्चात्य विद्वानो की दृष्टि ग्रौर उद्देश्य उस वैज्ञानिककी दृष्टि ग्रौर उद्देश्य के समान है जो रसायन-शाला मे दुग्ध जैसे उपयोगी पदार्थों का केवल परीक्षणार्थ विश्लेषण कर डालता है, या मृत शरीर की चीर-फाड करता है, या खुदाई से प्राप्त पुरातत्त्व-सवधी शिलालेख को पढने की चेष्टा करता है। वैज्ञानिक के लिए उन पदार्थों का ग्रपने-ग्रपने रूप में कोई मूल्य नही होता।

भारतीय दृष्टि ग्रौर उद्देश्य ठीक इसके विपरीत हैं। हम वेदो को कोरी उत्सुकता का विषय न समझ कर, उनको, न केवल भारतीय समाज, ग्रपितु मानव-समाज के लिए एक पथ-प्रदर्शक ग्रजर-ग्रमर साहित्य समझते है। इसीलिए जहाँ पाश्चात्य विद्वानो ने वेदो को भारतीय सस्कृति की जीवित परम्परा से पृथक् करके प्रायेण तुलनात्मक भाषा-शास्त्र, पुराण-विज्ञान (Mythology), मत-विज्ञान ग्रादि की दृष्टि से ही उनका ग्रध्ययन किया है, वहाँ हम जीवन के लिए प्रेरणाग्रो ग्रौर ग्रादर्शो की दृष्टि से ही वेदो का ग्रध्ययन करना चाहते है।

---

१ देखिए—"ग्रग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्धयर्थ-मृग्यजु सामलक्षणम् ॥" (मनुस्मृति १।२३)

हमारी दृष्टि

यह स्पष्ट है कि वेदो के विषय में उपर्युक्त दोनो, उत्तर-कालीन भारतीय तथा पाश्चात्य, दृष्टियो से हमें अपने प्रतिपादन में कोई विशेष सहायता नही मिल सकती। हमारा लक्ष्य तो यही है कि हम भारतीय सस्कृति की प्रगति की दृष्टि से वैदिक धारा के प्रारम्भिक युग में उसके स्वरूप को, उसके परिस्पन्दन को, तथा जातीय जीवन के लिए उसकी प्रेरणाओ और आदर्शों को समझ सकें।

इस प्रतिपादन में हमे न तो धर्मशास्त्र आदि में वर्णित वेदो की प्ररोचना-परक महिमा से मतलब है, न याज्ञिको के शुष्क-कर्मकाण्ड-परक वेद-विषयक गुण-गान से, और न तुलनात्मक विज्ञानो की दृष्टि से वैदिक विवेचन या विश्लेषण से। हम तो यहाँ वेद-मन्त्रो के ही शब्दो में उन उदात्त भावनाओ और महान् आदर्शों का दिग्दर्शन कराना चाहते है, जिनसे वेदो के मन्त्र ओत-प्रोत है।

हमारे मत में इसी रूप में वेद भारतीय सस्कृति की शाश्वत निधि है और मानवजाति के लिए सार्वभौम तथा सार्वकालिक सदेश के वाहक है।

नीचे हम क्रमश. इन्ही उदात्त भावनाओ और महान् आदर्शों को वेद-मन्त्रो के आधार पर सक्षेप में दिखाते हैं—

१—ऋत और सत्य की भावना

वैदिक उदात्त भावनाओ का मौलिक आधार ऋत और सत्य का व्यापक सिद्धान्त है। जिस प्रकार वैदिक देवता-वाद का लक्ष्य एकसूत्रीय परमात्म-(या अध्यात्म-) तत्त्व की अनुभूति है, इसी प्रकार ऋत और सत्य के सिद्धान्त का अभिप्राय सारे विश्व-प्रपञ्च में व्याप्त उसके नैतिक आधार से है। इस आधार के दो सिरे या रूप है। वाह्य जगत् की सारी प्रक्रिया विभिन्न प्राकृतिक नियमो के अधीन चल रही है। परन्तु उन सारे नियमो में परस्पर-विरोध न होकर एकरूपता या ऐक्य विद्यमान है। इसी को ऋत कहते है। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन के प्रेरक जो भी नैतिक आदर्श है, उन सब का आधार सत्य है। अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति सच्चा रहना, यही वास्तविक धर्म है[1]। परन्तु वैदिक आदर्श, इससे भी आगे बढ कर, ऋत और सत्य को एक ही मौलिक

---

१. देखिए—"वस्तुतोऽवस्तुतश्चापि स्वरूपं दृश्यते द्विधा। पदार्थाना, तयोर्मध्ये प्रायेण महदन्तरम्॥ आपाततस्तु यद्रूप पदार्थस्पर्शि नैव तत्। वस्तुतो वर्तमान तत्पदार्थाना स्वभावजम्॥" (रश्मिमाला २४।१-२)

तथ्य के दो रूप मानता है। इसके अनुसार मनुष्य का कल्याण प्राकृतिक नियमो और आध्यात्मिक नियमों में परस्पर अभिन्नता को समझते हुए उसके साथ अपनी एकरूपता के अनुभव में ही है।

यही ऋत और सत्य की भावना है। पुष्प में सुगन्ध के समान, अथवा दुग्ध में मक्खन के समान, वेद मे सर्वत्र यह भावना व्याप्त है[1]। स्पष्ट शब्दों मे भी ऋत और सत्य की महिमा का हृदयाकर्षक वर्णन वेदो में अनेक स्थलो पर पाया जाता है। उदाहरणार्थ,

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्
ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द
कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥
ऋतस्य दृळ्हा धरुणानि सन्ति
पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष
ऋतेन गाव ऋतमा विवेशु.॥
(ऋग्वेद ४।२३।८-९)

अर्थात्,

ऋत[2] अनेक प्रकार की सुख-शान्ति का स्रोत है,
ऋत की भावना पापो को विनष्ट करती है।
मनुष्य को उद्बोधन और प्रकाश देने वाली
ऋत की कीर्त्ति बहिरे कानो मे भी पहुँच चुकी है।
ऋत की जड़ें सुदृढ है,
विश्व के नाना रमणीय पदार्थों में
ऋत मूर्त्तिमान हो रहा है।

---

१. देखिए—"ऋत च सत्य चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।" (ऋग्० १०।१९०।१)। "ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा।" (ऋग्० १।२।८)। "ऋतेन ऋतं नियतमीळे" (ऋग्० ४।३।९)। "ऋतस्य तन्तुर्विततः" (ऋग्० ९।७३।९)। "ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति" (ऋग्० १०।८५।१)। "सा मा सत्योक्तिः परि पातु विश्वतः" (ऋग्० १०।३७।२)। "इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि" (यजुर्वद १।५)। "सत्य वदन् सत्यकर्मन्" (ऋग्० ९।११३।४)। "सत्यमुग्रस्य बृहतः" (ऋग्० ९।११३।५)।

२. ऋत अर्थात् प्राकृतिक नियम अथवा उनकी समष्टि।

ऋत के आधार पर ही अन्नादि खाद्य पदार्थों
की कामना की जाती है,
ऋत के कारण ही सूर्य-रश्मियाँ
जल में प्रविष्ट हो उसको ऊपर ले जाती है ।।

इसी प्रकार सत्य के विषय में भी गहरी और तीव्र आस्था वैदिक साहित्य म सर्वत्र पायी जाती है। जैसे,

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः ।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः ।।

(यजुर्वेद १९।७७)

अर्थात्, सृष्टिकर्ता परमेश्वर ने सत्य और असत्य के रूपो को देखकर पृथक्-पृथक् कर दिया है। उनमें से श्रद्धा की पात्रता सत्य में ही है, और अश्रद्धा की अनृत या असत्य में।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ।।

(यजुर्वेद १९।३०)

अर्थात्, व्रताचरण से ही मनुष्य को दीक्षा अर्थात् उन्नत जीवन की योग्यता प्राप्त होती है। दीक्षा से दक्षिणा अथवा प्रयत्न की सफलता प्राप्त होती है। दक्षिणा से अपने जीवन के आदर्शों मे श्रद्धा, और श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है।

वाच. सत्यमशीय (यजु० ३९।४)

अर्थात्, मै अपनी वाणी मे सत्य को प्राप्त करूँ।

देवा देवैरवन्तु मा।..सत्येन सत्यम् . (यजु० २०।११-१२)

अर्थात्, समस्त दैवी शक्तियाँ मेरी रक्षा करें और मुझे सत्य मे तत्पर रहने की शक्ति प्रदान करें।

सत्यं च मे श्रद्धा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजु० १८।५)

अर्थात्, यज्ञ द्वारा मै सत्य और श्रद्धा को प्राप्त करूँ।

ऋत और सत्य की उपर्युक्त भावना ही वास्तव में अन्य वैदिक उदात्त भावनाओ की जननी है। इस सारे विश्व-प्रपञ्च का सचालन शाश्वत नैतिक आधार पर हो रहा है, ऐसी धारणा मनुष्य में स्वभावत समुज्ज्वल आशावाद, भद्र-भावना, और आत्म-विश्वास को उत्पन्न किये विना नही रह सकती।

२—आशावाद की भावना

भारतीय विचार-धारा में चिरकाल से 'ससार असार है', 'जीवन क्षण-भगुर और मिथ्या है', इस प्रकार की निराशावादी भावनाओ का साम्राज्य रहा है। हमारी जाति के जीवन को शक्ति-हीन, उत्साह-हीन और आदर्श-हीन बनाने मे निराशावाद का बहुत बड़ा हाथ रहा है, यह कौन नही जानता?

मनुष्य के जीवन को सबसे अधिक नीचे गिराने वाली भावना निराशावाद की भावना है। निराशावाद से अभिभूत मनुष्य जीवन की किसी भी समस्या को सुलझाने में असमर्थ होता है। इसीलिए इसका बडा भारी महत्त्व है कि वैदिक धर्माचरण का सपूर्ण आधार ही आशावाद पर है। इसका अभिप्राय यही है कि मनुष्य को अपने जीवन में पूर्ण आस्था रखते हुए उत्तरोत्तर उन्नति का ही लक्ष्य रखना चाहिए और उत्साहपूर्वक समस्त विघ्न-बाधाओ पर विजय प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए।

वैदिक साहित्य आशावाद की ओजपूर्ण, उत्साहमय तथा उल्लासमय भावना से ओत-प्रोत है। जैसे,

कृधी न ऊर्ध्वाञ्‌ चरथाय जीवसे (ऋग्० १।३६।१४)।

अर्थात्, भगवन्! जीवन-यात्रा में हमें समुन्नत कीजिए।

विश्वदानी सुमनस. स्याम
पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्। (ऋग्० ६।५२।५)

अर्थात्, हम सदा प्रसन्न-चित्त रहते हुए उदीयमान सूर्य को देखें।

अदीना· स्याम शरदः शत
भूयश्च शरदः शतात् (यजु० ३६।२४)

अर्थात्, हम सौ वर्ष तक और उससे भी अधिक समय तक दैन्य-भाव से अपने को दूर रखें।

मदेम शतहिमाः सुवीराः (अथर्व० २०।६३।३)

अर्थात्, हमारी सन्तान वीर हो और हम अपने पूर्ण जीवन को प्रसन्नतापूर्वक ही व्यतीत करें।

निम्नलिखित मत्र में उत्साहमय ओजपूर्ण जीवन का सुन्दर चित्र दिया गया है—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि,
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि,

वलमसि बलं मयि धेहि,
ओजोऽस्योजो मयि धेहि,
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि,
सहोऽसि सहो मयि धेहि (यजु० १९।९)।

अर्थात्,

मेरे आदर्श देव !

आप तेज-स्वरूप है, मुझमें तेज को धारण कीजिए !
आप वीर्य-रूप है, मुझे वीर्यवान् कीजिए !
आप बल-रूप है, मुझे बलवान् बनाइए !
आप ओज-स्वरूप है, मुझे ओजस्वी बनाइए !
आप मन्यु[1]-रूप है, मुझमें मन्यु को धारण कीजिए !
आप सहस्[2]-स्वरूप है, मुझे सहस्वान् कीजिए !

जीवन के विषय में जैसी उत्कृष्ट आस्था वेद-मन्त्रो में पायी जाती है, वैसी ससार के किसी भी अन्य साहित्य मे नही मिलेगी। उदाहरणार्थ नीचे के जीवन-संगीतक को ही देखिए—

जीवेम शरदः शतम्।
बुध्येम शरदः शतम्।
रोहेम शरदः शतम्।
पूषेम शरदः शतम्।
भवेम शरदः शतम्।
भूषेम शरद. शतम्।
भूयसी· शरद. शतात्॥ (अथर्व० १९।६७।२-८)

अर्थात्, हम सौ और सौ से भी अधिक वर्षों तक जीवन-यात्रा करे, अपने ज्ञान को वरावर वढाते रहे, उत्तरोत्तर उत्कृष्ट उन्नति को प्राप्त करते रहे, पुष्टि और दृढता को प्राप्त करते रहें, आनन्दमय जीवन व्यतीत करते रहें, और समृद्धि, ऐश्वर्य तथा गुणो से अपने को भूषित करते रहें।

मनुष्य-जीवन मे एक नवीन स्फूर्ति, नवीन विद्युत् का सचार करने वाले ऐसे ही अमृतमय प्राण-सजीवन वचनो से वैदिक साहित्य भरा पडा है।

---
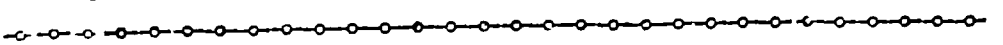
१. मन्यु=अनौचित्य को देख कर होने वाला क्रोध।
२ सहस्=विरोधी पर विजय पाने मे समर्थ शक्ति और वल।

वैदिक साहित्य की उपर्युक्त आशावाद की भावना का वर्णन हम अपने शब्दो में इस प्रकार कर सकते है—

आशा सर्वोत्तमं ज्योतिः ।

निराशायाः समं पाप मानवस्य न विद्यते ।
ता समूलं समुत्सार्य ह्याशावादपरो भव ॥१॥
मानवस्योन्नतिः सर्वा साफल्यं जीवनस्य च ।
चारितार्थ्यं तथा सृष्टेराशावादे प्रतिष्ठितम् ॥२॥
आशा सर्वोत्तमं ज्योतिर्निराशा परम तमः ।
तस्माद् गमय तज्ज्योतिस्तमसो मामिति श्रुतिः ॥३॥
आस्तिक्यमात्मविश्वास कारुण्यं सत्यनिष्ठता ।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षो नूनमाशावतामिह ॥४॥
निराशावादिनो मन्दा निष्ठुराः सशयालवः ।
अन्धे तमसि मग्नास्ते श्रुतावात्महनो मता ॥५॥ (रश्मिमाला ११।१-५)

अर्थात्, मनुष्य के लिए निराशा के समान दूसरा पाप नही है। इसलि मनुष्य को चाहिए कि वह पाप-रूपिणी निराशा को समूल हटा कर आशावादी बने ॥१॥

मनुष्य की सारी उन्नति, जीवन की सफलता और सृष्टि की चरितार्थता आशावाद में ही प्रतिष्ठित है ॥२॥

आशा सबसे उत्कृष्ट प्रकाश है। निराशा घोर अन्धकार है। इसीलिए श्रुति में कहा गया है—"तमसो मा ज्योतिर्गमय" (बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।२८)। अर्थात्, भगवन्! मुझे अधकार से प्रकाश की ओर ले चलिए ॥३॥

जीवन मे आदर्श-भावना, आत्म-विश्वास, कारुण्य, सत्य-परायणता और उत्तरोत्तर समुन्नति, ये बातें आशावादियो में ही पायी जाती है ॥४॥

परन्तु निराशावादी लोग स्वभाव से ही उदात्त भावनाओ से विहीन, निष्ठुर (=असवेदनशील) और सशयालु होते है। वेद मे ऐसे ही लोगो को प्रेरणा-विहीन अज्ञानान्धकार मे निमग्न, तथा आत्म-विस्मृति-रूप आत्म-हत्या करने वाला कहा गया है[1] ॥५॥

---
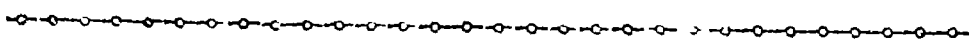
१ देखिए—"असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता । ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जना ॥" (यजु० ४०।३)। अर्थात्, आत्मत्व या आत्मचेतना की विस्मृति-रूप आत्महत्या (=जीवन मे आदर्श-भावना का अभाव) किसी भी प्रकार की प्रेरणा से विहीन अज्ञानान्धकार मे गिरा कर सर्वनाश का हेतु होती है।

३—पवित्रता की भावना

सामान्य रूप से मनुष्यो की प्रवृत्ति बहिर्मुख हुआ करती है। सामान्य मनुष्य बाह्य लौकिक पदार्थों की प्राप्ति में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेता है। व्यावहारिक जीवन को छोड कर, यज्ञ, दान, तप आदि के धर्माचरण में भी उसका लक्ष्य प्राय लोक या परलोक में सुख के उपभोग की सामग्री की प्राप्ति ही हुआ करता है।

ऐसा होने पर भी, मानव के विकास में एक स्थिति ऐसी आती है जब वह अपने जीवन की सफलता का मूल्याकन लौकिक पदार्थों या ऐश्वर्य की प्राप्ति में उतना नही करता, जितना कि अपने भावो की पवित्रता और चरित्र की दृढता में करता है। इसके लिए अन्त समीक्षण या आत्म-परीक्षण की आवश्यकता होती है। इसकी योग्यता बिरले लोगो में ही होती है[1]। पर यह मानी हुई बात है कि **"आत्म-परीक्षण हि नाम मनुष्यस्य प्रथमं समुन्नतेर्मूलम्"** (प्रबन्ध-प्रकाश, भाग २, पृ० ६९), अर्थात्, आत्म-परीक्षण ही मनुष्य की वास्तविक उन्नति का मूल है।

भगवद्गीता का बडा भारी महत्त्व इसी बात में है कि वह मनुष्य के प्रत्येक कर्तव्य-कर्म का परीक्षण भावात्मक भित्ति के आधार पर ही करती है। उसके अनुसार हमारे प्रत्येक धार्मिक या नैतिक कर्म का महत्त्व हमारे भावो की पवित्रता पर ही निर्भर है। गीता के अनुसार मनुष्य के लिए भाव-सशुद्धि का अद्वितीय मौलिक महत्त्व है[2]।

उपर्युक्त दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्व की बात है कि वैदिक मत्रो की एक प्रधान विशेषता **पवित्रता की तीव्र भावना** है। पाप (या पाप्मन्) का नाश, दुरित का क्षय, सच्चरित्रता की प्राप्ति, अथवा पवित्र सकल्पो आदि की प्रार्थना के रूप में पवित्रता की तीव्र भावना शतश. वैदिक मत्रो में पायी जाती है। उदाहरणार्थ,

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेद पुनीहि मा ॥ (यजु० १९।३९)

अर्थात्, हे सर्वव्यापक देव, आप मुझको पवित्र कीजिए, और ऐसा अनुग्रह कीजिए जिससे समस्त देव-जन, मेरे विचार और कर्म तथा सब अन्य पदार्थ भी मेरी पवित्रता की भावना में मेरे सहायक हो सकें।

---

१. देखिए—"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् कश्चिद् धीर प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥" (कठ उपनिषद् २।१।१)

२ देखिए—"भावसशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते" (गीता १७।१६)

..देव सवितः...मा पुनीहि विश्वतः। (यजु० १६।४३)

अर्थात्, हे सवितृ-देव! मुझे सब प्रकार से पवित्र कीजिए।

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
अथो अरिष्टतातये॥ (अथर्व० ६।१६।२)

अर्थात्, पवित्रता-सपादक पवमान-देव मुझे बुद्धि, शक्ति, जीवन और निरापद आत्म-रक्षा के लिए पवित्र करें।

इसी प्रकार चरित्र की शुद्धता की भावना अनेकत्र वेद-मन्त्रो में पायी जाती है। उदाहरणार्थ,

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज।
(यजु० ४।२८)

अर्थात्, हे प्रकाश-स्वरूप देव! मुझे दुश्चरित से बचा कर सुचरित में स्थापित कीजिए।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद्भद्रं तन्न आ सुव॥ (यजु० ३०।३)

अर्थात्, हे देव सवित! आप हमारे सब पापाचरणो को हम से दूर कीजिए और जो कल्याण हो उसे हमें प्राप्त कराइए।

इसी प्रकार भाव-सशुद्धि या सकल्पो की पवित्रता की प्रार्थना भी अनेकानेक मन्त्रो मे पायी जाती है। उदाहरणार्थ,

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्
नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिर जविष्ठ
तन्मे मन. शिवसकल्पमस्तु॥ (यजु० ३४।६)

अर्थात्, निपुण सारथि जैसे रास द्वारा घोडो को चलने के लिए बराबर प्रेरित करता है और नियन्त्रित भी करता है, वैसे ही मनुष्यो को कार्यों में प्रवृत्त करने वाला और नियन्त्रण में रखने वाला, हृदय में विशेष रूप से प्रतिष्ठित, जरा से रहित और अत्यन्त गति-शील जो मेरा मन है वह शुभ और शान्त सकल्प वाला हो!

इसी प्रकार, पाप-मोचन, पाप-नाशन, अथवा निष्पाप-भावना की गम्भीर ध्वनि शतश. वैदिक मन्त्रो में प्रतिध्वनित हो रही है। भिन्न-भिन्न देवता या देवताओ को सबोधित करके—"स नो मुञ्चत्वंहस.", "तौ नो मुञ्चतमहस.", "ते नो मुञ्चन्त्वहस." (अर्थात्, वह, वे दोनो, अथवा वे हमको पाप से

मुक्त करें), इस प्रकार की विनम्र प्रार्थना अथर्ववेद के (४।२३-२९) सूक्तो में तथा अन्य वैदिक मन्त्रो मे बराबर पायी जाती है। नीचे हम इसी विषय की एक सुन्दर वैदिक गीतिका को देकर इस विषय को समाप्त करते हैं।

अप न शोशुचदघम् ।

अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम् ।
अप नः शोशुचदघम् ।।१।।
सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे ।
अप न. शोशुचदघम् ।।२।।
प्र यद्भन्दिष्ठ एषा प्रास्माकासश्च सूरयः ।
अप नः शोशुचदघम् ।।३।।
प्र यत्ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम् ।
अप नः शोशुचदघम् ।।४।।
प्र यदग्ने. सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः ।
अप नः शोशुचदघम् ।।५।।
त्वं हि विश्वतोमुख ! विश्वतः परिभूरसि ।
अप न. शोशुचदघम् ।।६।।
द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय ।
अप न शोशुचदघम् ।।७।।
स न. सिन्धुमिव नावयाति पर्षा स्वस्तये ।
अप नः शोशुचदघम् ।।८।। (ऋग्० १।९७।१-८)

अर्थात्, भगवन् ! हमारे पाप को भस्म कर दीजिए !

१ प्रकाशस्वरूप देव ! हमारे पाप को भस्म कर हमारी सद्‌गुण-सपत्ति को प्रकाशित कीजिए। हम वार-वार प्रार्थना करते है कि हमारे पाप को भस्म कर दीजिए।

२ उन्नति के लिए समुचित क्षेत्र, जीवन-यात्रा के लिए सन्मार्ग और विविध ऐश्वर्यों की प्राप्ति की कामना से हम आपका यजन करते है। आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिए।

३. भगवन् ! आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिए, जिससे कि हम और साथ ही हमारे तत्त्वदर्शी विद्वान् भी विशेपत सुख और कल्याण के भाजन वन सके।

४. प्रकाश-स्वरूप देव ! आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिए, जिससे कि हम आपके गुणो का गान करते हुए जीवन में उत्तरोत्तर समुन्नति को प्राप्त कर सकें।

५ भगवन् ! आप विघ्न-बाधाओ को दूर करने वाले हैं। आपके प्रकाश की किरणें सर्वत्र फैल रही हैं। आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिए।

६. हे समस्त विश्व के द्रष्ट ! आप ही सब ओर से हमारे रक्षक हैं। हमारे पाप को भस्म कर दीजिए।

७ हे विश्वसाक्षिन् ! जैसे नाव से नदी को पार करते हैं, इसी प्रकार आप हमें विघ्न-बाधाओ और विरोधियो से पार कर विजय प्रदान कीजिए। आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिए।

८ उपर्युक्त महिमाशाली भगवन् ! नाव से जैसे नदी को पार किया जाता है, इसी प्रकार आप हमें कल्याण-प्राप्ति के लिए वर्तमान परिस्थिति से ऊपर उठने की क्षमता प्रदान कीजिए। हमारे पाप को भस्म कर दीजिए।

पवित्रता या पाप-विनाशन की भावना का यह प्रवाह वास्तव में वैदिक धारा की एक अद्वितीय विशेषता है।

पवित्रता की भावना तथा अपने को निष्पाप बनाने की उत्कट कामना से परिप्लुत ऐसे ही सैकडो वेद-मन्त्र वास्तव में वैदिक धारा की शाश्वत निधि हैं। नैतिक दुर्बलताओ से अभिभूत, मोह-ग्रस्त मनुष्य के लिए वे मार्ग-प्रदर्शक तथा प्राणप्रद सूर्य-प्रकाश के समान हैं।

४—भद्र-भावना

वैदिक मन्त्रो की एक दूसरी अनोखी विशेषता उनकी भद्र-भावना है।

मनुष्य स्वभाव से सुख के लोभ और दु ख के भय से किसी काम में प्रवृत्त या उससे निवृत्त होता है। परन्तु वास्तविक कर्तव्य या धर्म की भावना मे सुख-दु ख की भावना का कोई स्थान नही होता। उसमें तो सुख और दु.ख के ध्यान को बिलकुल छोड कर (सुखदु:खे समे कृत्वा) विशुद्ध कर्तव्य-बुद्धि से ही काम करना होता है। वास्तविक भद्र-भावना या कल्याण-भावना यही है।

यह कल्याण-भावना भोगैश्वर्य-प्रसक्त, इन्द्रिय-लोलुप, या समयानुकूल अपना काम निकालने वाले आदर्शहीन व्यक्तियो की वस्तु नही है। इसके स्वरूप को तो वही समझ सकता है, जिसका यह विश्वास है कि उसका सत्य बोलना, सयत जीवन, आपत्तियो के आने पर भी अपने कर्तव्य से मुह न मोडना, उसके स्वभाव, उसके व्यक्तित्व के अन्तस्तम स्वरूप की आवश्यकता है। जैसे एक पुष्प का

सौन्दर्य और सुगन्ध, किसी बहिरग कारण से न हो कर, उसके स्वरूप का अग है; ऐसे ही एक कल्याण-मार्ग के पथिक का निरपेक्ष या अनासक्त हो कर कर्तव्य-पालन उसके स्वरूप का अग है, उसके जीवन का सार्थक्य जीवन की पूर्णाङ्गता इसी में है। गीता की सात्त्विक भक्ति और निष्काम कर्म के मूल में यही आशामय, श्रद्धामय कल्याण-भावना निहित है।

आशावाद-मूलक गीता की कल्याण-भावना और वैदिक भद्र-भावना, हमारे मत मे, दोनो एक ही पदार्थ है। दोनो के मूल में आशावाद है, और दोनो का लक्ष्य मनुष्य को सतत कर्तव्यशील वनाना है।

मानव को परमोच्च देव-पद पर विठाने वाली यह भद्रभावना वैदिक प्रार्थनाओ मे प्राय देखने मे आती है। जैसे—

यद् भद्रं तन्न आ सुव (यजु० ३०।३)

अर्थात्, भगवन्! जो भद्र या कल्याण है, उसे हमें प्राप्त कराइए।

भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि (ऋग्० १०।३७।६)

अर्थात्, भद्र-या कल्याण-मार्ग पर चलते हुए हम पूर्ण जीवन को प्राप्त करे।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः (यजु० २५।२१)

अर्थात्, हे यजनीय देवगण! हम कानो से भद्र को सुनें और आँखो से भद्र को देखें।

भद्रं नो अपि वातय मन. (ऋग्० १०।२०।१)

अर्थात्, भगवन्! प्रेरणा कीजिए कि हमारा मन भद्र-मार्ग का ही अनुसरण करे।

भद्रं-भद्रं न आ भर (ऋग्० ८।९३।२८)

अर्थात्, भगवन्! हमें वरावर भद्र की प्राप्ति कराइए।

आ नो भद्रा. क्रतवो यन्तु विश्वतोऽ-
दब्धासो अपरीतास उद्भिदः। (यजु० २५।१४)

अर्थात्, हमको ऐसे भद्र अथवा कल्याणकारी सकल्प सब प्रकार से प्राप्त हो जो अविचल हो, जिनको साधारण मनुष्य नही समझते और जो हमें उत्तरोत्तर उन्नति की ओर ले जाने वाले हो!

इत्यादि वैदिक प्रार्थनाएँ भद्र-भावना की ही उदाहरण है।

५—आत्म-विश्वास की भावना

वैदिक स्तोता के स्वरूप को दिखाते हुए हमने ऊपर (परिच्छेद ६ में) कहा है, "वह जीवन की वास्तविक परिस्थिति को खूब समझता है, पर उससे घबडाता नही है। उसकी हार्दिक इच्छा यही रहती है कि वह उसका वीरता-पूर्वक सामना करे। वह ससार मे परिस्थितियो का स्वामी, न कि दास, हो कर जीवन व्यतीत करना चाहता है।"

ऋत और सत्य की भावना और आशावाद की भावना का स्वाभाविक परिणाम आत्म-सम्मान या आत्म-विश्वास की भावना के रूप में होता है। इस सारे विश्व-प्रपञ्च का सचालन शाश्वत नैतिक आधार पर हो रहा है, और साथ ही मनुष्य के सामने उसकी अनन्त उन्नति का मार्ग निर्बाध खुला हुआ है, ऐसी धारणा मनुष्य में स्वभावत· आत्म-विश्वास की भावना को उत्पन्न किये विना नही रह सकती।

यह आत्म-विश्वास की भावना स्पष्टत अनेकानेक वैदिक मन्त्रो में ही नही, सूक्तो में भी, पायी जाती है। जैसे—

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशा विषासहि.॥

(अथर्व० १२।१।५४)

अर्थात्, मै[1] स्वभावत विजय-शील हूँ। पृथ्वी पर मेरा उत्कृष्ट पद है। मै विरोधी शक्तियो को परास्त कर, समस्त विघ्न-बाधाओ को दबा कर प्रत्येक दिशा में सफलता को पाने वाला हूँ।

अहमस्मि सपत्नहेन्द्र इवारिष्टो अक्षत.।
अध. सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठिता॥

(ऋग्० १०।१६६।२)

अर्थात्, मै शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने वाला हूँ। इन्द्र के समान मुझे न तो कोई मार सकता है, न पीडित कर सकता है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो मेरे समस्त शत्रु यहाँ मेरे पैरो-तले पडे हुए है[2]।

मह्यं नमन्ता प्रदिशश्चतस्रः (ऋग्० १०।१२८।१)

---

१ ऐसे सब मन्त्रो मे "मै" से अभिप्राय मानवमात्र का है।

२ तु० "इन्द्रोऽहमिन्द्रकर्माहम् अरातीना वधोऽस्म्यहम्। तेषा बाधास्तिरस्कृत्य पद मूर्ध्नि दधाम्यहम्॥" (रश्मिमाला ६।१)

अर्थात्, मेरे लिए सब दिशाएँ झुक जाएँ। अर्थात्, प्रत्येक दिशा में मुझे सफलता प्राप्त हो।

अहमिन्द्रो न पराजिग्ये (ऋग्० १०।४८।५)

अर्थात्, मैं इन्द्र हूँ, मेरा पराजय नही हो सकता।

यशा विश्वस्य भूतस्या-
हमस्मि यशस्तम. (अथर्व०' ६।५८।३)

अर्थात्, जगत् के समस्त उत्पन्न पदार्थों में मै सबसे अधिक यश वाला हूँ। अर्थात्, मनुष्य का स्थान जगत् के समस्त उत्पन्न पदार्थों से ऊँचा है[1]।

अदीनाः स्याम शरद· शतम्। भूयश्च शरद· शतात्।
(यजु० ३६।२४)

अर्थात्, हम सौ वर्ष तक और उससे भी अधिक काल तक दैन्य से दूर रहे[2]।

मा भेः, मा सविक्थाः (यजु० १।२३)

अर्थात्, तू न तो भीरु बन, न उद्विग्नता को प्राप्त हो।

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यत.।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥
यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यत।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥" (अथर्व० २।१५।१,३)

अर्थात्, जैसे द्युलोक और पृथिवी अपने-अपने कर्तव्य के पालन मे न तो डरते है, न कोई उनको हानि पहुँचा सकता है, इसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू भी भय को न प्राप्त हो।

जैसे सूर्य और चन्द्रमा न तो भय को प्राप्त होते है, न कोई उनको हानि पहुँचा सकता है, इसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू भी भय को न प्राप्त हो।

इसी प्रकार आत्म-विश्वास अथवा आत्म-समान की भावना के परिचायक और परिपोषक शतश मत्र और सूक्त वैदिक सहिताओ मे पाये जाते है। नि सन्देह वे सब वैदिक धारा की एक महान् विशेपता है।

---

१ इस्लाम की परपरा में मनप्य को 'अशरफ-उल-मखलूकात्' (=सब उत्पन्न पदार्थों में श्रेप्ठ) कहा गया है। वही वात इस मत्र में कही गयी है।

२ तु० "दृष्ट्वाप्यनन्तप्रसरा मानवो गतिमात्मन। आश्चर्य मूढतादोपाद् दीन हीन च मन्यते॥" (रश्मिमाला १६।१)।

नवाँ परिच्छेद

वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि

भारतीय सस्कृति के विकास में वैदिक धारा के बहुमुखी, व्यापक तथा शाश्वतिक प्रभाव की चर्चा हम परिच्छेद ५ में कर चुके हैं। इसका स्पष्टीकरण हम अगले परिच्छेद में करेंगे।

उक्त बहुमुखी, व्यापक तथा शाश्वतिक प्रभाव का मूल **वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि** मे ही हो सकता है। यहाँ हम उसी व्यापक दृष्टि को सक्षेप में दिखलाना चाहते हैं।

परम्परा-प्राप्त भारतीय दृष्टि

प्राचीन भारतीय वाङमय में वेदो की महिमा अनेक प्रकार से गायी गयी है। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति के निम्ननिर्दिष्ट वचनो को देखिए—

सुखाभ्युदयिक चैव नै.श्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्त च निवृत्त च द्विविधं कर्म वैदिकम्॥ (१२।८८)

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षु. सनातनम्।
अशक्य चाप्रमेय च वेदशास्त्रमिति स्थिति.॥ (१२।९४)

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमा. पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्व वेदात्प्रसिद्धयति॥ (१२।९७)

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्य च वेदशास्त्रविदर्हति॥ (१२।१००)

अर्थात्, वैदिक धर्माचरण से मनुष्य अभ्युदय और निःश्रेयस, अथवा लौकिक स्वस्थ सुख और आध्यात्मिक कल्याण (उत्तरकालीन शब्दो में, भुक्ति और मुक्ति), दोनो की प्राप्ति कर सकता है[1] ।।८८।। पितृ-कर्म, देव-कर्म और मनुष्यो के प्रति कर्तव्य कर्मो के विषय मे वेद सनातन काल से बराबर मार्ग-प्रदर्शक रहा है। वेद को न तो कोई (एक व्यक्ति) बना सकता है, न पूर्णत जान सकता है। ।।९४।। ब्राह्मण आदि चारो वर्ण, पृथ्वी आदि तीनो लोक तथा ब्रह्मचर्य आदि चारो आश्रम, इनका आधार वेद ही है। तथा भूत, भविष्य और वर्तमान तीनो कालो में वेद मनुष्य-जीवन के लिए प्रेरणा देने वाला है[2] ।।९७।। वेदज्ञ विद्वान् मे सेनापतित्व, राज्य-शासन, दण्डाधिकारित्व अथवा समस्त पृथ्वी का नेतृत्व जैसे दुष्कर कार्यों के भार को उठाने की क्षमता होती है ।।१००।।

इसीलिए वेद को अत्यन्त व्यापक अर्थो में धर्म का एकमात्र मूल माना गया है। जैसे—

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् । (मनुस्मृति २।६)

अर्थात्, धर्माचरण का मूल आधार वेद ही है।

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ।। (मनु० २।७)

अर्थात्, मनु ने जिस धर्म का प्रतिपादन (मनुस्मृति मे) किया है, वह सब वेदमूलक है, क्योकि वेद सर्व-ज्ञानमय है।

धर्मं जिज्ञासमानाना प्रमाणं परमं श्रुति.। (मनु० २।१३)

अर्थात्, जो धर्म को जानना चाहते है उनके लिए वेद ही सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। क्योकि,

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृति.।
ते सर्वार्थेष्वमीमास्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ।। (मनु० २।१०)

अर्थात्, श्रुति (=वेद) और तदनुसारिणी स्मृति (=धर्मशास्त्र) से ही धर्म का प्रादुर्भाव हुआ है। इनके प्रतिपाद्य विषयो में कुतर्कणा नही करनी चाहिए।

---

१. तु० "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि. स धर्म." (वैशेषिकसूत्र १।१।२)।
२. तु० "तया (=श्रुत्या) वर्णाश्रमाचार प्रवृत्तो वेदवित्तमा !" (सूतसहिता १।१।४९)।

ऊपर के वचनो का अभिप्राय यही है कि अवस्था, अधिकार, स्थान, सबध आदि के भेद से मनुष्य के जीवन में जो विभिन्न प्रसग उपस्थित होते हैं, उन सब की दृष्टि से मार्ग-प्रदर्शन की क्षमता का होना, वैदिक धारा की मुख्य विशेषता सदा से रही है। दूसरे शब्दो में, मनुष्य-जीवन के कर्तव्यो के विषय में वैदिक धारा का दृष्टि-कोण, एकागी या एकदेशी न हो कर, सदा से व्यापक रहा है। इसीलिए विभिन्न प्रतिकूल परिस्थितियो मे भी वह, लुप्त या नष्ट न हो कर, अपने को अब तक जीवित रख सकी है। यही उसके भारतीय सस्कृति के विकास में व्यापक तथा शाश्वतिक प्रभाव का रहस्य है।

उपर्युक्त वचनो मे 'वेद' और 'स्मृति' से स्पष्टत अभिप्राय वैदिक धारा के वेद, ब्राह्मण आदि समस्त वाङ्मय से है, जिसका वर्णन हम परिच्छेद ५ में कर चुके है। वैदिको की परिभाषा[1] के अनुसार वेद के मत्र-भाग और ब्राह्मण-भाग, दोनो के लिए, 'वेद' शब्द का प्रयोग चिरकाल से भारतीय साहित्यिक परपरा में चला आया है। 'स्मृति' या 'धर्म-शास्त्र' नाम से आजकल प्रसिद्ध ग्रथो का निर्माण भी वैदिक धर्म-सूत्रो के आधार पर ही हुआ था।

हमारी दृष्टि

ऊपर की व्याख्या से स्पष्ट हो गया होगा कि वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि के विषय में परपरागत प्राचीन दृष्टि और हमारी अपनी दृष्टि मे वास्तव मे कोई गहरा भेद नही है। कार्यत दोनो का अभिप्राय एक-जैसा ही है। जो थोडा-सा भेद है, वह वही है जो किसी भी विषय में साम्प्रदायिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोणो मे होना स्वाभाविक है।

परपरागत प्राचीन दृष्टि के अनुसार वेद स्वय अपौरुषेय, अतएव अनादि और नित्य है, और इसीलिए वेद-मूलक धर्म भी सनातन तथा अपरिवर्तनशील है। उसके सबध में किसी प्रकार के क्रमिक विकास और ह्रास के विचार के लिए कोई स्थान ही नही हो सकता।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार, अन्य मानवीय सस्थाओ के सदृश ही[2], वैदिक विचारधारा भी हमारे ऐतिहासिक अन्वेषण और गवेषणा का विषय है। वैदिक धारा के क्रमिक विकास में उसकी तीन अवस्थाओ का दिग्दर्शन हम

१ देखिए—"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" (आपस्तम्बयज्ञपरिभाषासूत्र ३१)।

२ तु०—"यच्चापि लौकिक वस्तु सस्था आचारपद्धति। भावै. संप्रेरितस्यैव मानवस्येह सा कृति॥" (रश्मिमाला २८।२)

परिच्छेद ७ में करा चुके हैं। उससे यह स्पष्ट है कि, वैदिक वाङ्मय के सदृश ही, वैदिक विचार-धारा का भी विभिन्न परिस्थितियो के कारण क्रमिक विकास हुआ था। ऐसी दशा में भारतीय सस्कृति के इतिहास मे उसके बहुमुखी, व्यापक और शाश्वतिक प्रभाव को न तो हम वेद को अपौरुषेय अथवा अनादि और नित्य मान कर और न वेद-मूलक धर्म को सनातन और अपरिवर्तनशील मान कर समझा सकते है। उसके लिए तो विभिन्न परिस्थितियो में से गुज़रती हुई सतत विकासशील वैदिक धारा की अपनी विशिष्ट प्रवृत्तियो और व्यापक दृष्टि का अध्ययन आवश्यक है।

भारतीय सस्कृति के उस अतिप्राचीनकाल मे वैदिक धारा की भव्य उदात्त भावनाएँ, जिनका दिग्दर्शन हम पहले करा चुके हैं, और मनुष्य-जीवन के कर्त्तव्यो के विषय में उसकी व्यापक दृष्टि, जिसका स्पष्टीकरण हम यहाँ करना चाहते हैं, वास्तव मे एक महान् आश्चर्य और विस्मय की वस्तु है। पृथ्वी भर की सभ्यता के इतिहास मे वे अद्वितीय और अनुपम है। उनको देख कर सहसा **भगवद्गीता** का यह पद्य सामने उपस्थित हो जाता है—

> **आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-**
> **माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।**
> **आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति**
> **श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥** (गीता २।२९)

इसमें सन्देह नही कि उत्तरकाल की विभिन्न धाराओ से भी, जैसा हम आगे क्रमश दिखाएँगे, भारतीय सस्कृति का समय-समय पर महान् उपकार हुआ है, तो भी मानवीय जीवन के लिए उपयोगी महान् प्रेरणाओ और आदर्शों की दृष्टि से, तथा विभिन्न परिस्थितियो में आदर्शवाद की रक्षा के साथ-साथ आत्म-रक्षा तथा लौकिक अभ्युदय की सफलता की दृष्टि से वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि न केवल हम भारतीयो के लिए सदा गर्व और गौरव की वस्तु रहेगी, अपितु मानव-जाति के लिए भी सार्वभौम तथा सार्वकालिक सदेश की वाहक रहेगी।

उसी व्यापक दृष्टि को हम नीचे जीवन के विभिन्न क्षेत्रो को ले कर क्रमशः दिखाने का यत्न करेंगे—

धार्मिक चिन्तन

वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि का सबसे उत्कृष्ट और आश्चर्यकारक उदाहरण उसके धार्मिक चिन्तन का विश्व-व्यापी आधार है। ऊपर हम ऋत और सत्य की भावना (परिच्छेद ८) तथा वैदिक स्तोता के स्वरूप (परिच्छेद ६) की

व्याख्या करते हुए वैदिक धारा के विश्वव्यापी अत्यन्त विशाल दृष्टिकोण का उल्लेख कर चुके हैं।

छोटे-छोटे देश, जाति या वर्ग के सकीर्ण हित में ही आस्था रखने वाले आज के सभ्यताभिमानी मानव को वैदिक धारा की विश्व-व्यापिनी दृष्टि आश्चर्य में डाले विना नही रह सकती।

द्युलोक को पिता और पृथिवी को माता[1] समझने वाला वैदिक स्तोता अपने को मानो इस विशाल विश्व का ही अधिवासी समझता है। इसीलिए उसकी स्तुतियो और प्रार्थनाओ में बार-बार न केवल द्यावा-पृथिवी और अन्तरिक्ष, इन तीन लोको का ही, अपितु इनसे भी परे स्व और नाक जैसे लोको का भी उल्लेख पाया जाता है।

उदाहरणार्थ,

> **येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा**
> **येन स्वः स्तभित येन नाकः।**
> **यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः**
> **कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।** (ऋग्० १०।१२१।५)

अर्थात्, जिस दैवी शक्ति ने इस विशाल द्युलोक को, इस पृथिवी को, स्वर्लोक और नाक-लोक को अपने-अपने स्वरूप में स्थिर कर रखा है और जो अन्तरिक्ष-लोक मे भी व्याप्त हो रही है उसको छोड कर हम किस देव की पूजा करें? अर्थात्, हमको उसी महाशक्ति-रूपिणी देवता की पूजा करनी चाहिए।

वैदिक प्रार्थनाओ का क्षेत्र कितना विस्तृत और विशाल है, इसका ही एक दूसरा उदाहरण यह है—

> द्यौ. शान्तिरन्तरिक्ष ँ्शान्ति. पृथिवी
> शान्तिराप शान्तिरोषधय शान्तिः।
> वनस्पतय शान्तिर्विश्वे देवा. शान्ति-
> र्ब्रह्म शान्तिः सर्व ँ्शान्ति शान्ति-
> रेव शान्ति· सा मा शान्तिरेधि ।। (यजु० ३६।१७)

अर्थात्, मेरे लिए द्युलोक, अन्तरिक्ष-लोक और पृथिवी-लोक सुख-शान्ति-दायक हो; जल, ओषधियाँ और वनस्पतियाँ शाति देनेवाली हो, समस्त देवता, ब्रह्म

---

१ तु०—"द्यौर्मे पिता जनिता मे माता पृथिवी महीयम्"
(ऋग० १।१६४।३३)

ग्रौर सब कुछ शान्तिप्रद हो। जो शान्ति विश्व मे सर्वत्र फैली हुई है, वह मुझे प्राप्त हो। मै बराबर शान्ति का ग्रनुभव करूँ[1]।

कैसी दिव्य ग्रौर विशाल दृष्टि है इन प्रार्थनाग्रो की! इनसे ग्रधिक सार्वभौम ग्रौर सार्वकालिक प्रार्थनाएँ ग्रौर क्या हो सकती हैं? वेद में तो ऐसी ही प्रार्थनाएँ ग्रोत-प्रोत हैं।

यह भी ध्यान देने की बात है कि वैदिक देवताग्रो का वर्गीकरण भी पृथिवी, ग्रन्तरिक्ष ग्रौर द्यु-लोक इन तीन लोको के ग्राधार पर ही किया गया है, जैसा कि हम पहले (परिच्छेद ६ मे) दिखला चुके हैं। विश्वव्यापिनी दैवी शक्ति की मानो पदे-पदे साक्षात् ग्रनुभूति करने वाली वैदिक धारा के लिए यह स्वाभाविक ही है कि उसके देवताग्रो का कार्यक्षेत्र भी विश्व-व्यापी हो।

उपर्युक्त ग्रत्यन्त विशाल धार्मिक चिन्तन के ग्राधार पर स्थित वैदिक धारा के समस्त ग्रगो मे व्यापक दृष्टि का होना स्वभाव-सिद्ध है, जैसा कि हम ग्रागे स्पष्ट करेंगे।

वैदिक-धारा का मानवीय पक्ष

विश्व-शान्ति ग्रौर विश्व-बधुत्व की उदात्त भावनाग्रो से ग्रोत-प्रोत वैदिक मत्रो में मानवमात्र में परस्पर सौहार्द, मित्रता ग्रौर साहाय्य की भावना का पाया जाना नितरा स्वाभाविक है। उदाहरणार्थ,

मित्रस्याह चक्षुषा सर्वाणि
भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा
समीक्षामहे ॥ (यजु० ३६।१८)

ग्रर्थात्, मै, मनुष्य क्या, सब प्राणियो को मित्र की दृष्टि से देखू। हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें।

पुमान् पुमास परि पातु विश्वतः। (ऋग्० ६।७५।१४)

ग्रर्थात्, एक दूसरे की सर्वथा रक्षा ग्रौर सहायता करना मनुष्यो का मुख्य कर्तव्य है।

याँश्च पश्यामि याँश्च न
तेषु मा सुमतिं कृधि। (ग्रथर्व० १७।१।७)

---

१. तु०—"येयं शान्तिकला दिव्या लोकाना शान्तिदायिनी। चन्द्रेऽपि चारुता धत्ते सा मे नित्यं प्रकाशताम् ॥" (रश्मिमाला ३५।१)।

अर्थात्, भगवन् ! ऐसी कृपा कीजिए जिससे मै मनुष्यमात्र के प्रति, चाहे मै उनको जानता हूँ अथवा नही, सद्भावना रख सकू !

तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः। (अथर्व० ३।३०।४)

अर्थात्, आओ हम सब मिल कर ऐसी प्रार्थना करे, जिससे मनुष्यो मे परस्पर सुमति और सद्भावना का विस्तार हो !

इस प्रकार मनुष्यमात्र के प्रति कल्याण-कामना, सद्भावना तथा सौहार्द के प्रतिपादक सैकडो मत्र वेदो मे पाये जाते है।

मनुष्यमात्र मे सद्भावना और सौहार्द का हृदयाकर्षक उपदेश देने वाले अथर्ववेद तथा ऋग्वेद के सामनस्यसूक्त[1] कदाचित् ससार के सपूर्ण वाङ्मय में अपनी उपमा नही रखते।

आदर्श-रक्षा तथा आत्म-रक्षा

उपर्युक्त उत्कृष्ट मानवीय पक्ष के साथ-साथ वैदिक धारा उदात्त आदर्शों की रक्षा तथा आत्म-रक्षा के लिए वीरोचित सघर्ष तथा युद्ध की आवश्यकता से भी अपरिचित नही है। "सत्य वै देवा अनृत मनुष्या." (अर्थात्, देवता वास्तविकता के अनुगामी होते है, पर मनुष्य स्वभाव से ही इसके प्रतिकूल होते है), इस वैदिक उक्ति के अनुसार मनुष्य का व्यवहार आदर्शवाद से प्राय दूर ही रहता है। ऐसी परिस्थिति मे, विश्वशान्ति और विश्वबन्धुत्व के मार्ग पर चलने वाले को भी, अपने उत्कृष्ट आदर्शों की रक्षा के लिए अथवा आत्म-रक्षा के ही लिए, प्राय सघर्ष का, अपने शत्रुओ और विरोधियो के दमन का, यहाँ तक कि घोर युद्ध के मार्ग का भी अवलम्बन करना पडता है।

इस अपूर्ण जगत् का यह अप्रिय तथ्य वैदिक धारा से छिपा हुआ नही है। इसीलिए मन्त्रो मे स्पष्ट शव्दो में कहा गया है—

मा त्वा परिपन्थिनो विदन् (यजु० ४।३४)

अर्थात्, इस वात का ध्यान रखो कि तुम्हारी वास्तविक उन्नति के वाधक शत्रु तुम पर विजय प्राप्त न कर सकें।

योऽस्मान् द्वेष्टि य वय द्विष्मस्त
वो जम्भे दध्म.। (अथर्व० ३।२७।१–६)

१, देखिए अथर्ववेद ३।३०; ६।३४, ७४, ६४ आदि। ऋग्वेद १०।१६१।

अर्थात्, जो निष्कारण हमसे द्वेष करता है, और इसी कारण जिसको हम अपना द्वेष्य समझते हैं, उसे हम सदा विश्व का कल्याण करने वाली दैवी शक्तियो को सौपते है, जिससे वे उसको नष्ट कर दे।

इसी प्रकार आत्म-रक्षा और आदर्श-रक्षा की भावना से परिपूर्ण सहस्रो मन्त्र[1] वेदो मे पाये जाते है। उदाहरणार्थ,

इन्द्रेण मन्युना वयमभि ष्याम पृतन्यतः।
घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति ।। (अथर्व० ७।९३।१)

अर्थात्, सत्कार्यों में बाधक जो शत्रु हम पर आघात करें हमको चाहिए कि वीरोचित क्रोध और पराक्रम के साथ हम उनका दमन करें और उनको विनष्ट कर दें।

अहमस्मि सपत्नहेन्द्र इवारिष्टो अक्षतः।
अध· सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठिता ।। (ऋग्० १०।१६६।२)

अर्थात्, मै शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने वाला हूँ। मै इन्द्र के समान पराक्रमी हूँ। मुझे कोई हानि अथवा आघात नही पहुँचा सकता। मै तो अनुभव करता हूँ कि मेरे सब शत्रु मेरे पैरो-तले पडे हुए हैं[2]।

मन्त्रो में शत्रुओ के लिए प्राय 'अव्रत' (=असयत जीवन व्यतीत करने वाले) अथवा 'वृत्र' (=सत्कार्यों में बाधा डालने वाले) जैसे शब्दो के प्रयोग से स्पष्ट है कि वैदिक मन्त्रो में आदर्श-रक्षा की भावना ही शत्रुओ के सहार की भावना की प्रेरक थी।

मम पुत्राः शत्रुहणः (ऋग्० १०।१५९।३)

अर्थात्, मेरे पुत्र शत्रु का हनन करने वाले हो।

सुवीरासो वय...जयेम (ऋग्० ९।६१।२३)

अर्थात्, हमारे पुत्र सुवीर हो और उनके साथ हम शत्रुओ पर विजय प्राप्त करें।

---

१. तु०—"इन्द्र त्वोतास आ वयं वज्र घना ददीमहि। जयेम सं युधि स्पृध ।।
वय शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम्। सासह्याम पृतन्यत ।।"
(ऋग्० १।८।३-४)

२. तु०—"ऋषभ मा समानाना सपत्नाना भयकरम्। हन्तार कुरु शत्रूणा देवि! दारिद्रचनाशिनि ।।" (रश्मि-माला ५।५)

ऐसी प्रार्थनाएँ और अनेकानेक ऐसे सूक्त[1], जो न केवल अर्थ की दृष्टि से ही, किन्तु सुनने मे भी, युद्ध-गीत और युद्ध-क्षेत्र मे वीरो के आह्वान जैसे प्रतीत होते है, वैदिक धारा की वीरोचित भावना के सुन्दर और हृदयस्पर्शी निदर्शन है।

उनसे यह भी स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि स्वभावत विश्व-शान्ति और विश्व-बन्धुत्व को चाहने वाली वैदिक धारा का दृष्टिकोण एकागी न होकर व्यापक ही है। वह कोरे आदर्शो की ही प्रतिपादक नही है, अपितु मनुष्य-जीवन की पूरी परिस्थिति को समझ कर चलती है।

वैदिक धारा का सामाजिक जीवन

सामाजिक जीवन का विचार अत्यन्त व्यापक है। अनेक दृष्टियो से सामाजिक जीवन का वर्णन किया जा सकता है। स्पष्टत यहाँ यह सभव नही है। इसलिए यहाँ हम कुछ प्रमुख बातो को ही ले कर सामाजिक जीवन के क्षेत्र में वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि को दिखाना चाहते है। सबसे पहले हम समष्टि-भावना को लेते है।

समष्टि-भावना

समष्टि-भावना को हम सामाजिक जीवन का प्राण अथवा मौलिक सिद्धान्त कह सकते है। समष्टि-भावना का अर्थ है 'दूसरो के साथ मे ही अपने हित के सपादन की भावना'।

यह कौन नही जानता कि वर्तमान हिन्दू-धर्म में उसका केन्द्र-विन्दु चिरकाल से वहुत कुछ व्यक्ति-परक रहा है। मनुष्य, समाज से दूर भाग कर, केवल अपनी ही भलाई को, धर्म के क्षेत्र मे भी, सोचता है। यह प्रवृत्ति कव से और किन कारणो से हिन्दुओ में चल पडी, इसका विचार हम यहाँ नही करेंगे, तो भी इसमे सन्देह नही कि वैराग्य, सन्यास और मुक्ति की भावनाओ से इसको वल अवश्य मिला है।

इसके विरुद्ध, यह देख कर आश्चर्य होता है कि वैदिक प्रार्थनाओ की, जिनसे वेद भरे पडे है, सवसे पहली विशेपता उनकी समष्टि-भावना में है। इसीलिए वे प्राय वहुवचनो मे ही होती है। उदाहरणार्थ,

---

१ देखिए—ऋग्० १०।१०३।१०-११—"उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत् सत्वनां मामकाना मनासि। उद् वृत्रहन् वाजिना वाजिनान्युद्रथाना जयता यन्तु घोषा ॥ अस्माकमिन्द्र- समृतेषु ध्वजेषु । अस्माक वीरा उत्तरे भवन्तु • ॥"

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद् भद्रं तन्न आ सुव ।। (यजु० ३०।३)

अर्थात्, हे देव सवित ! हमारे लिए जो वास्तविक कल्याण है, उसे हम सब को प्राप्त कराइए।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ।। (यजु० ३।३५)

अर्थात्, हम सब सवितृ-देव के उस प्रसिद्ध वरणीय तेजोमय स्वरूप का ध्यान करते है जो हम सब की बुद्धियो को प्रेरणा प्रदान करे।

इत्यादि प्रार्थनाओ में[1] बहुवचनो का ही प्रयोग किया गया है। स्वभावत वैयक्तिक स्वार्थों में लिप्त मनुष्य के सामने समष्टि-भावना का यह आदर्श कितना महान् और आवश्यक है! समाज की उन्नति और रक्षा के लिए यह समष्टि-भावना कितनी आवश्यक है, यह सिद्ध करने की बात नही है। वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि का स्पष्टत यह एक सुन्दर निदर्शन है।

इसके अतिरिक्त, वेदो के सामनस्य सूक्तो मे भी, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके है, स्पष्टत. इस सामाजिक उत्कृष्ट भावना (=समष्टि-भावना) का सुन्दर उपदेश मिलता है। जैसे,

सं गच्छध्व सं वदध्व स वो मनासि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते ।। (ऋग्० १०।१९१।२)

अर्थात्, हे मनुष्यो ! जैसे सनातन से विद्यमान, दिव्य शक्तियो से सपन्न, सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि देव परस्पर अविरोध भाव से, मानो प्रेम से, अपने-अपने कार्य को करते है, ऐसे ही तुम भी समष्टि-भावना से प्रेरित हो कर एक साथ कार्यों में प्रवृत्त होओ, ऐकमत्य से रहो और परस्पर सद्भाव से वरतो।

यही नही, वेदमन्त्रो में तो समष्टि-भावना के व्यावहारिक प्रतीक सह-भोज तथा सह-पान तक का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। जैसे—

सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे (यजु० १८।९)

अर्थात्, अपने साथियो के साथ में सह-पान और सह-भोज मझे प्राप्त हो!

---

१. इसी प्रकार "सं गच्छध्व स वदध्वं . (ऋग्० १०।१९१।२), "अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्..." (यजु० ४०।१६), "भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा. .." (यजु० २५।२१) इत्यादि सहस्रो मन्त्रो में वहु वचनो मे प्रार्थनाएँ पायी जाती है।

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था[1]

वैदिक धारा के सामाजिक जीवन के प्रसग में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के विषय में कुछ कहना अत्यत आवश्यक है। ऊपर मनुस्मृति के उद्धरणो में स्पष्टत. कहा गया है कि ब्राह्मण आदि चारो वर्णों का प्रारभ वेद से ही हुआ है।

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का प्रारभ और विकास किस प्रकार हुआ, इस प्रश्न में पडने का यह अवसर नही है। सातवें परिच्छेद मे वर्ण-विभाग की प्रवत्ति के प्रारभ के विषय में हम कुछ कह चुके हैं. अगले परिच्छेद मे इस विषय को कुछ अधिक स्पष्ट करेंगे।

ऊपर हमने दिखलाया है कि अपने-अपने स्वार्थ, आजीविका और पेशे की रक्षा की प्रवृत्ति से ही वैदिक धारा में वर्ण-विभाग की प्रवृत्ति का प्रारभ हुआ और शनै-शनै. उसके तृतीय काल में वह उसकी एक विशेषता बन गयी। तो भी, उस समय तक इस प्रवृत्ति में वह घोर रूढि-मूलकता नही आयी थी, जिसने आगे चल कर वैदिक-धारा के प्रवाह को काफी विकृत और दूषित कर दिया।

वैदिक वाङमय का सुप्रसिद्ध पुरुष-सूक्त ("सहस्रशीर्ष. पुरुष ." इत्यादि) स्पष्टतया वैदिक धारा के उसी तृतीय काल की रचना है। थोडे-बहुत भेद से यह चारो वेदो में आया है। इसी सूक्त में निम्न-लिखित मत्र आता है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्या शूद्रो अजायत ॥ (ऋग्० १०।९०।१२)

अर्थात्, ब्राह्मण इस विराट् पुरुष का मुख-स्थानीय है, क्षत्रिय बाहु-स्थानीय और वैश्य ऊरु-स्थानीय है। शूद्र मानो उसके पैरो से उत्पन्न हुआ है।

सब व्याख्याकारो और वैदिक आचार्यों के अनुसार निर्विवाद रूप से उक्त पुरुष-सूक्त में विश्वव्यापी विराट् पुरुष का वर्णन है। इस प्रसग में उक्त मत्र का वही अर्थ हो सकता है जो हमने ऊपर दिया है।

उक्त मत्र में स्पष्टत आलकारिक प्रक्रिया द्वारा ब्राह्मण आदि चारो वर्णों में परस्पर अङ्गागि-भाव के सबध को बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि जैसे किसी जीवित शरीर में मुख से लेकर पैर तक सब अगो में परस्पर गहरा अङ्गागि-भाव का, परस्पर आश्रयाश्रित-भाव का, सबध होता है, वैसे ही समाज-रूपी शरीर में चारो वर्णों का परस्पर गहरा सबध है। शरीर में कोई अग

---

१ इस प्रसङ्ग में इसी ग्रन्थ के द्वितीय परिशिष्ट के (च) अश में 'वर्गभेद तथा जातिभेद का परस्पर सबन्ध' शीर्षक लेख देखिए।

दूसरे अग की उपेक्षा नही करता, एक की पीडा में सब व्याकुल हो जाते है, कोई भी अग अपने लिए नही, अपितु दूसरे अगो के हित में ही काम करता है। वास्तव मे किसी भी समुन्नत समाज के विभिन्न अगो के परस्पर सबध के विषय मे इससे अच्छा दृष्टान्त हो ही नही सकता।

इस प्रकार उपर्युक्त मत्र स्पष्टतया एक सभ्य और समुन्नत समाज के विभिन्न वर्गों को ब्राह्मण आदि चार भागो मे बाँट कर उनमें परस्पर घनिष्ठ अङ्गाङ्गि-भाव के आदर्श सबध का प्रतिपादन करता है। यह सबध पारस्परिक सहयोग और सामञ्जस्य के आधार पर ही हो सकता है। किंचिन्मात्र भी सघर्ष की भावना उसको समूल नष्ट करने के लिए पर्याप्त है। समाज का इस प्रकार का चित्रण, हमारे मत में, वैदिक धारा की व्यापक और वैज्ञानिक दृष्टि का एक परम उज्ज्वल निदर्शन है।

चारो वर्णों के परस्पर सबध में यह आदर्श स्थिति वास्तव में कब और कितने काल तक रही, यह कहना कठिन है। तो भी कम-से-कम आदर्श रूप में उसकी स्थिति में सदेह नही हो सकता। इसकी पुष्टि उन मत्रो से और भी होती है, जिनमे स्पष्टतया समस्त समाज और शूद्रो सहित सब वर्णो के प्रति ममत्व-बुद्धि और हित-भावना का वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ,

रुच नो धेहि ब्राह्मणेषु रुच राजसु नस्कृधि ।
रुच विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ।। (यजु० १८।४८)

अर्थात्, शोभा और दीप्ति के निधान भगवन्! आप हमारे ब्राह्मणो में दीप्ति को धारण कीजिए! हमारे क्षत्रियो को दीप्तिमान् कीजिए! हमारे वैश्यो और शूद्रो को दीप्ति-युक्त कीजिए! और इस प्रकार हमारे समाज में सब ओर दीप्ति के प्रसार द्वारा मुझे सदा दीप्तिमान् कीजिए!

प्रिय मा कृणु देवेषु प्रिय राजसु मा कृणु ।
प्रिय सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ।। (अथर्व० १९।६२।१)

अर्थात्, भगवन्! मुझे देवो मे (=देवताओ में, अथवा विद्वानो मे) प्रिय बनाइए! मुझे क्षत्रियो में प्रिय बनाइए! मुझे शूद्रो और वैश्यो मे तथा अन्य सब प्राणियो का भी प्रिय बनाइए!

यथेमा वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्य. ।
ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्याय च ।। (यजु० २६।२)

अर्थात्, भगवन्! मुझे ऐसा बनाइए कि मै ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अर्थात् सारी जनता के लिए कल्याण करने वाले ज्ञान का प्रचार और प्रसार कर सकू।

कैसी सुन्दर और उदात्त भावना है इन वेद-मत्रो की ! किसी एक वर्ग के लिए नही, किन्तु सपूर्ण समाज और सारी जनता के प्रति। वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि का इससे अच्छा प्रमाण और क्या हो सकता है ?

यह ठीक है कि यही चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था आगे चलकर क्रमश· विकृत होती हुई देश के लिए अभिशापरूप हो गयी। उसने परस्पर अविश्वास, सघर्ष और विद्वेष का रूप धारण कर लिया। शूद्र के प्रति तो कठोर दृष्टि चरमसीमा तक पहुँच गयी। परन्तु यह कितने सतोष और आह्लादकर विस्मय का विषय है कि वेदमत्रो में उस सकीर्ण-भावना का चिह्न भी नही है ! चारो वेदो मे शूद्र के प्रति अन्याय्य अथवा कठोर दृष्टि कही भी नही मिलेगी ! अपनी इन्ही उदार और उदात्त भावनाओ के कारण वैदिक धारा हम भारतवासियो के लिए सदा से श्रद्धा और सम्मान की वस्तु रही है और आगे भी रहेगी।

चातुराश्रम्य-व्यवस्था

ऊपर दिये गये मनुस्मृति के उद्धरणो के अनुसार, ब्राह्मण आदि चारो वर्णो के समान, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास—इन चारो आश्रमो का प्रारभ भी वेद से ही हुआ है। इस कथन मे किस रूप मे और कहाँ तक प्रामाणिकता हो सकती है, इसका विस्तृत विचार हम औपनिषद धारा के प्रसग में करेंगे। यहाँ तो केवल इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त होगा कि जहाँ तक केवल वेद-मन्त्रो का सवध है, हमे उनमें स्पष्ट रूप से चारो आश्रमो का उल्लेख अभी तक नही मिला है।

इसके अतिरिक्त, विवाह-सवधी मन्त्रो मे

> गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्त
> मया पत्या जरदष्टिर्यथास·[1] (ऋग्० १०।८५।३६)

(अर्थात्, अयि वधु ! मैं सौभाग्य के लिए तुम्हारे पाणि का ग्रहण करता हूँ, जिससे तुम मुझ पति के साथ में वृद्धावस्था को प्राप्त करो) ऐसे वचनो से, तथा श्रौत कर्मकाण्ड के "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति"[2] (अर्थात्, पत्नी के साथ

---

१ तु० "ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः। मया पत्या प्रजावति सं जीव शरद शतम् ॥" (अथर्व० १४।१।५२); "इहैव स्तं मा वि यौष्ट विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥" (ऋग्० १०।८५।४२)

२ देखिए जैमिनीय-न्यायमाला-विस्तर (६।२।६)

में जीवन-पर्यन्त अग्निहोत्र करे), "यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्या यजेत्" (अर्थात्, पत्नी के साथ में जीवनपर्यन्त दर्श और पूर्णमास यागो को करे) इत्यादि प्रकरणो में पति-पत्नी के लिए जीवन-पर्यन्त साथ-साथ याज्ञिक कर्म-काण्ड के विधान से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कम से कम मन्त्र-काल में चारो आश्रमो की व्यवस्था का प्रारम्भ नही हुआ था।

ऐसा होने पर भी, ब्रह्मचर्य और गृहस्थ इन दो आश्रमो के सबध में वेद-मन्त्रो में जो उत्कृष्ट और भव्य विचार प्रकट किये गये हैं, उनको हम विना किसी अतिशयोक्ति के भारतीय सस्कृति की स्थायी अमूल्य सपत्ति कह सकते है। वेदो के अनेकानेक मन्त्रो में ब्रह्मचर्य और गृहस्थ का बडा हृदयस्पर्शी वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ, अथर्ववेद के एक पूरे सूक्त (११।५) में ब्रह्मचर्य की महिमा का ही वर्णन है। जैसे—

> **ब्रह्मचारी ब्रह्म[1] भ्राजद् बिभर्त्ति**
> **तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः॥** (अथर्व० ११।५।२४)
> **ब्रह्मचारी... श्रमेण लोकास्तपसा पिपर्त्ति।** (अथर्व० ११।५।४)
> **ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।**
> **आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥** (अथर्व० ११।५।१७)

अर्थात्, ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करने वाला ही प्रकाशमान ज्ञान-विज्ञान को धारण करता है। उसमें मानो समस्त देवता वास करते है॥ ब्रह्मचारी श्रम और तप से युक्त जीवन द्वारा सारी जनता को पुष्टि प्रदान करता है॥ ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा अपने राष्ट्र की रक्षा में समर्थ होता है। ब्रह्मचर्य द्वारा ही आचार्य शिष्यो के शिक्षण की योग्यता को अपने में सपादन करता है।

यहाँ स्पष्ट शब्दो में राष्ट्र की चतुरस्र उन्नति के लिए और मानव-जीवन के विभिन्न कर्तव्यो के सफलतापूर्वक निर्वाह के लिए **श्रम और तपस्या द्वारा विद्या-प्राप्ति (=ब्रह्मचर्य)** की अनिवार्य आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। मन्त्र में 'श्रम' और 'तप' ये दो शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। क्या आजकल की अत्यन्त कठिन शिक्षा-समस्या के लिए उनसे कोई प्रेरणा और सकेत नही मिल सकता? श्रम और तपस्या पर निर्भर ब्रह्मचर्य-आश्रम की उद्भावना वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि का नि सन्देह एक समुज्ज्वल प्रमाण है।

---

१. तु०—"सर्वेषामपि भूताना यत्तत्कारणमव्ययम्। कूटस्थ शाश्वत दिव्यं, वेदो वा, ज्ञानमेव यत्॥ तदेतदुभयं ब्रह्म ब्रह्मशब्देन कथ्यते। तदुद्दिश्य व्रतं यस्य ब्रह्मचारी स उच्यते॥" (रश्मिमाला ११।५-६)

गृहस्थ-आश्रम के सबध में सबसे उत्कृष्ट विचार हमें वेदो के विवाह-सबधी सूक्तो[1] में तथा सांमनस्य-सूक्तों में मिलते हैं। विस्तार के भय से यहाँ केवल दो-चार उद्धरण देना पर्याप्त होगा।

> **गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं .**
> **मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।** (ऋग्० १०।८५।३६)
> **समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।** (ऋग्० १०।८५।४७)
> **ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि।**
> (ऋग्० १०।८५।२४)
> **अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।** (ऋग्० १०।८५।२७)
> **मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती।**
> **सुगेभिर्दुर्गमतीताम्...** . (ऋग्० १०।८५।३२)
> **सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।** (ऋग्० १०।८५।४६)
> **इहैव स्त मा वि यौष्ट.** (ऋग्० १०।८५।४२)
> **स्योनास्यै सर्वस्यै विशे।** (अथर्व० १४।२।२७)

अर्थात्, हे वधु! हम दोनो की सौभाग्य-समृद्धि के लिए मैं तुम्हारे पाणि का ग्रहण कर रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि मैंने तुम्हे देवताओ से प्रसाद रूप में गृहस्थ-धर्म के पालन के लिए पाया है।

समस्त दैवी शक्तियाँ हमारे हृदयो को परस्पर अनुकूल, कर्तव्यो के पालन में सावधान और जलो के समान शान्त तथा भेद-भाव से रहित करें!

विवाह का लक्ष्य यही है कि पति-पत्नी दोनो गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर सयम तथा सच्चरित्रता का पवित्र जीवन व्यतीत करते हुए अपना पूर्ण विकास कर सकें।

अयि वधु! तुम पति-गृह में पहुँच कर गृहस्थ के कर्तव्य-पालन में सदा जागरूक और सावधान रहना!

वे दुर्भावनाएँ, जो प्राय पति-पत्नी के जीवन में भेद और विराग उत्पन्न कर देती हैं, तुम दोनो के बीच में कभी न आएँ! तुम दोनो सच्चरित्रता के साथ इस कठिन गृहस्थ धर्म का पालन करो।

हे वधु! तू पतिगृह में सास-ससुर के लिए सम्राज्ञी के रूप में प्रेम और सम्मान का पात्र बन कर रहना!

---

१. देखिए—ऋग्वेद १०।८५ तथा अथर्व० १४।१, २।

पति-पत्नी तुम दोनो जीवन मे एकमन होकर रहो, तुम्हारा वियोग कभी न हो।

हे वधु! तुम्हारा गृहस्थ-जीवन सारी जनता के लिए सुख देने वाला हो।

वैवाहिक जीवन के पवित्र और महान् लक्ष्य की ओर स्पष्ट सकेत करने वाले इन उदात्त विचारो पर टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नही है। देखना तो यह है कि भारतीय इतिहास के मध्य-काल के उन लज्जाजनक विचारो से ये कितने भिन्न है, जिनके अनुसार स्त्री को 'उपभोग की सामग्री', 'नरक का द्वार' (=नारी नरकस्य द्वारम्), 'ताडन का अधिकारी' और 'आदमी की दासी' तक कहा गया है।

इसी प्रकार वेदो के **सांमनस्य-सूक्तो** मे[1], जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके है, गृहस्थ-जीवन के सबध में जो सुन्दर भाव प्रकट किये गये है, वे भी वैदिक धारा की एक महान् निधि है। उदाहरणार्थ,

सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमना।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाच वदत भद्रया॥

(अथर्व० ३।३०।१-३)

अर्थात्, हे गृहस्थो! तुम्हारे पारिवारिक जीवन मे परस्पर ऐक्य, सौहार्द और सद्भावना होनी चाहिए। द्वेष की गन्ध भी न हो। तुम एक-दूसरे को उसी तरह प्रेम करो, जैसे गौ अपने तुरन्त जनमे हुए बछडे को प्यार करती है।

पुत्र अपने माता-पिता का आज्ञानुवर्ती और उनके साथ एक-मन होकर रहे। पत्नी अपने पति के प्रति मधुर और स्नेह-युक्त वाणी का ही व्यवहार करे।

भाई भाई के साथ और वहिन-वहिन के साथ द्वेप न करे।

तुम्हे चाहिए कि एक-मन होकर समान आदर्शो का अनुसरण करते हुए परस्पर स्नेह और प्रेम को वढाने वाली वाणी का ही व्यवहार करो।

पारिवारिक जीवन मे स्वर्गीय सुख और शान्ति लाने के लिए इससे अच्छा उपदेश और क्या हो सकता है?

---

१ सामनस्य-सूक्तो में पारिवारिक जीवन के साथ-साथ समाज तथा मानव-मात्र के प्रति भी सौहार्द और सद्भावना का प्रतिपादन किया गया है।

राजनीतिक आदर्श

राजनीतिक आदर्शों के विषय मे भी वैदिक मत्रो के अनेक ऐसे विचार है, जो वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि को स्पष्टत प्रमाणित करते है।

सभ्यता के इतिहास मे राज-सस्था अति प्राचीन काल से चली आ रही है। वैदिक काल में भी इसकी स्थिति थी, ऐसा वेद-मत्रो से ही स्पष्ट प्रतीत होता है। ऐसा होने पर भी, वेद-मत्रो में जन-तत्र की भावना और जनता अथवा प्रजा के पक्ष का समर्थन यत्र-तत्र मिलता है। उदाहरणार्थ,

विशि राजा प्रतिष्ठित. (यजु० २०।९)

अर्थात्, राजा की स्थिति प्रजा पर ही निर्भर होती है।

त्वां विशो वृणता राज्याय (अथर्व० ३।४।२)

अर्थात्, हे राजन्! प्रजाओ द्वारा तुम राज्य के लिए चुने जाओ।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु (अथर्व० ४।८।४)

अर्थात्, हे राजन्! तुम्हारे लिए यह आवश्यक है कि समस्त प्रजाएँ तुम को चाहती हो।

एतरेय-ब्राह्मण में तो यहाँ तक कह दिया है कि

"राष्ट्राणि वै विश." (ऐत० ब्रा० ८।२६)

अर्थात्, प्रजाएँ ही राष्ट्र को बनाती है।

इसके अतिरिक्त, वेद-मत्रो में यह भावना भी स्पष्टतया देखी जाती है कि राष्ट्र की उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि उसके सब अगो का विकास हो और समस्त जनता की समृद्धि और सुख ही उसका प्रथम ध्येय हो[1]।

राजनीतिक आदर्शों के सबध में वेद-मत्रो की ये उदार और उदात्त भावनाएँ वैदिक-धारा के लिए वास्तव में गर्व और गौरव का विषय है।

वैयक्तिक जीवन

अन्त मे, वैयक्तिक जीवन के सबध में वेद-मत्रो की विचार-धारा का सक्षेप में निर्देश करके हम इस परिच्छेद को समाप्त करते है।

---

१ तु० "आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्य. शूर .. महारथो जायताम्। जिष्णू रथेष्ठा. सभेयो युवा वीरो जायताम्। फलवत्यो न ओषधय पच्यन्ताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम्॥" (यजु० २२।२२)

वैदिक उदात्त भावनाओ आदि के विषय मे जो कुछ हम कह चुके है, उससे वैदिक-कालीन वैयक्तिक जीवन पर काफी प्रकाश पडता है। तो भी वैयक्तिक जीवन के विकास की दृष्टि से वैदिक धारा के आदर्शो के विषय मे यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता है।

ऋत और सत्य, निष्पाप-भावना, श्रद्धा, आत्म-विश्वास, ब्रह्मचर्य, व्रत, श्रम और तपस्, वीरता और शत्रु-सहार (=वृत्र-हनन) आदि की महिमा से ओत-प्रोत वेद-मत्रो से यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि वैदिक धारा की दृष्टि से वैयक्तिक जीवन का सर्वांगीण विकास आवश्यक समझा जाता था। इसीलिए वेद-मत्रो में बौद्धिक तथा नैतिक विकास के साथ-साथ शारीरिक स्वास्थ्य और दीर्घायुष्य के लिए भी गभीर प्रार्थनाएँ पदे-पदे देखने मे आती है।

वेद की बुद्धि-विषयक प्रार्थनाएँ प्रसिद्ध है[1], जिनमे गायत्री-मत्र (**तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्** ॥ यजु० ३।३५) सुप्रसिद्ध है।

नैतिक प्रार्थनाओ का दिग्दर्शन हम वैदिक उदात्त भावनाओ के प्रसग मे करा चुके है। उसी प्रसग मे दीर्घायुष्य और पूर्णायुष्य की सुन्दर प्रार्थनाओ का भी सकेत किया जा चुका है।

शारीरिक स्वास्थ्य के लिए महत्त्व-युक्त प्रार्थनाओ के कुछ उदाहरण हम नीचे देते है—

"तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि।
आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि।...
. यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आ पृण ॥" (यजु० ३।१७)

अर्थात्, हे अग्ने! तुम शरीर की रक्षा करने वाले हो, मेरे शरीर को पुष्ट कीजिए। तुम आयु को देने वाले हो, मुझे पूर्ण आयु दीजिए। मेरे शारीरिक स्वास्थ्य मे जो भी न्यूनता हो उसे पूरा कर दीजिए।

वाङ् म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णो श्रोत्र कर्णयो.।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता वहु वाह्वोर्वलम्।
ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयो. प्रतिष्ठा. (अथर्व० १९।६०।१-२)

अर्थात्, मेरे समस्त अग पूर्ण स्वस्थता से अपना-अपना कार्य करें, यही मैं चाहता हूँ। मेरी वाणी, प्राण, आख, और कान अपना-अपना काम कर सकें।

---

१. देखिए—"**मां. मेघाविनं कुरु ॥ मेधा मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः।..**"(यजु० ३२।१४-१५)

मेरे बाल काले रहें! दातो में कोई रोग न हो! बाहुओ मे बहुत बल हो! मेरी ऊरुओ मे ओज, जाघो में वेग और पैरो में दृढता हो!

"आयुर् यज्ञेन कल्पता...प्राणो. .अपानो...व्यानो...चक्षुर्...
श्रोत्रं. .वाग्...मनो...आत्मा यज्ञेन कल्पतां स्वाहा ।।"
(यजु० ३२।३३)

अर्थात्, प्राकृत जगत् मे काम करने वाली अग्नि, वायु आदि दैवी शक्तियो के साथ सामञ्जस्य का जीवन (=यज्ञ) व्यतीत करते हुए मै पूर्णायुष्य को प्राप्त कर सकूं, मेरी प्राण, अपान आदि शक्तियाँ तथा चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य ठीक तरह कर सके, और इस प्रकार मेरे व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो—यही मेरी आन्तरिक कामना है, यही मेरी हार्दिक अभिलाषा और प्रार्थना है!

अश्मा भवतु नस्तनूः (यजु० २९।४९)

अर्थात्, हमारी प्रार्थना है कि हमारा शरीर पत्थर के समान सुदृढ हो!

जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि वैदिक धारा की सबसे बडी विशेषता उसकी व्यापक दृष्टि में है। वह व्यष्टि और समष्टि दोनो दृष्टियो से मानव के सर्वांगीण विकास को चाहती है। जीवन की सब परिस्थितियो में मानव सफलतापूर्वक अपना पूर्ण विकास कर सके, यही उसका प्रधान लक्ष्य है। भारतीय सस्कृति के उत्तर-कालीन शब्दो में हम कह सकते है कि वैदिक धारा का सदा से मुख्य ध्येय यही रहा है कि मनुष्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूपी चारो पुरुषार्थो की, अथवा अभ्युदय और नि श्रेयस की प्राप्ति कर सके। इसी से मनुष्य-जीवन के कर्तव्यो के विषय मे उसका दृष्टि-कोण, एकागी या एकदेशी न होकर, सदा से व्यापक रहा है। यही उसके भारतीय सस्कृति के विकास में बहुमुखी, व्यापक और शाश्वतिक प्रभाव का रहस्य है।

———

अर्थात्, वैदिक धारा से भिन्न स्मृतियाँ या धाराएँ समय-समय पर बनती-बिगडती रहती हैं।

वैदिक वाङ्मय में वैदिक-धारा के प्रवर्तक ऋषियो को **'पथिकृत्'** या 'जीवन-यात्रा के लिए **मार्ग** को बनाने वाला' प्राय कहा गया है। उदाहरणार्थ,

> **इद नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः**
> **पूर्वेभ्य. पथिकृद्भ्यः।** (ऋग्० १०।१४।१५)

अर्थात्, हमारे पूर्वज ऋषियो के लिए, जिन्होने प्रारम्भ में जीवन के मार्ग को वनाया, हमारा नमस्कार है।

> **लोककृतः पथिकृतो यजामहे**
> **ये देवानां हुतभागा इह स्थ।** (अथर्व० १८।३।२५-३५)

अर्थात्, हम जीवन के मार्ग को बनाने वाले तथा समाज का कल्याण करने वाले अपने पूर्वजो का यजन करते हैं। यज्ञो मे देवताओ के समान ही वे भी हमारे लिए पूजनीय और यजनीय हैं।

ऐसे वचनो का यही अभिप्राय हो सकता है कि **व्यापक दृष्टि से** भारतीय जीवन के मार्ग या मर्यादाओ के निर्माण का श्रेय वैदिक धारा को ही देना चाहिए। ऐसी स्थिति में, समय के प्रभाव से उन मर्यादाओ के नष्ट-भ्रष्ट या सकीर्ण हो जाने पर, वहुत करके उनको 'सुधारने' का काम ही उत्तरकालीन धाराओ ने किया है। इसी दृष्टि से उन धाराओ के प्रवर्तको को **'सुधारक'** नाम से ही प्राय· स्मरण किया जाता है।

इसके अतिरिक्त, प्रायेण प्राचीन परम्परागत सस्कृति (अथवा वेद या वैदिक धारा) के नाम पर ही उन्होने अपने-अपने सिद्धान्तो या सुधारो का प्रतिपादन किया है। उदाहरणार्थ, पौराणिक धारा के प्रमुख ग्रन्थ **श्रीमद्भागवत** के विषय में उसके माहात्म्य में कहा गया है—

> तत्कथासु तु वेदार्थ **श्लोके श्लोके पदे पदे॥**
> वेदोपनिषदां साराज्जाता भागवती कथा॥
> (भागवत-माहात्म्य २।६५,६७)

अर्थात्, श्रीमद्भागवत की कथाओ में प्रत्येक श्लोक और पद में वेदो का तात्पर्य भरा पडा है। भागवती कथा का निर्माण वेद और उपनिषदो के सार से हुआ है।

> निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
> शुकमुखादमृतद्रवसयुतम्।

दसवाँ परिच्छेद

वैदिक धारा की देन

भारतीय सस्कृति के विकास में वैदिकधारा के बहुमुखी, व्यापक तथा शाश्वतिक प्रभाव की चर्चा हम पहले कर चुके है। इस परिच्छेद में हम इसी का स्पष्टीकरण करना चाहते है।

वैदिक धारा के साथ उत्तरवर्त्ती धाराओं का सम्बन्ध

पिछले परिच्छेद में हमने दिखलाया है कि वैदिकधारा के वहुमुखी, व्यापक तथा शाश्वतिक प्रभाव का मूल वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि में ही हो सकता है। अपनी उसी व्यापक दृष्टि के कारण वैदिक धारा, उत्तरकाल में अन्य नवीन धाराओ से प्रभावित होकर भी, प्रायेण उनको अपने में समन्वित या आत्मसात् करती हुई, अपने ही नाम से आगे वढती हुई प्रतीत होती है।

उत्तरकालीन नवीन धाराएँ (जैसा कि आगे चलकर हम क्रमश यथास्थान दिखाएँगे), भले ही उन्होने भारतीय (या वैदिक) सस्कृति का वडा उपकार क्यो न किया हो, प्रायेण जीवन की किसी विशेष दृष्टि को, या समय की किसी विशेष आवश्यकता को, लक्ष्य मे रखकर ही प्रवृत्त हुई। दूसरे शब्दो में, उनकी दृष्टि एकागी ही थी। इसीलिए जीवन की अन्य अपेक्षित दृष्टियो के सम्बन्ध में उन्हे वरबस वैदिक परम्परा का ही अवलम्बन करना पडा। वास्तव मे इसी वात को लक्ष्य में रखकर मनु ने कहा है—

> या वेदवाह्याः स्मृतयो...
> उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च.. (मनु० १२।९५-९६)

अर्थात्, वैदिक धारा से भिन्न स्मृतियाँ या धाराएँ समय-समय पर बनती-विगडती रहती हैं।

वैदिक वाङ्मय मे वैदिक-धारा के प्रवर्तक ऋषियो को **'पथिकृत्'** या 'जीवन-यात्रा के लिए **मार्ग** को बनाने वाला' प्राय कहा गया है। उदाहरणार्थ,

> **इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः**
> **पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः।** (ऋग्० १०।१४।१५)

अर्थात्, हमारे पूर्वज ऋषियो के लिए, जिन्होने प्रारम्भ मे जीवन के मार्ग को वनाया, हमारा नमस्कार है।

> **लोककृतः पथिकृतो यजामहे**
> **ये देवानां हुतभागा इह स्थ।** (अथर्व० १८।३।२५-३५)

अर्थात्, हम जीवन के मार्ग को बनाने वाले तथा समाज का कल्याण करने वाले अपने पूर्वजो का यजन करते हैं। यज्ञो मे देवताओ के समान ही वे भी हमारे लिए पूजनीय और यजनीय हैं।

ऐसे वचनों का यही अभिप्राय हो सकता है कि **व्यापक दृष्टि से** भारतीय जीवन के मार्ग या मर्यादाओ के निर्माण का श्रेय वैदिक धारा को ही देना चाहिए। ऐसी स्थिति में, समय के प्रभाव से उन मर्यादाओ के नष्ट-भ्रष्ट या सकीर्ण हो जाने पर, बहुत करके उनको 'सुधारने' का काम ही उत्तरकालीन धाराओ ने किया है। इसी दृष्टि से उन धाराओ के प्रवर्तको को **'सुधारक'** नाम से ही प्राय· स्मरण किया जाता है।

इसके अतिरिक्त, प्रायेण प्राचीन परम्परागत सस्कृति (अथवा वेद या वैदिक धारा) के नाम पर ही उन्होने अपने-अपने सिद्धान्तो या सुधारो का प्रतिपादन किया है। उदाहरणार्थ, पौराणिक धारा के प्रमुख ग्रन्थ **श्रीमद्भागवत** के विषय में उसके माहात्म्य में कहा गया है—

> **तत्कथासु तु वेदार्थः श्लोके श्लोके पदे पदे ॥**
> **वेदोपनिषदां साराज्जाता भागवती कथा ॥**
> (भागवत-माहात्म्य २।६५,६७)

अर्थात्, श्रीमद्भागवत की कथाओ में प्रत्येक श्लोक और पद में वेदो का तात्पर्य भरा पडा है। भागवती कथा का निर्माण वेद और उपनिषदो के सार से हुआ है।

> निगमकल्पतरोर्गलित फल
> शुकमुखादमृतद्रवसयुतम्।

पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ।।

(भागवत-माहात्म्य ६।८०)

इस सुप्रसिद्ध पद्य मे भागवत को वेद-रूपी कल्पवृक्ष के अमृत-द्रव-सयुत फल के रूप मे वर्णन किया गया है।

इसी प्रकार, बौद्ध-धारा के मान्य ग्रन्थ **धम्मपद** मे **"आराधये मग्गमिसिप्प-वेदितं"** (=आराधयेद् मार्गमृषिप्रवेदितम् । अर्थात्, मनुष्य को चाहिए कि वह प्राचीन ऋषियो द्वारा बतलाये हुए मार्ग का अनुसरण करे), इस तरह स्पष्टतया प्राचीन परम्परागत सस्कृति (अथवा वैदिक धारा) के प्रति मान्यता प्रदर्शित की गयी है।

इसी प्रकार, सिक्ख-धर्म की मान्य पुस्तक **श्रीगुरु ग्रन्थ साहिब** मे वेद के विषय मे परम्परा-मूलक मान्यता की भावना यत्र-तत्र पायी जाती है। जैसे—

"साम वेदु रिगु जुजरू अथरबणु
ब्रह्मे मुखि पाइया है त्रैगुण ।
ता की कीमति कहि न सकै कोइ
तिउ बोले जिउ बोलाइदा ।।"

(मारू सोलहे म० शब्द ८७)

"हरि सिमरन लागे वेद उपाए ।"

(गौडी सुखमनि १)

इस प्रकार प्राय प्रत्येक उत्तर-वर्त्ती धारा के वाङमय मे वेद के प्रति आस्था की भावना पायी जाती है।

जैन, बौद्ध जैसे 'अवैदिक' कहे जाने वाले सप्रदायो की भी, हम समझते है, मूल में वेद-विरोधिनी दृष्टि नही थी । जैन साहित्य मे **'वेय'** (=वेद), **'वेयन्नू'** (=वेदज्ञ) और बौद्ध साहित्य मे **'वेदगू'** (=वेदज्ञ), **'वेदपारगू'** (=वेदपारग) जैसे शब्दो के अच्छे अर्थों मे प्रयोग से इसी धारणा को वल मिलता है। स्वार्थ-परायण साम्प्रदायिको के हठ और पक्षपात के कारण ही उनमे वेद और वैदिक धारा के प्रति उपेक्षा और विरोध की भावनाओ ने स्थान पाया, यह हम आगे यथास्थान दिखाने का यत्न करेंगे।

ऊपर जो कुछ कहा है उससे स्पष्ट है कि उत्तरवर्ती किसी धारा या धाराओ को वैदिक धारा का प्रतिद्वन्द्वी कहना या समझना भूल है। अपने-अपने मूल रूप में हम उनको अधिक से अधिक वैदिक धारा का पूरक कह सकते हैं।

जैसे शरीर के ढाँचे को अस्थियाँ बनाती है, अथवा किसी पुराने मकान की नीवो पर नया मकान बनाया जाता है, या किसी देश के पर्वत और नदियाँ उसके शाश्वतिक भौगोलिक रूप को बना देते है, इसी प्रकार भारतवर्ष की धार्मिक, सामाजिक अथवा सास्कृतिक व्यवस्था की मानो रूपरेखा का अकन वैदिक धारा द्वारा हुआ है। उसी रूपरेखा के अन्दर विभिन्न धाराओ ने समय-समय पर अपना-अपना चित्रण करके, अपना-अपना रग भर कर, उसको नया भव्य रूप देने का यत्न किया है।

वैदिक धारा के साथ उत्तरवर्ती धाराओ का बहुत कुछ ऐसा ही सबन्ध हमें प्रतीत होता है, जैसा कि क्रमश आगे हम स्पष्ट करेगे।

खेतो की मेडो की तरह हमारे जीवन की व्यवस्थाओ और मर्यादाओ का आधार बहुत कुछ वैदिक धारा पर है, इस बात को हम जीवन के विभिन्न क्षेत्रो को लेकर दिखला सकते है। सबसे पहले हम धार्मिक क्षेत्र को ही लेते है—

धार्मिक क्षेत्र

धार्मिक क्षेत्र का विस्तार बहुत बडा है, क्योकि 'धर्म' शब्द का अर्थ अत्यन्त व्यापक है।

सामान्य रूप से धर्म मे आचार-विचार, दोनो का समिश्रण समझा जाता है। जहाँ तक विचार का सबन्ध है, उसको भी दो भागो मे बाँटा जा सकता है, नैतिक विचार और उनके आधारभूत दार्शनिक विचार। परिच्छेद ६ और ८ मे हम दोनो प्रकार के विचारो पर पर्याप्त प्रकाश डाल चुके है।

नैतिक तथा दार्शनिक विचार

वैदिक धारा की दार्शनिक भूमिका (परिच्छेद ६) को दिखाते हुए हमने कहा है कि यद्यपि आपातत वैदिक देवता अपनी-अपनी स्वतन्त्र या पृथक् सत्ता रखते हुए प्रतीत होते है, तो भी वैदिक मन्त्रो के गम्भीर अध्ययन से उन देवताओ के पीछे रहने वाली उनकी मौलिक आध्यात्मिक एकता स्पष्ट दिखायी देती है। इसी बात को निरुक्तकार यास्क ने अपने शब्दो में इस प्रकार कहा है

"माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा
बहुधा स्तूयते।" (निरुक्त ७।४)

अर्थात्, देवता वास्तव मे एक ही है। उसी एक देवता की, अपने माहाभाग्य या माहात्म्य के कारण तत्तद्देवता के भेद को लेकर, अनेक प्रकार से स्तुति की जाती है।

वेदो के सैकडो मन्त्रो में स्पष्ट रूप से उसी मौलिक सत्ता या अध्यात्म-तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है । आगे चलकर **औपनिषद धारा** ने इसी सिद्धान्त का प्रधान रूप से प्रतिपादन किया था, जैसा कि हम यथा-स्थान स्पष्ट करेगे ।

वैदिक उदात्त भावनाओ (परिच्छेद ८) की व्याख्या करते हुए हमने वैदिक धारा के सुपुष्ट नैतिक आधार को दिखाने का यत्न किया है । हमने दिखाया है कि वास्तव मे **ऋत और सत्य की भावना** ही अन्य वैदिक उदात्त भावनाओ की जननी है । जिस प्रकार वैदिक देवतावाद का लक्ष्य एकसूत्रीय अध्यात्म-(या परमात्म-) तत्त्व की अनुभूति है, उसी प्रकार ऋत और सत्य के सिद्धान्त का अभिप्राय सारे विश्व-प्रपञ्च में व्याप्त उसके नैतिक आधार से है ।

इस सारे विश्व-प्रपञ्च का सचालन शाश्वत नैतिक आधार पर हो रहा है, ऐसी धारणा मनुष्य मे स्वभावत समुज्ज्वल आशा-वाद, भद्र-भावना और आत्म-विश्वास को उत्पन्न किये बिना नही रह सकती ।

उपर्युक्त दार्शनिक और नैतिक विचार वास्तव में एक ही मौलिक सत्य[1] की दो दृष्टियाँ है । वैदिक धारा का शाश्वतिक महत्त्व बहुत-कुछ इन्हीं विचारों पर निर्भर है ।

उत्तर-वर्ती विभिन्न धाराओ ने अनेक प्रकार से भारतीय संस्कृति का उपकार किया है । परन्तु उपर्युक्त विचारों के लिए वे सब वैदिक धारा की ऋणी रही है । सब ने उपर्युक्त मौलिक तथ्य को, किसी-न-किसी रूप में, अवश्य स्वीकार किया है ।[2] यही भारतीय संस्कृति को सदा के लिए वैदिक धारा की मौलिक देन है ।

गृह्य कर्मकाण्ड

आचार-पक्ष की दृष्टि से भारतीय सस्कृति के लिए वैदिक धारा की देन का और भी अधिक महत्त्व है । नैतिक तथा दार्शनिक विचारो का सवन्ध सर्व-

१. तु० "सत्यव्रत सत्यपर त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहित च सत्ये । सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्र सत्यात्मक त्वा शरण प्रपन्नाः ।।" (भागवत १०।२।२६)

२. तु० "सत्यं ब्रह्म परं धाम कर्म 'धम्मं' प्रजापति· । शक्तिर्माता शिवो विष्णू राम ओकार एव च ।। प्रेमेत्यादि पदं मूलतत्त्ववाचि न सशयः ।" (रश्मिमाला ६०।१५–१६)

साधारण की अपेक्षा तत्त्व-विचारको से ही अधिक होता है। परन्तु धार्मिक कर्म-काण्ड के रूप मे आचार का सबन्ध प्रायेण समस्त जनता से होता है।

परिच्छेद ५ में हमने दिखलाया है कि जहाँ प्रथम तीन वैदिक सहिताओ का सबन्ध बहु-द्रव्य-साध्य श्रौत (=वैदिक) यज्ञो से है, वहाँ अथर्व-वेद का सबन्ध प्रायेण गृह्य कर्म-काण्ड (जैसे जन्म, विवाह या मृत्यु से सबद्ध सस्कार आदि) से है। श्रौत यज्ञो का प्रतिपादन श्रौत-सूत्रो तथा ब्राह्मण-ग्रन्थो मे किया गया है, और गृह्य कर्मकाण्ड का गृह्य-सूत्रो मे।

वैदिक धारा के ह्रास के साथ-साथ श्रौत यज्ञो का भी ह्रास हुआ। वास्तव मे श्रौत यज्ञो की अत्यधिक यान्त्रिक कृत्रिमता ही वैदिक धारा के ह्रास की प्रधान कारण सिद्ध हुई और इससे ही श्रौत यज्ञो की परम्परा भी स्वय प्रायेण विलुप्त हो गयी, जैसा कि हम अगले परिच्छेद में दिखाएँगे।

परन्तु वैदिक गृह्य कर्मकाण्ड, वैदिक धारा के ह्रास के हो जाने पर भी, किसी-न-किसी रूप मे जीवित ही रहा। प्रारम्भ से ही उसका सबन्ध सर्व-साधारण के जीवन से था। उसमे श्रौत-यज्ञो—जैसी कृत्रिमता कभी नही आयी। गृहस्थ-जीवन को व्यवस्थित और सुसस्कृत करना ही गृह्य कर्मकाण्ड का प्रधान लक्ष्य सदा से माना गया है। इसलिए वैदिक धारा के अनन्तर आने वाली जैन, शैव, वैष्णव आदि साप्रदायिक धाराओ मे भी वैदिक गृह्य कर्मकाण्ड किसी-न-किसी रूप में बराबर चलता ही रहा। किसी साप्रदायिक धारा ने कोई विशेप विरोध उसका नही किया।

यह सब कोई जानते है कि कुछ ही समय पहले तक जैनियो मे भी विवाहादि सस्कार वैदिक पद्धति के अनुसार ही कराये जाते थे। कुछ ही दिनो से इसका कुछ विरोध होने लगा है, वह भी प्राय केवल वैदिक मन्त्रो के प्रयोग के सबन्ध मे, न कि सामान्य पद्धति के विषय मे।

वैदिक संस्कार

गृह्य कर्मकाण्ड में प्रमुख स्थान जन्म से (अथवा गर्भाधान से) मृत्यु-पर्यन्त किये जाने वाले अनेकानेक **सस्कारो** का है।

प्राणि-जीवन-शास्त्र और जनन-विज्ञान आदि विज्ञानो के अनुसन्धानो के कारण अब गर्भाधानादि सस्कारो के महत्त्व को सिद्धान्त रूप से स्वीकार किया जाने लगा है। साधारण से पौधे के पालन-पोपण में जितना ध्यान दिया जाता है,

स्पष्टत मनुष्य के जीवन की देख-भाल में उससे कही अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। यही तो अधिकतर सस्कारो का अभिप्राय है।[1]

विधि-पूर्वक या अविधि-पूर्वक, समझ कर या विना समझे, आज भी हमारे घरो मे अधिकतर वैदिक सस्कार मनाये जाते हैं। उनकी सहस्रो वर्षों की परम्परा आज भी चल रही है, भारत के किसी एक या दो प्रान्तो मे नही, किन्तु समस्त भारत मे। यह साधारण वात नही है। वैदिक धारा की यह देन, जो भारत-जैसे विशाल देश को एक ग्रन्थन में बाँधे हुए है, कितनी वडी है! कितनी अद्भुत है!

विवाह संस्कार

सस्कारो में सवसे प्रधान स्थान **विवाह-संस्कार** का है। उसका सारा ढाँचा समस्त भारत मे वैदिक धारा के ही आधार पर है। वही सहस्रो वर्षों से आने वाली पद्धति आज भी चल रही है। पाणि-ग्रहण, वह्नि-प्रदक्षिणा, सप्तपदी, लाजा-होम आदि के वही पुराने पवित्र वेद-मन्त्र, समझ कर या विना समझे, पर श्रद्धा के साथ, आज भी समस्त भारत मे उसी तरह पढे जाते है, जैसे सहस्रो वर्षों पहले पढे जाते थे।

जीवन के इस गम्भीरतम अवसर पर वधू का पाणिग्रहण करते हुए आज भी वर कहता है—

गृम्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं
मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धि-
र्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥
(ऋग्० १०।८५।३६)

अर्थात्,

सौभाग्य की समृद्धि के लिए मै तुम्हारे हाथ को पकडता हूँ,
जिससे हम दोनो पूर्णायुष्य को प्राप्त कर सकें।
भग, अर्यमा, और दानशील सवितृ-देवता—
इन्ही देवताओ ने प्रसाद-रूप में तुम्हें
गृहस्थ-धर्म के पालन के लिए मुझे दिया है॥

---

१. तु० "**वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्। कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥ गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः। बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते।**" (मनुस्मृति २।२६-२७)

आज भी वर-वधू एक-दूसरे से प्रतिज्ञा कराते हैं—

मम व्रते ते हृदयं दधामि
मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व
प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥
(पारस्कर-गृह्यसूत्र १।८)

अर्थात्

तुम्हारा हृदय मेरे व्रत के अनुकूल हो।
तुम्हारा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल हो।
मेरे कथन को तुम प्रेम से एक-मन होकर सुनो।
भगवान् प्रजापति तुमको मुझमे युक्त या अनुरक्त करें।

यदेतद् हृदयं तव तदस्तु हृदय मम।
यदिदं हृदय मम तदस्तु हृदयं तव ॥
(मन्त्रब्राह्मण १।३।९)

अर्थात्,

यह जो तुम्हारा हृदय है वह मेरा हृदय हो जाए!
यह जो मेरा हृदय है वह तुम्हारा हृदय हो जाए।

वैदिक विवाह-सस्कार कई प्रकार से अपनी विशेपता रखता है। उसमें वर-वधू की पारस्परिक प्रतिज्ञाओ से यह तो स्पष्ट ही है कि दोनो वर-वधू मे अपने नवीन जीवन के महान् उत्तर-दायित्व को समझने और उठाने की योग्यता होनी चाहिए। इसलिए वास्तव में वैदिक विवाह-सस्कार बच्चो का तो हो ही नही सकता।

वैवाहिक जीवन की सफलता के लिए जिन बातो की आवश्यकता है उन सबका बडा हृदयाकर्षक वर्णन सप्तपदी के मन्त्रो में[1] आ जाता है। सप्तपदी मे वर वधू से क्रमश कहता है कि प्रिये! हमारे वैवाहिक जीवन के लक्ष्य होगे—(१) अन्नादि आवश्यक सामग्री, (२) बल, (३) आर्थिक सपत्ति,

---

१ देखिए—"इषे एकपदी भव। सा मामनुव्रता भव। विष्णुस्त्वानयतु पुत्रान् विन्दावहै बहून्। ते सन्तु जरदष्टय ॥१॥ ऊर्जे द्विपदी भव० ॥२॥ रायस्पोषाय त्रिपदी भव० ॥३॥ मयोभवाय चतुष्पदी भव० ॥४॥ प्रजाभ्य॰ पञ्चपदी भव० ॥५॥ ऋतुभ्य. षट्पदी भव० ॥६॥ सखे सप्तपदी भव० ॥७॥" (पारस्कर-गृह्यसूत्र १।८)

(४) सुख और मन प्रसाद, (५) सन्तान-पालन, (६) दीर्घायुष्य, और (७) परस्पर प्रेम।

सफल गृहस्थ-जीवन का इससे अधिक सुन्दर चित्रण नही हो सकता।

वैदिक विवाह-सस्कार के **प्रधान-होम** मे कई प्रकार की आहुतियाँ दी जाती है। उनमें **राष्ट्रभृद्** (१२ आहुतियाँ), **जया-होम** (१३ आहुतियाँ), और **अभ्यातान-होम** (१८ आहुतियाँ) नामक आहुतियो का बडा महत्त्व है।

राष्ट्रभृद् आहुतियो द्वारा प्रार्थना की जाती है कि सारे व्यक्त जगत् की विभूतियाँ हमारे राष्ट्र की ज्ञान-सपत्ति (=ब्रह्म) और बल-सपत्ति (=क्षत्र) को बढाने में हमारी सहायक हो।[1]

जया-होम के मन्त्रो में, विभिन्न मानसिक आदि शक्तियो और सपत्तियो के वर्णन के साथ, अन्त मे कहा गया है कि परमात्मा जीवन-सग्राम मे उसी को विजय-प्रदान करते है, जो अपनी शक्तियो को पूर्णतया विकसित करता है। ऐसे पुरुष के सम्मुख सब कोई विनय का प्रदर्शन करते है।[2]

अभ्यातान–(=एक प्रकार का युद्ध-गीत)–**होम** द्वारा प्रार्थना की जाती है कि इस विश्व-प्रपञ्च मे सृष्टि के विभिन्न विभागो को नियम मे रखने वाली दैवी शक्तियाँ हमारी सहायक हो, जिससे हम मनुष्य-जीवन में सब प्रकार से शक्ति-सपन्न होकर सफलता को प्राप्त कर सके।

यह है वैदिक विवाह के स्वरूप का कुछ दिग्दर्शन।

इसके अनुसार विवाह विषयोपभोग के असयत जीवन का प्रारम्भ नहीं है। वह तो, वास्तव में, गृहस्थ-जीवन के पूर्ण उत्तर-दायित्व को समझने वाले दम्पती के लिए, जीवन-संघर्ष में और राष्ट्र की सेवा में प्रवृत्त और प्रविष्ट होने का एक महान् प्रतीक है।

वैदिक संस्कारो की उत्कृष्ट आदर्श-दृष्टि का यह केवल एक उदाहरण है।[3] इसी दृष्टि से इनको हम वैदिक धारा की एक महान् देन समझते है। मनुष्य को वास्तविक अर्थों में मनुष्य बनाने का विज्ञान और रहस्य इन संस्कारो में निहित है।

---

१. दे० "स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु" (यजु० १८।३८)

२. दे० "प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्र पृतनाजयेषु। तस्मै विशः समनमन्त सर्वाः स उग्रः स इ हव्यो बभूव॥" (पारस्कर-गृह्यसूत्र १।५)

३ उपनयन और वेदारम्भ सस्कारो की चर्चा हम आगे ब्रह्मचर्य-आश्रम के प्रसङ्ग मे करेगे।

पञ्च महायज्ञ

सस्कारो के साथ ही गृह्य-सूत्रो में पञ्च-महायज्ञो का विधान किया गया है। सस्कारो के समान ही इनकी परम्परा भी किसी-न-किसी रूप में आज भी समस्त भारत में चल रही है। हिन्दुओ के प्राय समस्त सप्रदायो की इनमें मान्यता है। इनका स्वरूप अब भी बहुत-कुछ वैदिक धारा के आधार पर ही है। अब भी इनमें वैदिक मन्त्रो का प्रयोग, कम से कम पाठ-मात्र, किया जाता है।

पञ्च-महायज्ञ हैं —

(१) ब्रह्म-यज्ञ, (२) देव-यज्ञ, (३) पितृ-यज्ञ, (४) भूत-यज्ञ, और (५) मनुष्य-यज्ञ।

इनकी विशेष विधियाँ, कर्म-काण्ड के रूप में, गृह्य-सूत्रो आदि में दी हुई हैं। प्रत्येक द्विज को ये पाँच महायज्ञ प्रतिदिन करने चाहिएँ, ऐसा शास्त्रीय विधान है।

कर्मकाण्ड की दृष्टि को छोड़कर, इनका मौलिक अभिप्राय यही है कि प्रत्येक शिक्षित और प्रबुद्ध मनुष्य का कर्तव्य है कि वह समष्टि-दृष्टि और सर्व-भूत-हित के आदर्शों के प्रकाश में ही अपने वैयक्तिक जीवन का निर्वाह करे। उसको ज्ञान और विद्या की उन्नति में (=ब्रह्मयज्ञ), विश्व को नियन्त्रण में रखने वाली दैवी शक्तियो में (=देवयज्ञ), अपने पितृ-पितामह आदि की परम्परा में (=पितृयज्ञ), प्राणियो के हित में (=भूतयज्ञ), और मानव के महत्त्व तथा मानव-कल्याण में (=मनुष्ययज्ञ) बराबर आस्था रखनी चाहिए।

स्पष्टत अपने इस मौलिक अभिप्राय की दृष्टि से पञ्च-महायज्ञो का व्यक्ति और समाज दोनो के लिए बडा महत्त्व है। इस रूप में उनको सार्वकालिक तथा सार्वभौम महत्त्व भी प्राप्त हो जाता है।

ये आदर्श भारतीय सस्कृति को वैदिक धारा से ही प्राप्त हुए हैं, यह हमारे गर्व और गौरव का विषय है।

अग्नि-देवता और पौरोहित्य

वैदिक धारा की देन में अग्नि-देवता और पुरोहित-प्रथा को हम कभी नही भूल सकते। वैदिक कर्मकाण्ड का मौलिक आधार अग्नि देवता है[1] और उस कर्म-काण्ड का निरीक्षण अथवा सचालन पुरोहित के अधीन होता था।

---

१. तु० "अग्निर्वै देवानां मुखम्" (ऐतरेय-ब्राह्मण ७।१६)। "अग्निर्वै देवाना होता" (ऐतरेय-ब्राह्मण १।२८)। "अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य" (शतपथ-ब्रा० ३।१।३।२८)। "अग्नौ वै सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति" (शतपथ-ब्रा० ३।१।३।१)।

आज भी भारतीय सस्कृति की परम्परा मे धार्मिक कर्मकाण्ड में अग्नि का प्रमुख स्थान है। वैदिक कर्मकाण्ड मे तो अग्नि का सर्वोत्कृष्ट महत्त्व है ही, तान्त्रिक कर्मकाण्ड में भी अग्नि-होम उतना ही आवश्यक समझा जाने लगा है। साधारण से साधारण पूजा में भी 'अगियारी' का महत्त्व माना जाता है।

वैदिक काल मे पुरोहित-प्रथा का बडा महत्त्व था। आज भी भारत के गाँव-गाँव मे पुरोहित-प्रथा प्रचलित है। उसमे वैदिक समय की न तो वास्तविकता है, न उस समय-जैसा यजमान-पुरोहित का घनिष्ठ सस्नेह सबन्ध। तो भी वह प्रथा अभी तक किसी प्रकार जीवित है, यह वैदिक धारा की ही देन है।

पर्व-त्यौहार और देवता-गण

वर्तमान पौराणिक हिन्दू-धर्म के पर्व-त्यौहार और देवता-गण वैदिक धारा से बहुत-कुछ भिन्न हो गये है। तो भी होली, श्रावणी जैसे त्यौहारो और पर्वों का आधार स्पष्टतया वैदिक धारा में मिलता है। इसी प्रकार पौराणिक धर्म के शिव, विष्णु और सूर्य जैसे प्रधान देवताओ का आधार भी वैदिक धारा मे मिलता है।

ऊपर जो कुछ कहा है उससे वर्तमान भारत के धार्मिक क्षेत्र मे वैदिक धारा का प्रभाव स्पष्ट है। यह प्रभाव इतना गहरा और व्यापक है कि उसकी सीमा का निर्धारण करना भी अत्यन्त कठिन है। वर्तमान हिन्दू-धर्म प्राचीन वैदिक धर्म से बहुत अशो में भिन्न है यह हमने प्रथम परिच्छेद मे दिखलाया है। ऐसा होने पर भी, उस पर वैदिक धारा के अत्यन्त व्यापक प्रभाव का पाया जाना कुछ कम आश्चर्य की बात नही है।

सामाजिक व्यवस्था

सामाजिक व्यवस्था के सवन्ध में वैदिक धारा के प्रभाव और देन को ठीक-ठीक समझने के लिए आवश्यक है कि पहले वर्तमान हिन्दू-समाज की व्यवस्था के स्वरूप को समझ लिया जाए।

वर्तमान हिन्दू-समाज की सबसे वडी विशेषता उसका जाति-भेद और वर्ण-भेद है। **जाति-भेद** से हमारा अभिप्राय हिन्दू-समाज की उन सैकडो विभिन्न जातियो या विरादरियो से है जो विवाहादि के व्यवहार में एक-दूसरे से प्राय विलकुल असवद्ध है। **वर्ण-भेद** से अभिप्राय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चार भेदो से है।

वर्ण-भेद और जाति-भेद का परस्पर क्या सवन्ध है, यह एक विचारणीय प्रश्न है।

साधारणतया लोगो की धारणा है कि वर्ण-भेद और जाति-भेद मे कोई मौलिक भेद नही है। अधिक से अधिक वे जाति-भेद को वर्ण-भेद का ही अवान्तर भेद या उपभेद मान लेते है। इधर चिरकाल से ब्राह्मणादि वर्णों के लिए भी 'जाति' शब्द का व्यवहार चल पडा है। इस कारण से भी, वर्ण-भेद और जाति-भेद मे कोई मौलिक भेद नही है, इस धारणा को पुष्टि मिली है।

पाश्चात्य विद्वानो का भी कुछ ऐसा ही विचार रहा है। उक्त दोनो प्रकार के भेदो के लिए वे 'कास्ट' (caste=जाति) शब्द का प्रयोग करते है। उनकी देखा-देखी हमारा भारतीय शिक्षित समाज भी जाति-भेद और वर्ण-भेद दोनो को सामान्य रूप से एक प्रकार का जाति-भेद ही समझने लगा है।

प्राचीन परम्परा के अनुगामी पण्डित लोगो की धारणा है कि मूल मे चार वर्णों की ही सृष्टि हुई थी, कालान्तर मे उन्ही के भेदो और उपभेदो के कारण अनेकानेक जातियाँ बन गयी। मनु ने कहा है—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः॥[1]

(मनुस्मृति १०।४)

अर्थात, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीन वर्णों को द्विजाति समझना चाहिए। चौथा वर्ण शूद्र कहलाता है। उसकी गणना द्विजातियो मे नही होती। इन चार से अतिरिक्त पञ्चम वर्ण नही है।

उक्त मत के मान लेने पर यह प्रश्न होता है कि ऐसी दशा में आजकल की अनेकानेक जातियाँ कहाँ से आ गयी? इसका उत्तर यही दिया जाता है कि इन जातियो मे से कुछ तो उपर्युक्त चार वर्णो की ही भिन्न-भिन्न शाखाएँ है, और कुछ की उत्पत्ति चारो वर्णो के परस्पर संकर से हुई है। **मनुस्मृति** आदि मे इसी प्रकार से **मागध, वैदेह, आभीर, चण्डाल** आदि जातियो की उत्पत्ति बतलायी है।[2]

दूसरा मत आज-कल के अनेक सुधारको का है। वे कहते है—प्रारम्भ में गुण-कर्मानुसार केवल चार वर्ण थे। पीछे से अनेक आर्थिक, सामाजिक तथा स्थानीय आदि कारणो से अनेकानेक जातियाँ बन गयी।

---

१. तु० "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳫं शूद्रो अजायत॥" (यजु० ३१।११)

२ देखिए—मनुस्मृति का दसवाँ अध्याय।

उक्त दोनो मत प्रारम्भ में केवल वर्ण-भेद को मानकर, **पीछे से** वर्णों में से ही जातियो की उत्पत्ति मानते है।

पर **हमारे मत में** वस्तु-स्थिति ऐसी नही है। हमारे विचार में **सामान्य रूप से** जाति-भेद का वर्ण-भेद से कोई **मौलिक** सबन्ध नही है। जाति-भेद का कारण **वर्ण**-सकरता बहुत ही कम, प्राय. नही, है। वास्तविक कारण आर्थिक, सामाजिक तथा स्थानीय हो सकते हैं। मनुष्य-जाति-भेद से भी उनका सबन्ध हो सकता है। बहुत अशो में अनेकानेक जातियाँ वर्ण-विभाग से पूर्व की भी हो सकती है। इसलिए जातियो को वर्णों का विकृत या परिवर्तित रूप न मान कर, यही कहना ठीक प्रतीत होता है कि अनेकानेक कारणो से स्वतन्त्रतया सिद्ध और कई अंशो मे वर्ण-व्यवस्था से पूर्ववर्त्ती जातियो पर बाहरी वर्ण-व्यवस्था का आरोप किया गया है।[1]

यह ध्यान देने योग्य बात है कि **यजुः-संहिता में** ही जहाँ एक ओर[2] ब्राह्मण आदि चार वर्णों की विराट् पुरुष से उत्पत्ति का वर्णन किया गया है, वहाँ दूसरी ओर[3] **सूत, रथकार, मागध, चर्मकार, मणिकार, गोपाल, चांडाल** आदि जातियो का भी वर्णन है।

'शूद्र' कहलाने वाली जातियो को देखिए। उनके लिए जाति-भेद तो वास्तविक है। वे 'शूद्र' है, इसको न तो वे कहती है, न जानती ही हैं। वास्तव में 'शूद्र' शब्द उनकी बोली या भाषा में कोई स्थान नही रखता। स्पष्टतया 'शूद्र' शब्द उनके ऊपर इसी तरह शास्त्रीय पण्डितो द्वारा 'लादा' जाता रहा है, जैसे 'नेटिव' शब्द का समारोप हमारे ऊपर विदेशी शासक किया करते थे। हिन्दू-समाज में अब भी अनेकानेक ऐसी जातियाँ है जिनके विषय में एक-मत से यह नही कहा जा सकता कि उनका किस वर्ण से सबन्ध है।

उपर्युक्त कारणो से हमें तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि हमारे समाज में वर्ण-भेद और जाति-भेद का जो द्वन्द्वात्मक द्वैविध्य दीखता है उसको हम वैदिक और वैदिकेतर धाराओ के साहाय्य के विना नही समझ सकते। जैसा प्रथम परिच्छेद में हम कह चुके हैं, वर्तमान हिन्दू-समाज की उक्त दोनो प्रवृत्तियो मे से वर्ण-भेद का सवन्व स्पष्टतया वैदिक परम्परा से है; परन्तु जाति-भेद की

---

१. इस विपय के विशेप विचार के लिए इसी ग्रन्थ के **द्वितीय परिशिष्ट** के (च) अंश को देखिए।

२. देखिए—**यजु०** ३१।११।

३. देखिए—**यजु०** ३०।५, ६, ७, ११, १५, २१।

मौलिक प्रवृत्ति को समझने के लिए हम वैदिकेतर या प्राग्वैदिक परम्परा का ही आश्रय लेना पडेगा।

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था

वर्तमान हिन्दू-समाज में पाये जाने वाले जाति-भेद का मौलिक कारण जो भी हो, इसमें सन्देह नही कि उसमें चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के रूप में पाये जाने वाले वर्ण-भेद का सवन्ध परम्परया वैदिक धारा से ही है।

पिछले परिच्छेदो में वर्ण-विभाग की प्रवृत्ति के प्रारम्भ के विषय में और चारो वर्णों में परस्पर घनिष्ठ अङ्गाङ्गि-भाव के आदर्श-सवन्ध के विषय में हम कह चुके है।

हमने यह भी दिखलाया है कि वैदिक धारा की तृतीय अवस्था में, जिसको हमने वैदिक धारा के उत्कर्ष का मध्याह्न-काल कहा है, तात्कालिक परिस्थितियो के कारण रूढि-मूलक वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भ हो गया था।

धीरे-धीरे राजनीतिक स्थिति के शान्त और स्थिर हो जाने पर, और साथ ही वैदिक कर्म-काण्ड के अति जटिल हो जाने पर, रूढि-मूलक वर्ण-विभाग की प्रवृत्ति को अधिकाधिक प्रोत्साहन और अनुकूल वातावरण मिला।

ऐसी परिस्थिति में वर्ण-विभाग की प्रवृत्ति में क्रमश अधिकाधिक रूढि-मूलकता का आना, न केवल अपने हस्तगत स्वार्थों और महत्त्व की रक्षा की सहज प्रवृत्ति के कारण, अपितु तात्कालिक समाज के लिए अनेक प्रकार की सुविधा के कारण भी, विलकुल स्वाभाविक था।

उस समय की परिस्थिति में उस वर्ण-व्यवस्था से अनेक लाभ भी थे, जैसे—

प्रथम तो, राष्ट्र मे अनेकानेक वर्गों या जाति-सदृश भेदो में वँटी हुई जनता को अङ्गाङ्गि-भावना से युक्त केवल चार वर्णों में वर्गीकृत करना,

दूसरे, उक्त वर्ण-व्यवस्था के प्रथमत आजीविका-मूलक होने से, जनता में आर्थिक सघर्ष और प्रतिस्पर्धा को अवसर न देना,

तीसरे, राष्ट्र की समुन्नति और रक्षा के लिए आवश्यक अङ्गो में विशेषज्ञता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना, और तदनुकूल वातावरण को उत्पन्न करना।

किसी राष्ट्र की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए उक्त वातो का कितना अधिक महत्त्व है, यह कहने की वात नही है। निम्न-निर्दिष्ट वैदिक प्रार्थना में यही राष्ट्रीय भावना प्रतिध्वनित हो रही है —

> आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्।
> आ राष्ट्रे राजन्य· शूर इषव्योऽतिव्याधी
> महारथो जायताम्।

दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा
जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य
यजमानस्य वीरो जायताम् ।
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु ।
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् ।
योगक्षेमो नः कल्पताम् ।। (यजु० २२।२२)

अर्थात्,

भगवन् हमारे राष्ट्र में—
वेदाध्ययन-शील ब्राह्मण उत्पन्न हो !
शूर, शस्त्रास्त्र-विद्या में दक्ष, शत्रु-सहारक
और महारथी क्षत्रिय अधिकाधिक उत्पन्न हो !
दुग्ध देने वाली गौएँ, भारवाही पुष्ट बैल
और शीघ्रगामी घोडे पाये जाएँ !
सर्व-गुण-सपन्न सुशील सुन्दर स्त्रियाँ हो !
यजमानो के पुत्र विजय-शील, युद्धार्थ सन्नद्ध,
सभ्य, समर्थ और वीर हो !
हमारी आवश्यकता के अनुसार मेह वरसा करे !
अन्न की खेती से हमें यथासमय प्रभूत अन्न प्राप्त हो !
हमारा योग-क्षेम हो !

वर्ण-व्यवस्था आगे चलकर कितनी ही जीर्ण-शीर्ण अथवा विकृत क्यो न हो गयी हो, इस समय तक वह अपने स्वर्ण-युग में थी। तभी तो उस युग में चारो वर्णों मे परस्पर वह ममत्व-भावना विद्यमान थी जिसका हम पिछले परिच्छेद मे उल्लेख कर चुके हैं। उसी युग मे यजमान-पुरोहित का अथवा गुरु-अन्तेवासी का वह अलौकिक मधुर स्नेह-सवन्ध सभव था, जिसका वर्णन प्राचीन साहित्य मे अनेकत्र मिलता है, पर आज के कृत्रिम सघर्प के वातावरण में जिस की कल्पना भी करना हमारे लिए कठिन है।

उसी समय के वर्ण-व्यवस्था-विपयक आदर्श-वाद को लेकर तत्तद् वर्णो के विषय मे महान् उदात्त विचार और प्रशसा-वाद प्राचीन साहित्य मे पाये जाते हैं।[1]

---

१. देखिए—"एतस्मिन्नार्यावर्ते निवासे ये ब्राह्मणा कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारगतास्तत्र भवन्त. शिष्टाः" (महाभाष्य ६।३।१०९)। तथा, "यदृच्छया चोपपन्न स्वर्गद्वारमपावृतम्। सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।।" (गीता २।३२)।

पर "प्रभुता पाय काहि मद नाहीं" इस उक्ति के अनुसार, समाज मे विशेष महत्त्व और गौरव को पाने वाले वर्ग बराबर कर्तव्य-भावना और न्याय्य-बुद्धि से ही काम करते रहें, यह नही हो सकता। इसलिए उक्त स्थिति आगे चलकर विगडे विना नही रह सकती थी।

अपनी प्रारम्भिक अवस्था में वर्ण-व्यवस्था में काफी लचीलापन था। एक वर्ण से दूसरे वर्ण में आना-जाना असंभव नहीं था।[1] अनिर्ज्ञात-पितृक सत्यकाम[2] और सत्यवती-सुत कृष्णद्वैपायन व्यास को भी उन दिनो समाज में अत्यन्त संमानित पद मिल सकता था। वास्तव में इसी लचीलेपन में उस समय की वर्ण-व्यवस्था की वास्तविकता और दृढता निहित थी।

परन्तु धीरे-धीरे वह लचीलापन नष्ट होने लगा और वर्ण-व्यवस्था मे अधिकाधिक कृत्रिमता और कट्टरपना आने लगा।

प्राय. यही समय था जब कि 'वर्ण' के स्थान में 'जाति' शब्द का व्यवहार प्रारम्भ हुआ होगा। हमें अभी तक वैदिक संहिताओ में 'जाति' शब्द नहीं मिला है।

ब्राह्मण-ग्रन्थो मे भी शतपथ-ब्राह्मण (१।८।३।६) के एक सदिग्ध स्थल को छोडकर 'वर्ण' के अर्थ मे प्रयुक्त 'जाति' शब्द हमको नही मिला है।

वैदिक धारा के ह्रास मे वर्ण-व्यवस्था की उक्त कृत्रिमता का कहाँ तक हाथ था, इसका विचार हम अगले परिच्छेद मे करेगे। यहाँ तो हमे यही दिखलाना है कि हमारे समाज मे प्रचलित वर्ण-व्यवस्था, चाहे वह अच्छी है या दोप-पूर्ण, परम्परया बहुत-कुछ वैदिक धारा की ही देन है।

ऐतिहासिक दृष्टि से हम उसकी नितरा उपेक्षा नहीं कर सकते। उसके साथ आदर्शों और इतिहास का सम्बन्ध रहा है। भारतवर्ष के सतत-परिवर्तन-शील

---

१ इतिहास-पुराण मे सैकड़ो उदाहरण वर्ण-परिवर्तन के दिये हुए मिलते हैं। गोत्रो तक ने अपना वर्ण बदल डाला। इस सम्बन्ध में भागवत (९।२,३,२१), महाभारत, आदिपर्व (१७७।१४), हरिवंशपुराण (११।६५६); महाभारत, वनपर्व (२१२।११-१२), महाभारत, शल्यपर्व (४०।१-११), आदि आदि देखिए।

२ देखिए—"सत्यकामो ह जाबालो जबाला मातरमामन्त्रयाचक्रे ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किंगोत्रोऽहमस्मीति ॥१॥ सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि। बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि. ." (छान्दोग्योपनिषद् ४।४।१-२)।

लम्बे इतिहास में उसने अच्छा-बुरा दोनों प्रकार का प्रभाव दिखलाया है। उसके प्रारम्भ, स्वरूप और क्रमिक विकास को वैदिक धारा के अध्ययन के बिना हम नही समझ सकते।

> **निश्चय ही घोर कृत्रिमता के अपने वर्तमान रूप में वह आगे नहीं चल सकती। किसी व्यवस्था के रूप में वह पहले ही मर चुकी है। उसमें न तो अब कोई वास्तविकता है, न कोई आदर्शवाद। आज उसके रूप में यदि एक ओर मिथ्या अभिमान है, तो दूसरी ओर घोर अपमान और आत्म-ग्लानि! जीवन के संघर्ष में उसका कोई वास्तविक योग-दान भी नहीं है।**

हमारा कर्तव्य है कि राष्ट्र के पुनर्निर्माण में पूर्वोक्त वैदिक आदर्शों से प्रेरित **वास्तविक** वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त से काम लें, जिससे देश के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्वाभाविक उदात्त प्रवृत्तियो के आधार पर पूर्ण विकास का अवसर प्राप्त हो सके। यह तो प्रत्येक अवस्था में परम आवश्यक है कि वर्तमान कृत्रिम वर्ण-व्यवस्था (जो वास्तव में अव्यवस्था ही है) के नाम पर न तो किसी के विकास में बाधा डाली जाए, न मिथ्या अभिमान के कारण किसी को तुच्छ समझा जाए, और न उसके कारण हमारे चरित्र में "**अन्तः-शाक्ता बहिःशैवाः**" के अनुसार किसी प्रकार का मानसिक पाषण्ड, छद्म या द्वैधी-भाव हो।

ऊपर हमने 'वैदिक आदर्शों से प्रेरित वास्तविक वर्ण-व्यवस्था' का उल्लेख किया है। इसका अभिप्राय यही है कि उसका मौलिक आधार **मानवता के सम्मान और गौरव की भावना** पर होना चाहिए। मनुष्य का स्थान दृश्य जगत् के समस्त प्राणियो से ऊँचा है। वैदिक मन्त्रो आदि में अनेकत्र मानवता के गौरव की चर्चा है।[1] वेद में वर्णों के स्वरूप को विराट् पुरुष के अङ्गो से आलकारिक उत्पत्ति के रूप में बतलाया गया है, यह हम ऊपर दिखला चुके है। उस विराट् पुरुष की प्रति-मूर्त्ति मानव के रूप में ही बतलायी जा सकती है। इसलिए मनुष्य मनुष्य है, इसी मे उसका अद्वितीय महत्त्व निहित है। इसीलिए वास्तविक वर्ण-व्यवस्था का तात्पर्य मानवता के गौरव की भावना को पुष्ट करने में ही हो सकता है, न कि उसके प्रति किसी प्रकार की हीन-भावना के प्रसार में।

---

१. देखिए—"अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्" (अथर्व० १२।१।५४)। "यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः" (अथर्व० ६।५८।३)। "पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्" (शतपथ-ब्रा० २।५।१।१)।

उपर्युक्त दृष्टि से, वास्तविक वर्ण-व्यवस्था में नीच-ऊँच की भावना के लिए कोई स्थान हो ही नहीं सकता। पर चिरकाल से हमारी कृत्रिम वर्ण-व्यवस्था ने इसी भावना को पुष्ट किया है और मानवता के गौरव की भावना के कुचलने में ही अपनी कृतकृत्यता दिखलायी है!

वैदिक (अथवा वैज्ञानिक) वर्ण-व्यवस्था मानवता के समान और उसके अवाधित विकास के सिद्धान्त पर आश्रित है। उसकी दृष्टि में 'ब्राह्मण', 'क्षत्रिय', 'वैश्य' और 'शूद्र' इन रूढ अतएव निर्जीव और निष्प्राण **शब्दों का** कोई विशेष महत्त्व नही है। महत्त्व है केवल उनके वास्तविक अभिप्रायो का और मौलिक आदर्शो का।

इसी अर्थ में वर्ण-व्यवस्था का सिद्धान्त वैदिक धारा की वास्तविक देन कही जा सकती है।

चातुराश्रम्य-व्यवस्था

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के समान ही चातुराश्रम्य-व्यवस्था का भी प्रारम्भ वैदिक धारा से हुआ है, ऐसा कथन प्राय हमारे प्राचीन धर्मशास्त्र आदि के साहित्य में मिलता है। इस विषय में विशेष विचार हम **औपनिषद धारा** के प्रसग में करेंगे। पिछले परिच्छेद में हमने कहा है कि कम से कम मन्त्र-काल मे चारो आश्रमो की व्यवस्था का प्रारम्भ नही हुआ था। उस प्रसङ्ग में हमने **ब्रह्मचर्य** और **गृहस्थ** इन दो आश्रमो के सवन्ध में वेद-मन्त्रो के उत्कृष्ट और भव्य विचारो को भी दिखलाया है।

वास्तव में उक्त दोनो आश्रमो के उत्कृष्ट आदर्श-वाद को हम वैदिक धारा की वहु-मूल्य और अद्भुत देन कह सकते हैं।

ब्रह्मचर्य-आश्रम

ब्रह्मचर्य की महिमा का वडा हृदय-स्पर्शी वर्णन अथर्ववेद के एक पूरे सूक्त (११।५) में दिया गया है, यह हम पिछले परिच्छेद में वतला चुके हैं।

ब्रह्मचर्य का प्रारम्भ उपनयन तथा वेदारम्भ सस्कारो से होता था। उपनयन के समय वालक प्रतिज्ञा करता है—

> **अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयम्।**
> **तेनर्ध्यासम्। इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि॥** (मन्त्र-ब्राह्मण १।६।६)

अर्थात्, हे व्रतपते अग्नि-देव! मैं अनृत अथवा अज्ञान से सत्य अथवा प्रकाश की ओर चलना चाहता हूँ। आज से यही मेरा व्रत होगा। मैं इस व्रत को

पूर्णतया पालन करता हुआ उन्नति के मार्ग पर बराबर अग्रसर होता रहूँ, यही मेरी प्रार्थना है। आप मुझे इस व्रत पर बराबर आरूढ रहने का सामर्थ्य प्रदान करें।

भिन्न-भिन्न दैवी शक्तियो से—वायु, सूर्य और चन्द्रमा से—और अन्त में **'व्रतानां व्रतपति'** परमात्मा से वह यही प्रार्थना करता है।

उसी अवसर पर आचार्य उस बालक को अपने सरक्षण मे लेता हुआ कहता है—

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु ।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥
(पारस्कर-गृह्यसूत्र २।२)

अर्थात्,

मेरे व्रत में तुम्हारी आस्था हो।
तुम्हारे विचार मेरे विचार के अनुकूल हो।
मेरे कथन को तुम एक-मन होकर सुनो।
विद्याओ के प्रेरक भगवान् तुमको मुझमे अनुरक्त करे।

अन्त मे आचार्यादि सब मिलकर बालक को आशीर्वाद देते है—

त्व जीव शरदः शतं वर्धमान. ।
आयुष्मान् तेजस्वी वर्चस्वी भूयाः !

अर्थात्, तुम वरावर उन्नति के मार्ग पर चलते हुए सौ वर्ष की आयु को प्राप्त करो। तुम तेजस् और वर्चस् को प्राप्त करो और पूर्ण आयु को प्राप्त होओ।

वेदारम्भ के अवसर पर आचार्य ब्रह्मचारी को जो उपदेश देता है उसका कुछ अश यह है—

कर्म कुरु। दिवा मा स्वाप्सीः। आचार्याधीनो भवान्यत्राधर्माचरणात्। नित्य युक्ताहारविहारवान् विद्योपार्जने च यत्नवान् भव।

अर्थात्, सदा कर्मशील बनो। दिन मे न सोओ। अधर्माचरण को छोटकर आचार्य के अधीन होकर रहो। आहार-विहार में यथोचित नियमो का पालन करते हुए, सदा विद्योपार्जन में यत्नशील रहो।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य-आश्रम में **श्रम और तपस्या का जीवन** व्यतीत करते हुए, **और आचार्य के स्नेह-मूलक अनुशासन** मे रहते हुए, दत्तचित्त होकर, विद्यो-

पार्जन करने का आदर्श रखा गया था।[1] गुरु-शिष्य का सवन्ध पिता-पुत्र के सवन्ध से भी कही अधिक घनिष्ठ और स्नेहमय होता था। सहस्रो वर्षों तक भारतवर्ष मे वैदिक धारा के इस महान् आदर्श का अनुसरण किया जाता रहा। उसी के परिणाम-स्वरूप भारतवर्ष के अमूल्य और अद्वितीय प्राचीन महान् वाङ्मय की सृष्टि हुई और वह वहुत-कुछ आज भी सुरक्षित है।

देश के सामने आजकल जो अत्यन्त कठिन शिक्षा-समस्या घोर-रूप मे उपस्थित है उसका एकमात्र समाधान, हमारी समझ में, वैदिक धारा के ब्रह्मचर्य-आश्रम के **श्रम-तपः-प्रधान आदर्श** मे निहित है। वह आदर्श आज की परिस्थिति मे किस रूप मे कार्यान्वित हो सकता है, यह शिक्षा-शास्त्र के विशेषज्ञो के विचार का विपय है।

गृहस्थ-आश्रम

गृहस्थ-आश्रम के विषय मे भी वैदिक धारा के सदेश या देन के रूप मे, जो कुछ ऊपर कहा है उसके अतिरिक्त, एक-दो और वातो की ओर विशेप ध्यान देने की आवश्यकता है। वे ये है—

इधर चिरकाल मे हमारा गृहस्थाश्रम और वैवाहिक जीवन आदर्श-हीन-सा रहा है। स्त्री-जाति का पद भी वरावर गिरता गया है। हमारे दार्शनिक ग्रन्थो तक मे स्त्री को घर की अन्य उपभोग की सामग्री की समानता दी गयी है।[2] स्त्री के विपय मे अनेक प्रकार के दुर्वचनो से हमारे इधर के ग्रन्थ भर-पूर है।

इस विपय मे यह स्पष्ट कर देने की आवश्यकता है कि वैदिक धारा का सदेश इस सवन्ध मे विल्कुल इसके विपरीत है। पिछले परिच्छेद में दिखाये गये विवाह-सवन्धी मन्त्रो से यह वात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है। इसी सवन्ध मे निम्न-लिखित वचनो को भी देखिए—

जायेदस्तम्। (ऋग्० ३।५३।४)

अर्थात्, पत्नी ही घर को वनाती है, या उसका सर्वस्व होती है।

---

१ तु० "य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदु:खं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्। तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह॥" (निरुक्त २।४)

२ देखिए—"मानसस्यापि संतापस्य प्रतीकाराय मनोज्ञस्त्रीपानभोजनविलेपन-वस्त्रालंकारादिविषयसंप्राप्तिरुपायः सुकरः।" (सांख्यतत्त्वकौमुदी १)

अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया।...
यावज्जायां न विन्दते...असर्वो हि तावद्भवति।
(शतपथब्राह्मण ५।२।१।१०)

अर्थात्, स्त्री पुरुष का अर्द्ध-भाग होती है। इस लिए जब तक पुरुष स्त्री को नही पाता है, तब तक उसमें पूर्णता नही आती।

पुरुषो जायां वित्त्वा कृत्स्नतरमिवात्मानं मन्यते।
(ऐतरेयारण्यक १।३।५)

अर्थात्, स्त्री के बिना पुरुष के व्यक्तित्व में अधूरापन रहता है। पत्नी को पाकर ही उसमें पूर्णता आती है।

वैदिक कर्मकाण्ड के सपादन के लिए पति-पत्नी दोनो का साथ होना आवश्यक समझा जाता था। वास्तव में 'पत्नी' शब्द का अर्थ ही यह है कि जो पति के साथ में यज्ञो का सपादन करे।[1]

सस्कृत भाषा का नियम है कि कई शब्दो के द्वन्द्व समास मे अभ्यर्हित (जो अधिक मान्य हो) वाची शब्द पहले रहता है।[2] "माता-पितरौ" में 'माता' शब्द इसीलिए पहले आता है। यही कारण है जिससे आजकल भी हम 'राधाकृष्ण', 'सीताराम', 'गौरीशकर' आदि समस्त शब्दो में 'राधा' आदि शब्दो को पहले रखते है।

अभिप्राय यह है कि वैदिक धारा के अनुसार स्त्री का पद एक प्रकार से पुरुष से भी ऊचा माना जाता था।[3] वह भावना अब भी अनेक रूपो में हमारे साहित्य और भाषा में सुरक्षित है।

---

१. देखिए—**"पत्युर्नो यज्ञसंयोगे"** (पाणिनि-सूत्र ४।१।३३)।

२. देखिए—**"अभ्यर्हितं च पूर्वं निपततीति वक्तव्यम्। मातापितरौ।"** (पाणिनि-सूत्र २।२।३४ पर वार्तिक)।

३. वैदिक-काल में स्त्री का पद आज-कल की अपेक्षा कही ऊँचा था, इसके प्रमाण पिछले काल के धर्मशास्त्र के ग्रन्थो में भी मिलते है। उदाहरणार्थ, स्मृतिचन्द्रिका, सस्कारकाण्ड, पृष्ठ ६२ पर यम के नाम से उद्धृत, निम्न-श्लोक को देखिए—

"पुराकल्पे तु नारीणा मौञ्जीबन्धनमिष्यते। अध्यापनं च वेदाना सावित्रीवचनं तथा॥"

स्त्री जाति के विषय मे वैदिक धारा की इस भावना को पुनर्जीवित करने की आवश्यकता है।

पिछले परिच्छेद में वैवाहिक मन्त्रो के आधार पर हम दिखला चुके हैं कि गृहस्थाश्रम का बडा भारी उत्तरदायित्व है। साथ ही मन्त्रो में यह प्रार्थना है कि पति-पत्नी को **जीवन-पर्यन्त** साथ रहकर गृहस्थ-धर्म का पालन करना चाहिए।

जहाँ तक वैदिक कर्मकाण्ड का, विवाह-सस्कार का, और वैदिक सहिताओं का सवन्घ है, यह स्पष्ट है कि वैदिक-धारा का सन्देश गृहस्थाश्रम तक समाप्त हो जाता है। उसमें वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमो के लिए कोई स्थान नही है।[1] इन दोनो आश्रमो की प्रवृत्ति औपनिषद धारा के प्रभाव-वश हुई होगी, जैसा हम उस धारा के प्रसङ्ग मे दिखलाएँगे।

इसमें सन्देह नही कि गृहस्थ-आश्रम मे रहते हुए अपने कर्तव्यो के करने में मनुष्य को त्याग, तपस्या, श्रम आदि के अत्यन्त कठिन व्रतो का पालन करना पडता है। अनेक प्रकार से राष्ट्र और समाज की उन्नति और रक्षा में सहयोग देना पडता है। महान् से महान् नैतिक आदर्शों के अनुसरण का अवसर मिलता है। इसलिए वैदिक धारा के अनुसार **आजीवन साथ में रहकर** गृहस्थ-धर्म के महान् उत्तरदायित्व का निर्वाह करना ही पति-पत्नी का महान् कर्तव्य है।

यह ध्यान में रखने की वात है कि वैदिक धारा के प्रवर्तक ऋषिलोग, जिनको वेद-मन्त्रो में **'पथिकृद्'** और **'लोककृद्'** कहा गया है, सब के सब गृहस्थाश्रमी होते थे। ऋषियो के दाम्पत्य की कथाओ से पुराण भरे पडे हैं। वैदिक धारा के काल में किसी संन्यासाश्रमी ऋषि की कथा हमको विदित नही है।

---

१ इस सम्वन्ध म इन प्रमाणो को भी देखिए—**"ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या अप्रजननत्वादितरेषाम्.."** (बौधायनधर्मसूत्र। २।६।११।२९–३०)। **"एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रम्। जरया वा ह्येवास्मान् मुच्यन्ते मृत्युना वा।"** (शतपथब्रा० १२।४।१।१)। न्यायसूत्र के ४।१।५९ से ४।१।६२ तक सूत्रो में और उनके वात्स्यायन-भाष्य में भी इस जरामर्यवाद पर विचार किया गया है। मुख्यत, औपनिषद धारा के प्रमाणो के आधार पर ही वहाँ जरामर्यवाद तथा ऐकाश्रम्यवाद का खण्डन करके चातुराश्रम्य-सिद्धान्त की स्थापना की है। उसमे भी हमारे इन प्रतिपादन की, कि मूल वैदिक धारा में वानप्रस्थ तथा सन्यास का विधान नही था, पुष्टि ही होती है।

एक प्रकार से **भगवद्गीता** का भी यही सदेश है।[1]

अपने कर्तव्यो से घबडाकर, समाज को हेय समझकर, केवल अपने व्यक्तिगत **संभावित** कल्याण की भावना से सन्यास-आश्रम-ग्रहण प्रायेण अकर्मण्यता में ही पर्यवसित होता है। औपनिषद धारा के प्रसङ्ग में इस प्रश्न पर हम पुन विचार करेंगे।

गृहस्थाश्रम की उपर्युक्त उत्तरदायित्व-पूर्ण भावना भी वैदिक धारा की एक महान् देन है और हमारे आदर्श-हीन वर्तमान गृहस्थ-जीवन के लिए एक पवित्र सदेश है।

साहित्यिक देन

ऊपर विभिन्न क्षेत्रो मे वैदिक धारा के प्रभाव और देन का हमने वर्णन किया है। साहित्यिक दृष्टि से वैदिक धारा की देन का महत्त्व उनमे से किसी से कम नही है।

पॉचवे परिच्छेद मे हमने वैदिक-धारा के वाङ्मय की रूपरेखा को दिखलाया है। उस वाङ्मय मे से यदि हम केवल **ऋग्वेद** को ही ले ले, तो उसका भी महत्त्व ससार के किसी भी प्राचीन स्मारक से कही अधिक है, न केवल अपनी अत्यन्त प्राचीनता के ही कारण, न केवल अपने साहित्यिक या भापा-विज्ञान-सबन्धी महत्त्व के ही कारण, अपितु मनुष्य-जीवन मे नवीन प्राणपद और आशामय स्फूर्ति को देने वाले अपने सार्वभौम और सार्वकालिक सदेश के कारण भी। भारतवर्ष के लिए तो उस समस्त वाङ्मय का अनेक दृष्टियो से वडा महत्त्व है। उसी वाङ्मय मे **पाणिनि मुनि** की **अष्टाध्यायी** जैसे अद्भुत ग्रन्थ-रत्न भी सम्मिलित है, जिनकी अपने-अपने क्षेत्र में उत्कृष्टता विदेशी विद्वानो को आज भी आश्चर्यान्वित करती है।

परन्तु वैदिक धारा की साहित्यिक देन और प्रभाव का क्षेत्र उसके अपने वाङ्मय से ही परिमित नही है। वैदिक वाङ्मय के अतिरिक्त भी, सस्कृत साहित्य का जो महान् विस्तार हुआ है उस पर भी, साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप से, वेदो का तथा वैदिक धारा का महान् प्रभाव पडा है। उदाहरणार्थ,

---

१. देखिए—"**काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।... यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च। कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥**" (गीता १८।२, ५-६)

आयुर्वेद, **धनुर्वेद**, **गान्धर्व-वेद** औ **अर्थशास्त्र**, ये चार **उपवेद** माने जाते है। 'उपवेद' शब्द से ही इनका वैदिक आधार या सबन्ध स्पष्ट है। प्राचीन परम्परा के अनुसार भी इनका क्रम से **ऋग्वेद**, **यजुर्वेद**, **सामवेद** और **अथर्ववेद** से सबन्ध माना जाता है। **कौटिल्य** के **अर्थशास्त्र** का निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध है—

व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः ।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ।।
(अर्थशास्त्र, विद्यासमुद्देश)

अर्थात्, आर्य-मर्यादाएँ जिसमे व्यवस्थित है, वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म जिसमे पाले जाते है, **जो वेदो से रक्षित है**, ऐसा लोक प्रसन्न ही रहता है, दु ख को नही पाता।

उपनिषदो के जगत्प्रसिद्ध महान् साहित्य का वैदिक धारा से घनिष्ठ सबन्ध है। प्राचीन परम्परा तो उसको वेदो मे ही सम्मिलित मानती है।

दार्शनिक साहित्य मे 'आस्तिक' कहे जाने वाले छहो दर्शनो का वैदिक-धारा से सबन्ध इसी से स्पष्ट है कि वे प्राय वैदिक परम्परा को पुष्ट करने के लिए ही बने है, या, कमसे कम, वेदो का प्रामाण्य मानकर ही चलते है।

पुराण और धर्मशास्त्र का विस्तृत साहित्य भी, चाहे उसका प्रतिपाद्य कुछ भी हो, बराबर वेदो की महिमा के गीत गाता है। यही बात **रामायण और महाभारत** के सबन्ध मे भी कही जा सकती है। **भागवत** का निर्माण वेदो और उपनिषदो के सार से हुआ है, इस धारणा का उल्लेख हम ऊपर कर चुके है।

नाट्य-शास्त्र का आपातत वेदो से कोई सबन्ध नही दीखता। तो भी उसके ग्रन्थकार का कहना है—

नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसंभवम् ।
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ।।
(नाट्यशास्त्र १।१५, १६)

अर्थात, पाठ्य को ऋग्वेद ने, गीत को सामवेद ने, अभिनयो को यजुर्वेद ने और रसो को अथर्ववेद से लेकर नाट्य-वेद की रचना की गयी है।

इसी प्रकार, **तन्त्रशास्त्र** का बहुत-कुछ आधार अथर्ववेद में है, ऐसा कहा जाता है।

साम्प्रदायिक साहित्य मे भी बहुत अश तक वेदो के प्रामाण्य को माना जाता है। उनके शास्त्रार्थो का विषय प्राय यह रहता है कि उनके अपने-अपने सिद्धान्त वेदानकूल है या नही।

एक प्रकार से **भगवद्गीता** का भी यही सदेश है।[1]

अपने कर्तव्यो से घबडाकर, समाज को हेय समझकर, केवल अपने व्यक्तिगत **संभावित** कल्याण की भावना से सन्यास-आश्रम-ग्रहण प्रायेण अकर्मण्यता में ही पर्यवसित होता है। औपनिषद धारा के प्रसङ्ग में इस प्रश्न पर हम पुन विचार करेंगे।

गृहस्थाश्रम की उपर्युक्त उत्तरदायित्व-पूर्ण भावना भी वैदिक धारा की एक महान् देन है और हमारे आदर्श-हीन वर्तमान गृहस्थ-जीवन के लिए एक पवित्र सदेश है।

साहित्यिक देन

ऊपर विभिन्न क्षेत्रो मे वैदिक धारा के प्रभाव और देन का हमने वर्णन किया है। साहित्यिक दृष्टि से वैदिक धारा की देन का महत्त्व उनमें से किसी से कम नही है।

पाँचवे परिच्छेद मे हमने वैदिक-धारा के वाङ्मय की रूपरेखा को दिखलाया है। उस वाङ्मय मे से यदि हम केवल **ऋग्वेद** को ही ले ले, तो उसका भी महत्त्व ससार के किसी भी प्राचीन स्मारक से कही अधिक है, न केवल अपनी अत्यन्त प्राचीनता के ही कारण, न केवल अपने साहित्यिक या भापा-विज्ञान-सबन्धी महत्त्व के ही कारण, अपितु मनुष्य-जीवन मे नवीन प्राणपद और आशामय स्फूर्ति को देने वाले अपने सार्वभौम और सार्वकालिक सदेश के कारण भी। भारतवर्ष के लिए तो उस समस्त वाङ्मय का अनेक दृष्टियो से बडा महत्त्व है। उसी वाङ्मय मे **पाणिनि मुनि** की **अष्टाध्यायी** जैसे अद्भुत ग्रन्थ-रत्न भी सम्मिलित है, जिनकी अपने-अपने क्षेत्र में उत्कृष्टता विदेशी विद्वानो को आज भी आश्चर्यान्वित करती है।

परन्तु वैदिक धारा की साहित्यिक देन और प्रभाव का क्षेत्र उसके अपने वाङ्मय से ही परिमित नही है। वैदिक वाङ्मय के अतिरिक्त भी, सस्कृत साहित्य का जो महान् विस्तार हुआ है उस पर भी, साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप से, वेदो का तथा वैदिक धारा का महान् प्रभाव पडा है। उदाहरणार्थ,

---

१. देखिए—"**काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।... यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च। कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥**" (गीता १८।२, ५-६)

आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व-वेद और **अर्थशास्त्र**, ये चार **उपवेद** माने जाते है। 'उपवेद' शब्द से ही इनका वैदिक आधार या सवन्ध स्पष्ट है। प्राचीन परम्परा के अनुसार भी इनका क्रम से **ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद** और **अथर्ववेद** से सवन्ध माना जाता है। **कौटिल्य** के **अर्थशास्त्र** का निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध है—

व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः ।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ।।

(अर्थशास्त्र, विद्यासमुद्देश)

अर्थात्, आर्य-मर्यादाएँ जिसमे व्यवस्थित है, वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म जिसमें पाले जाते है, **जो वेदो से रक्षित है,** ऐसा लोक प्रसन्न ही रहता है, दु ख को नही पाता।

उपनिषदो के जगत्प्रसिद्ध महान् साहित्य का वैदिक धारा से घनिष्ठ सवन्ध है। प्राचीन परम्परा तो उसको वेदो में ही सम्मिलित मानती है।

दार्शनिक साहित्य में 'आस्तिक' कहे जाने वाले छहो दर्शनो का वैदिक-धारा से सवन्ध इसी से स्पष्ट है कि वे प्राय वैदिक परम्परा को पुष्ट करने के लिए ही वने है, या, कमसे कम, वेदो का प्रामाण्य मानकर ही चलते है।

पुराण और धर्मशास्त्र का विस्तृत साहित्य भी, चाहे उसका प्रतिपाद्य कुछ भी हो, वरावर वेदो की महिमा के गीत गाता है। यही वात **रामायण** और **महाभारत** के सवन्ध मे भी कही जा सकती है। **भागवत** का निर्माण वेदो और उपनिषदो के सार से हुआ है, इस धारणा का उल्लेख हम ऊपर कर चुके है।

नाट्य-शास्त्र का आपातत वेदो से कोई सवन्ध नही दीखता। तो भी उसके ग्रन्थकार का कहना है—

नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसंभवम् ।
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ।।

(नाट्यशास्त्र १।१५, १६)

अर्थात, पाठ्य को ऋग्वेद से, गीत को सामवेद से, अभिनयो को यजुर्वेद से और रसो को अथर्ववेद से लेकर नाट्य-वेद की रचना की गयी है।

इसी प्रकार, **तन्त्रशास्त्र** का वहुत-कुछ आधार अथर्ववेद मे है, ऐसा कहा जाता है।

साम्प्रदायिक साहित्य में भी वहुत अश तक वेदो के प्रामाण्य को माना जाता है। उनके शास्त्रार्थों का विषय प्राय. यह रहता है कि उनके अपने-अपने सिद्धान्त वेदानकूल है या नही।

भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओ में जो धार्मिक, साम्प्रदायिक या दार्शनिक साहित्य लिखा गया है उसका भी, इसी प्रकार, वैदिक धारा से किसी-न-किसी रूप में सबन्ध दिखलाया जा सकता है।

तात्पर्य यह है कि अन्यान्य क्षेत्रो के समान, साहित्यिक क्षेत्र में भी वैदिक धारा का व्यापक प्रभाव दिखलाया जा सकता है।

उपसंहार

जो कुछ ऊपर कहा है उससे स्पष्ट है कि भारतीय सस्कृति के विकास मे अपनी अद्भुत देन के कारण वैदिक धारा हम भारतीयो के लिए, सच्चे अर्थों में, सर्वदैव सदभिमान की वस्तु रहेगी। भारतीय सस्कृति की दृष्टि से वेद ऐसे प्रकाश-स्तम्भ हैं जिनकी ज्योति सदा ही हमारे जीवन के लिए मार्ग-प्रदर्शन करती रहेगी।[१]

—०—

१. तु० "स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।" (अथर्व० १९।७१।१); तथा "मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्। प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे॥" (अथर्व० ६।१०८।२)।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

वैदिक धारा का ह्रास

पिछले परिच्छेदो में वैदिक धारा का जो वर्णन दिया गया है उससे भारतीय सस्कृति के विकास में वैदिक धारा का अद्वितीय महत्त्व स्पष्ट है। न केवल जीवन में सुखद, स्वस्थ, भव्य और स्वर्गीय भावना के माधुर्य-रस का सचार करने वाली अपनी अद्भुत दार्शनिक दृष्टि के कारण ही, न केवल अपनी उदात्त नैतिक भावनाओ के कारण ही, न केवल मनुष्य-जीवन के कर्तव्यो के विषय में अपनी व्यापक दृष्टि के कारण ही, अपितु भारतीय सस्कृति के विकास में अपने बहुमुखी, व्यापक और शाश्वतिक प्रभाव के कारण भी, वैदिक धारा, निस्सन्देह, सदा के लिए, हमको ही नही, किन्तु समस्त मानव-जाति को भी, प्रेरणा और प्रकाश देनेवाली रहेगी।

यह आश्चर्य और खेद का भी विषय है कि उक्त उत्कृष्ट गुणो से युक्त होने पर भी, वैदिक धारा आज चिरकाल से **एक जीवित परम्परा के रूप में** हमारे देश से विलुप्त-सी हो गयी है।

भारतीय सस्कृति की प्रगति और विकास पर विचार करते हुए ऐसा स्पष्ट दिखायी देता है कि वैदिक धारा, जिससे **व्यक्त रूप में** भारतीय सस्कृति का प्रारभ होता है, आगे चलकर, विनशन-प्रदेश में ऐतिहासिक सरस्वती नदी की तरह,[१] प्रायेण लुप्त हो जाती है और उसके स्थान में अन्य धाराएँ बहती हुई दीखती है।

भारतीय संस्कृति की प्रगति और विकास को एक अविच्छिन्न धारा-वाहिक जीवित परम्परा के रूप में समझने के लिए, और साथ ही वैदिक धारा के अनन्तर आनेवाली धाराओं के उदय को, तात्कालिक परिस्थिति की

---

१ सातवें परिच्छेद का प्रारम्भ देखिए।

आवश्यकता के रूप में, बुद्धि-गत करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उन कारणों का पता लगाएँ जिनसे वैदिक धारा का अपना प्रवाह मन्द पड़ गया और भारतीय संस्कृति के प्रवाह में एक नया वेग लाने के लिए नई धारा या धाराओ के योग-दान की आवश्यकता हुई।
इस परिच्छेद मे हम मुख्यत. यही दिखलाना चाहते है।

वैदिक धारा के ह्रास के कारण

जैसा हम पहले कह चुके है, **किसी ऐतिहासिक विकास या ह्रास के अध्ययन में हमें प्रथमतः उस के अपने अन्दर के कारणो को ही ढूंढना चाहिए। इसलिए स्वभावतः वैदिक धारा के ह्रास और मन्दता के कारणो को हमें वैदिक धारा में ही देखने का यत्न करना चाहिए।**

याज्ञिक कर्मकाण्ड का मौलिक रूप

सातवें परिच्छेद में वैदिक धारा की तीन अवस्थाओ को दिखलाते हुए हमने कहा है कि वैदिक धारा के द्वितीय काल मे, जातीय जीवन को सुव्यवस्थित और सुसगठित करने की प्रवृत्ति के आधार पर, याज्ञिक कर्मकाण्ड का, **एक विशिष्ट कर्मकाण्ड के रूप में,** प्रारम्भ हुआ था। वैदिक धारा के तृतीय काल में उसी वैदिक (या श्रौत) कर्मकाण्ड को व्यवस्थित किया गया।

वैदिक धारा के उत्कर्ष के दिनो में याज्ञिक कर्मकाण्ड ही उसका महान् प्रतीक माना जाता था।

याज्ञिक प्रथा का विकास आर्य-जनता की अन्तरात्मा से हुआ था। उस समय उसमें स्वाभाविकता और सार्थकता विद्यमान थी। श्रद्धा, भक्ति और उल्लास की भावनाओं का मूर्त्तीकरण ही उसका आधार था।

अपन उत्कर्ष के दिनो में भी वह समस्त आर्यजाति के जीवन को प्रतिविम्वित करती थी।

उसकी सारी व्यवस्था मे ब्रह्म, क्षत्र और विश् का (पीछे से ब्राह्मणो, क्षत्रियो और वैश्यो का) पदे-पदे सहयोग स्पष्टतया दिखायी देता है, यहाँ तक कि याज्ञिक मन्त्रो के छन्दो का और याज्ञिक देवताओ का भी उक्त तीनो वर्णो के आधार पर वर्गीकरण किया गया था। उदाहरणार्थ, गायत्री, त्रिष्टुभ् और जगती इन वैदिक छन्दो का सवन्ध क्रमश ब्रह्म, क्षत्र और विश् से समझा जाता था।[१] इसी

१. तु० "गायत्रो वै ब्राह्मण.", "त्रैष्टुभो वै राजन्य", "जागतो वै वैश्यः" (ऐतरेय-ब्राह्मण १।२८)।

तरह, अग्नि, इन्द्र और मरुतो का (तथा अन्यान्य देवताओ का भी) सवन्ध क्रमश उक्त तीनो वर्णों से माना जाता था।[1]

इसका अर्थ कमसे कम यह तो है ही कि याज्ञिक कर्म-काण्ड में समस्त आर्य-जनता का ममत्व और सहयोग था। उस समय के यज्ञो को केवल ब्राह्मणो की देव-पूजा ही न समझना चाहिए। उनमें आर्य-जनता के सव वर्गों के लिए आकर्षण, रञ्जन और मनोविनोद का सभार रहता था। उदाहरणार्थ, वाजपेय-याग में मध्याह्न मे 'रथो की दौड' (=आजि-धावनम्)[2] नामक विचित्र दृश्य उपस्थित होता था, जो इस यज्ञ का प्रधान अङ्ग माना जाता था। राजसूय-यज्ञ में द्यूत का विधान है।[3] इसी प्रकार अश्वमेध-यज्ञ में पारिप्लव-नामक[4] उपाख्यान (या कहानी) अनेको दिनो तक चलता था। उसमे सारी प्रजा, स्त्री और पुरुष, युवा और वृद्ध, आकर इकट्ठे होते थे। वीणा बजाने-वालो के झुंडो के झुंड आ जुटते थे। इस प्रकार के नाना-प्रदर्शनो से युक्त उन दिनो के यज्ञ, पूजा के स्थानीय होने के साथ-साथ, आज-कल के नाटको और 'सिनेमाओ' आदि का भी काम करते थे।

उनमें जिन वैदिक मंत्रो का प्रयोग किया जाता था उनमें उपयुक्तता के साथ-साथ सार्थकता या वास्तविकता भी रहती थी। उनको कहने वाले और सुनने वाले भी इसी तरह समझते होगे, जैसे आजकल के नाटको में पात्रो के वचनो को सव समझते है। निम्न-लिखित वचन उसी समय के यज्ञ के स्वरूप को प्रकट करते है—

"**यजमानो वै यज्ञः**" (ऐतरेय-ब्राह्मण १।२८)

अर्थात्, यजमान का स्वरूप ही यज्ञ में प्रतिफलित होता है।

"**आत्मा वै यज्ञस्य यजमानोऽङ्गान्यृत्विजः**" (शतपथ० ९।५।२।१६)

अर्थात्, यजमान ही यज्ञ का आत्मा होता है। ऋत्विज् अङ्ग होते है।

"**यत्र क्व च यजमानवशो भवति, कल्पत एव यज्ञोऽपि। तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् यजमानो वशी यजते।**" (ऐतरेय-ब्राह्मण ३।१३)

अर्थात्, यज्ञ में तभी तक वास्तविकता रहती है जब तक वह विद्वान् यजमान की अनुकूलता या अधीनता में रहता है। उसी दशा मे वह जनता का हित सपादन कर सकता है।

---

१. तु० "**ब्रह्माग्निः**" (शतपथब्रा० १।३।३।१९)। "**क्षत्रं वै वरुणो विशो मरुतः**" (शतपथ० २।५।२।६)। "**ब्रह्म वा अग्निः क्षत्रमिन्द्रः**। (शतपथ० २।५।४।८)। "क्षत्र वा इन्द्रो विशो मरुतः" (शतपथ० २।५।२।२७)।

२ देखिए—**शतपथ-ब्राह्मण** (५।१।५।४)।

३ देखिए—**शतपथ-ब्राह्मण** (५।४।४।२३)।

४ देखिए—**शतपथ-ब्राह्मण** (१३।४।३)।

आवश्यकता के रूप में, बुद्धि-गत करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उन कारणो का पता लगाएँ जिनसे वैदिक धारा का अपना प्रवाह मन्द पड़ गया और भारतीय संस्कृति के प्रवाह में एक नया वेग लाने के लिए नई धारा या धाराओ के योग-दान की आवश्यकता हुई।

इस परिच्छेद मे हम मुख्यत यही दिखलाना चाहते है।

वैदिक धारा के ह्रास के कारण

जैसा हम पहले कह चुके है, **किसी ऐतिहासिक विकास या ह्रास के अध्ययन में हमें प्रथमतः उस के अपने अन्दर के कारणो को ही ढूंढना चाहिए। इसलिए स्वभावतः वैदिक धारा के ह्रास और मन्दता के कारणो को हमें वैदिक धारा में ही देखने का यत्न करना चाहिए।**

याज्ञिक कर्मकाण्ड का मौलिक रूप

सातवें परिच्छेद में वैदिक धारा की तीन अवस्थाओ को दिखलाते हुए हमने कहा है कि वैदिक धारा के द्वितीय काल में, जातीय जीवन को सुव्यवस्थित और सुसगठित करने की प्रवृत्ति के आधार पर, याज्ञिक कर्मकाण्ड का, **एक विशिष्ट कर्मकाण्ड के रूप में,** प्रारम्भ हुआ था। वैदिक धारा के तृतीय काल मे उसी वैदिक (या श्रौत) कर्मकाण्ड को व्यवस्थित किया गया।

वैदिक धारा के उत्कर्ष के दिनो में याज्ञिक कर्मकाण्ड ही उसका महान् प्रतीक माना जाता था।

याज्ञिक प्रथा का विकास आर्य-जनता की अन्तरात्मा से हुआ था। उस समय उसमें स्वाभाविकता और सार्थकता विद्यमान थी। श्रद्धा, भक्ति और उल्लास की भावनाओ का मूर्त्तीकरण ही उसका आधार था।

अपन उत्कर्ष के दिनो में भी वह समस्त आर्यजाति के जीवन को प्रतिविम्बित करती थी।

उसकी सारी व्यवस्था मे ब्रह्म, क्षत्र और विश् का (पीछे से ब्राह्मणो, क्षत्रियो और वैश्यो का) पदे-पदे सहयोग स्पष्टतया दिखायी देता है, यहाँ तक कि याज्ञिक मन्त्रो के छन्दो का और याज्ञिक देवताओ का भी उक्त तीनो वर्णों के आधार पर वर्गीकरण किया गया था। उदाहरणार्थ, गायत्री, त्रिष्टुभ् और जगती इन वैदिक छन्दो का सवन्ध क्रमश ब्रह्म, क्षत्र और विश् मे समझा जाता था।[1] इसी

---

१. तु० "गायत्रो वै ब्राह्मण.", "त्रैष्टुभो वै राजन्य", "जागतो वै वैश्य." (ऐतरेय-ब्राह्मण १।२८)।

याज्ञिक कर्म-काण्ड के प्रतिपादक ब्राह्मण आदि ग्रन्थो मे उस कर्म-काण्ड के सबन्ध में थोडी-से-थोडी च्युति या त्रुटि के लिए प्रायश्चित्तो का विधान पाया जाता है। उससे जहाँ एक ओर उस समय के कर्म-काण्ड की यान्त्रिकता स्पष्ट प्रतीत हो जाती है, वहाँ दूसरी ओर उस पर हँसी भी आती है।

उदाहरणार्थ, **ऐतरेय-ब्राह्मण** के ३२ वें अध्याय मे, अग्निहोत्री गौ (=जिसका दूध अग्निहोत्र-हवि के काम में आता था) के, दूध दुहते समय, बैठ जाने पर, रँभाने पर, अथवा छटककर अलग खडे हो जाने पर, या गरम करते हुए दूध के गिर जाने पर, तरह-तरह के प्रायश्चित्तो का विधान किया गया है।

याज्ञिक कर्मकाण्ड के अपकर्ष के कारण

याज्ञिक कर्म-काण्ड के विषय में दृष्टि का यह खेद-जनक परिवर्तन क्यो और कैसे हो गया, यह एक विचारणीय प्रश्न है। जहाँ तक हमने इस प्रश्न पर विचार किया है हम यही समझते है कि राजनीतिक आदि कारणो से देश की क्रमश बदलती हुई परिस्थिति में आर्य-जाति के स्वरूप में कुछ ऐसे मौलिक परिवर्तन हुए जिनसे याज्ञिक कर्म-काण्ड, जनता के जीवन नियन्त्रण और बुद्धि-पूर्वक सहयोग से क्रमश दूर होते हुए, अपनी ही उत्तरोत्तर बढती हुई पारिभाषिक जटिलता के कारण, प्रायेण जन्म-मूलक पुरोहित-वर्ग के ही **अनियन्त्रित एकाधिकार** की वस्तु बन गया।

सातवे परिच्छेद में वैदिक धारा के क्रमिक उत्कर्ष की जिन तीन अवस्थाओ का हमने वर्णन किया है उनका प्रभाव स्वभावत आर्य-जाति के उत्साहमय, उल्लासमय, कर्मशील और सुसगठित जीवन मे दिखायी देता था। पर **प्रत्येक राजनीतिक उत्कर्ष की प्रतिक्रिया प्रायेण अकर्मण्यता, आलस्य, आदर्शहीनता और रूढिपरता के जीवन में हुआ करती है।** इसलिए वैदिक-धारा के तृतीय काल के अनन्तर, जब कि बाह्य और आन्तरिक सघर्ष के प्रायेण समाप्त हो जाने से आर्य-जाति के विभिन्न वर्ग सुख और चैन का जीवन व्यतीत करने लगे थे, उनमे अकर्मण्यता, आलस्य आदि की पतनोन्मुख प्रवृत्तियो का आ जाना स्वाभाविक था। साथ ही, जिसको जो महत्त्व, पद, अथवा विशेषाधिकार प्राप्त हो चुका था, वह उसी के स्थायित्व और पुष्टि में लगा था। यदि क्षत्रिय अपने राज-नीतिक महत्त्व को स्थायी करना चाहता था, तो ब्राह्मण भी अपने पौरोहित्य के लाभो को सुरक्षित और दृढ करने मे सलग्न था। इसी वातावरण में, शक्ति और प्रभाव के केन्द्रीभूत होने से, तत्तद् पदो और वर्गों में रूढि और स्थिरता आने लगी, और सामान्य आर्य-जनता (=विश् या प्रजा) में से ही रूढिमूलक

याज्ञिक कर्मकाण्ड का अपकर्ष

धीरे-धीरे यज्ञों में जनता का वास्तविक सहयोग और सार्थकता घटने लगी। भावना का, जो कि किसी भी कर्म में प्राण-स्थानीय होती है[1], विलोप होने लगा। इसी से उनमें यान्त्रिकता का रूप आने लगा। उनमें परोक्ष-वाद[2] और जादूपने का प्रभाव बढ़ने लगा। अर्थ के स्थान में मन्त्रों के शब्दों को ही अधिकाधिक महत्त्व दिया जाने लगा।

ऐसा समझा जाने लगा कि यज्ञों में जो मन्त्र प्रयुक्त होते है, 'उनका क्या अर्थ या उपयुक्तता है' इसके ज्ञान की कोई आवश्यकता या उपयोगिता नही है मन्त्रो के शब्दो में ही कोई ऐसी अद्भुत अथवा परोक्ष शक्ति है जिसके कारण सारे अभीष्टो की प्राप्ति यज्ञो द्वारा हो सकती है।[3]

ऐतरेयब्राह्मण (३।२२) के एक प्रसङ्ग में कहा है कि अभिमन्त्रित तृण को फेकने से ही शत्रु-सेना को भगाया जा सकता है।[4]

ऐसी स्थिति मे याज्ञिक कर्म-काण्ड की छोटी-से-छोटी बातो को (जैसे, कौन-सी आहुति कैसे और कब देनी चाहिए, किस यज्ञ-पात्र का किस प्रकार उपयोग आदि करना चाहिए) वडा महत्त्व दिया जाना स्वाभाविक था।[5]

---

१. तु० "आ त्वैव श्रद्धायै होतव्यम्" (ऐतरेयब्रा० ५।२७)।
तथा "मनसा वै यज्ञस्तायते मनसा क्रियते" (ऐतरेयब्रा० ३।११)

२. तु० "परोक्षप्रिया इव हि देवाः" (ऐतरेयब्रा० ३।४३)

३. तु० "ब्रह्म हि देवान् प्रच्यावयति" (शतपथ० ३।३।४।१७)

४. देखिए—"तद्यथैवादः स्नुषा श्वशुराल्लज्जमाना निलीयमानैति, एवमेव सा सेना भज्यमाना निलीयमानैति, यत्रैवं विद्वांस्तृणमुभयतः परिच्छिद्येतरा सेनामभ्यस्यति।" (एतरेयब्रा० ३।२२)

५. उदाहरणार्थ देखिए—"स वै स्रुवमेवाग्रे संमार्ष्टि। अथेतराः स्रुचः। योषा वै स्रुग्वृषा स्रुवस्तस्मात्। यद्यपि बह्व्य इव स्त्रियः सार्धं यन्ति। य एव तास्वपि कुमारक इव पुमान् भवति स एव तत्र प्रथम एति, अनूच्य इतरा.। तस्मात् स्रुवमेवाग्रे समार्ष्टि। अथेतराः स्रुचः।" (शतपथ० १।३।१।९)। यहाँ स्रुवा और स्रुचो (भिन्न-भिन्न प्रकार के चम्मचो जैसे यज्ञपात्र) मे से पहले किस को साफ करना चाहिए, इस प्रश्न का विचित्र तर्क द्वारा निर्णय किया गया है।
इस तरह के विचार ब्राह्मण-ग्रन्थों में भरे पडे है

याज्ञिक कर्म-काण्ड के प्रतिपादक ब्राह्मण आदि ग्रन्थो मे उस कर्म-काण्ड के सबन्ध मे थोडी-से-थोडी च्युति या त्रुटि के लिए प्रायश्चित्तो का विधान पाया जाता है। उससे जहाँ एक ओर उस समय के कर्म-काण्ड की यान्त्रिकता स्पष्ट प्रतीत हो जाती है, वहाँ दूसरी ओर उस पर हँसी भी आती है।

उदाहरणार्थ, **ऐतरेय-ब्राह्मण** के ३२ वे अध्याय मे, अग्निहोत्री गौ (=जिसका दूध अग्निहोत्र-हवि के काम मे आता था) के, दूध दुहते समय, बैठ जाने पर, रँभाने पर, अथवा छटककर अलग खडे हो जाने पर, या गरम करते हुए दूध के गिर जाने पर, तरह-तरह के प्रायश्चित्तो का विधान किया गया है।

याज्ञिक कर्मकाण्ड के अपकर्ष के कारण

याज्ञिक कर्म-काण्ड के विषय में दृष्टि का यह खेद-जनक परिवर्तन क्यो और कैसे हो गया, यह एक विचारणीय प्रश्न है। जहाँ तक हमने इस प्रश्न पर विचार किया है हम यही समझते है कि राजनीतिक आदि कारणो से देश की क्रमश बदलती हुई परिस्थिति में आर्य-जाति के स्वरूप में कुछ ऐसे मौलिक परिवर्तन हुए जिनसे याज्ञिक कर्म-काण्ड, जनता के जीवन नियन्त्रण और बुद्धि-पूर्वक सहयोग से क्रमश दूर होते हुए, अपनी ही उत्तरोत्तर वढती हुई पारिभाषिक जटिलता के कारण, प्रायेण जन्म-मूलक पुरोहित-वर्ग के ही **अनियन्त्रित एकाधिकार** की वस्तु वन गया।

सातवें परिच्छेद में वैदिक धारा के क्रमिक उत्कर्ष की जिन तीन अवस्थाओ का हमने वर्णन किया है उनका प्रभाव स्वभावत आर्य-जाति के उत्साहमय, उल्लासमय, कर्मशील और सुसगठित जीवन मे दिखायी देता था। पर **प्रत्येक राजनीतिक उत्कर्ष की प्रतिक्रिया प्रायेण अकर्मण्यता, आलस्य, आदर्शहीनता और रूढिपरता के जीवन में हुआ करती है।** इसलिए वैदिक-धारा के तृतीय काल के अनन्तर, जव कि वाह्य और आन्तरिक सघर्ष के प्रायेण समाप्त हो जाने से आर्य-जाति के विभिन्न वर्ग सुख और चैन का जीवन व्यतीत करने लगे थे, उनमे अकर्मण्यता, आलस्य आदि की पतनोन्मुख प्रवृत्तियो का आ जाना स्वाभाविक था। साथ ही, जिसको जो महत्त्व, पद, अथवा विशेषाधिकार प्राप्त हो चुका था, वह उसी के स्थायित्व और पुष्टि में लगा था। यदि क्षत्रिय अपने राजनीतिक महत्त्व को स्थायी करना चाहता था, तो ब्राह्मण भी अपने पौरोहित्य के लाभों को सुरक्षित और दृढ करने में सलग्न था। इसी वातावरण मे, शक्ति और प्रभाव के केन्द्रीभूत होने से, तत्तद् पदो और वर्गों में रूढि और स्थिरता आने लगी, और सामान्य आर्य-जनता (=विश् या प्रजा) में से ही रूढिमूलक

ब्राह्मण-वर्ग तथा क्षत्रिय-वर्ग के साथ-साथ वैश्य-वर्ग का भी प्रारम्भ हुआ। दूसरे शब्दों मे, यही रूढि-मूलक वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भ था।[1]

वर्ण-व्यवस्था मे रूढि-मूलकता के आ जाने पर, तत्तद् वर्गों में स्वार्थ तथा अकर्मण्यता की प्रवृत्ति का बढना स्वाभाविक था। इसी परिस्थिति में क्षत्रिय वर्ग में क्रमश ऐश्वर्य के उपभोग की प्रवृत्ति बढने लगी और, न केवल धार्मिक कर्मकाण्ड में ही, अपितु राज्य अथवा राष्ट्र के सचालन मे भी, वह अधिकाधिक पुरोहित-वर्ग पर निर्भर होने लगा। वेद मे राजाओ की प्राय अतिशयोक्ति-पूर्ण जो **दान-स्तुतियाँ**[2] पायी जाती हैं, और ब्राह्मण-ग्रन्थो मे पुरोहितो की जो अत्यधिक महिमा गायी गयी है[3], वे स्पष्टत उक्त परिस्थिति की ही द्योतक हैं।

१. याज्ञिक कर्मकाण्ड के विकास से ही रूढि-मूलक वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ था, इस बात को पुराणो ने अपनी भाषा मे स्पष्ट रूप से कहा है। उदाहरणार्थ, देखिए—

"त्रेतायुगमुखे ब्रह्मा कल्पस्यादौ द्विजोत्तम। सृष्ट्वा. . ऋचश्चैव. . यजूषि. .असृजत्. . सामानि. . अथर्वाणम्. ." (विष्णुपुराण १।५।५०–५६)। तथा **"यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार वै। चातुर्वर्ण्यं महाभाग यज्ञसाधनमुत्तमम्॥"** (विष्णुपुराण १।६।७)।

अर्थात्, ब्रह्मा ने त्रेता-युग के प्रारम्भ मे (संहिता-रूप मे) ऋग्–, यजु –, साम– तथा अथर्व-वेद की सृष्टि की। तदनन्तर, यज्ञ के साधन-भूत चातुर्वर्ण्य को ब्रह्मा ने यज्ञ-निष्पत्ति के लिए बनाया।

श्रीमद्भागवत (११।५।२४–२५) में स्पष्ट शब्दो में कहा गया है कि वैदिक परम्परा में यज्ञो की प्रवृत्ति त्रेता में हुई थी। देखिए—**"त्रेतायां. . .तं तदा मनुजा देवं. . .यजन्ति विद्यया त्रय्या. . ."** इत्यादि।

इसी प्रसङ्ग में **ऐतरेय-ब्राह्मण** (७।१९) को देखिए—**"प्रजापतिर्यज्ञमसृजत। यज्ञं सृष्टमनु ब्रह्मक्षत्रे असृज्येताम्"** इत्यादि। अर्थात्, प्रजापति ने पहले यज्ञ की सृष्टि की और तत्पश्चात् ब्रह्म और क्षत्र की।

२. उदाहरणार्थ देखिए—ऋग्० १।१२६।

३. तु० **"तस्मै विश. संजानते समुखा एकमनसः। यस्यैवं विद्वान् ब्राह्मणो राष्ट्रगोपः पुरोहितः॥ तस्य राजा मित्र भवति द्विषन्तमपबाधते। यस्यैवं विद्वान् ब्राह्मणो राष्ट्रगोपः पुरोहितः॥"** (ऐतरेयब्राह्मण ८।२५,२७)। तथा **"न ह वा अपुरोहितस्य राज्ञो देवा अन्नमदन्ति। तस्माद् राजा यक्ष्यमाणो ब्राह्मणं पुरो दधीत देवा मेऽन्नमदन्निति।"** (ऐतरेयब्रा० ८।२४)। तथा **"अग्निर्वा एष वैश्वानरः पञ्चमेनिर्यत् पुरोहितः। . .स एनं (=राजान) शान्ततनुरभिहुतोऽभिप्रीतः स्वर्गं लोकमभिवहति क्षत्रं च बल च राष्ट्रं च विशं च। स एवैनमशान्ततनुरनभिहुतोऽनभिप्रीतः स्वर्गाल्लोकान्नुदते क्षत्राच्च बलाच्च राष्ट्राच्च विशश्च।"** (ऐतरेयब्रा० ८।२४)। तथा **"ब्रह्म क्षत्रेण पृक्तं देवपितृमनुष्यान् धारयतीति विज्ञायते"** (गौतमधर्मसूत्र ११।२९)

उक्त वातावरण में ही, याज्ञिक कर्मकाण्ड में आर्य-जाति की परम्परागत श्रद्धा[1] के आधार पर, उसको अधिकाधिक जटिल, यान्त्रिक और कृत्रिम बनाया गया।

इसका कारण स्पष्ट था।

जैसा ऊपर कहा है, रूढि-मूलक वर्गो में स्वार्थमयी प्रवृत्ति का क्रमश बढना स्वाभाविक होता है। अतएव वे अपने कर्तव्यो को व्यवसाय की दृष्टि से देखने लगते है। उनको समाज के हित की उतनी परवा नही रहती जितनी अपने और स्ववर्गीय लोगो के हित-साधन की। इसी नियम के अनुसार यह स्पष्ट है कि रूढि-मूलक पुरोहित-वर्ग का हित याज्ञिक कर्म-काण्ड की अधिकाधिक जटिलता और यान्त्रिकता में ही निहित था।

याज्ञिक कर्मकाण्ड की परिधि और जटिलता का विस्तार कहाँ तक बढता गया इसका अनुमान उन अनेकानेक प्रकार की कामनाओ से किया जा सकता है जिनकी प्राप्ति के लिए इष्टियाँ या यज्ञ किये जा सकते थे। जिन लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए याज्ञिक कर्मकाण्ड का आश्रय लिया जा सकता था उनमे से कुछ ये है—स्वर्ग, आयु, पुष्टि, वीर्य, अन्नाद्य, प्रजा, पशु, ग्राम (=जमीदारी), धन-सपत्ति, प्रतिष्ठा, वर्षा, युद्ध में विजय, पुत्र-लाभ, शत्रु-नाश, स्त्री-वशीकरण, आदि, आदि।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य की ऐसी कोई भी कामना (नैतिक या अनैतिक) नहीं थी जिसकी प्राप्ति का उपाय यज्ञ द्वारा न बतलाया जा सकता था। यहाँ तक कि यदि कोई नौकर नौकरी से भाग जाना चाहता था, तो उसको रोकने का (अत्यन्त बीभत्स) उपाय भी एक याज्ञिक बतला सकता था![2]

एक पसारी के पास जैसे हर रोग के लिए पुडिया होती है, उसी प्रकार याज्ञिक के पास प्रत्येक कामना की प्राप्ति के लिए कर्मकाण्डीय पुडिया वर्तमान रहती थी!

---

१. तु० **"न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः।"** (ऋग्० १०।४४।६), **"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म"** (शतपथब्रा० १।७।१।५)। **"यज्ञो वै सुतर्मा नौः"** (ऐतरेयब्रा० १।१३)

२. देखिए—पारस्कर-गृह्यसूत्र (३।७)—**"उतूलपरिमेहः। स्वपतो जीवविषाणे स्वं मूत्रमासिच्यापसलवि त्रिः परिषिञ्चन् परीयात्...।"** यहाँ किसी जीते हुए जानवर के सीग में अपने मत्र को भरकर डालते हुए, सोते हुए दास के चारो ओर तीन बार मन्त्र-विशेष को पढ़ते हुए वाम तरफ से घूमने का विधान है।

वैदिक (=श्रौत) यज्ञो का विस्तार इतना बढ गया था कि उनमें प्राय **अनेक (१६ या १७ तक) ऋत्विजों की आवश्यकता** होती थी। वे सप्ताहो तक, कभी-कभी एक वर्ष से भी अधिक काल तक, चलते थे। उनके करने मे इतना सभार करना पडता था और इतनी अधिक दक्षिणाएँ देनी पडती थी कि साधारण वित्त के लोग तो उनको कर ही नही सकते थे। दूसरे शब्दो में, धर्म को सपन्न-वर्ग ही कर सकता था। गीता मे इसीलिए वैदिक यज्ञो को **द्रव्य-यज्ञ** कहा है।

बेचारी निम्न जनता को तो यज्ञो के करने का अधिकार ही नही था। **शतपथ-ब्राह्मण** में कहा है—

"ब्राह्मणो वैव राजन्यो वा वैश्यो वा ते हि यज्ञियाः। ...न वै देवाः सर्वेणेव संवदन्ते। ब्राह्मणेन वैव राजन्येन वा वैश्येन वा। ते हि यज्ञियाः।"
(शतपथ-ब्रा० ३।१।१।६-१०)

अर्थात्, देवता लोग सब किसी से **बात-चीत नहीं करते**। वे केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य से ही बातें करते है, क्योकि इनको ही यज्ञ करने का अधिकार है।

इस **याज्ञिक कर्मकाण्ड में** स्वभावत **पुष्कल दक्षिणा** (=ऋत्विजो की फीस) पर बडा बल दिया जाता था। **"हतं यज्ञमदक्षिणम्"** (अर्थात्, दक्षिणा-रहित यज्ञ कभी सफल नही होता), यह यज्ञो का मौलिक सिद्धान्त था।[1]

शतपथ-ब्राह्मण (२।२।३।२८) मे कहा है—

"तस्य हिरण्यं दक्षिणा। आग्नेयो वा एष यज्ञो भवति।"

अर्थात्, इस यज्ञ (=अग्निहोत्र) मे **सोने की दक्षिणा** देनी चाहिए, क्योकि यह यज्ञ अग्नि-देवता के लिए किया जाता है।

कात्यायन-श्रौतसूत्र (१०।२।३४) में कहा है—

"न रजतं दद्याद् बर्हिषि "पुरास्य संवत्सराद् गृहे रुदन्ती"ति श्रुतेः।"

अर्थात्, यज्ञ मे चाँदी के रूप मे दक्षिणा नही देनी चाहिए, क्योकि श्रुति

---

१. तु० **"दक्षिणा वै यज्ञानां पुरोगवी। यथा ह वा इदमनोऽपुरोगवं रिष्यति, एवं हैव यज्ञोऽदक्षिणो रिष्यति"** (ऐतरेयब्रा० ६।३५)। अर्थात्, जैसे विना बैल के गाड़ी नही चलती, ऐसे ही विना दक्षिणा के यज्ञ भी आगे नही वढता, नष्ट हो जाता है।

(=तैत्तिरीयसंहिता १।५।१) में कहा है कि जो ऐसा करता है उसके घर मे एक वर्ष के अन्दर ही रोना हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि दक्षिणा मे सुवर्ण ही देना चाहिए।

इसी प्रकार के सैकडो वचन ब्राह्मणादि ग्रन्थो मे यज्ञो मे पुष्कल दक्षिणा देने के समर्थन में पाये जाते हैं।[1]

इसके अतिरिक्त, **आश्वलायन-श्रौतसूत्र** (१२।६) आदि में[2] यज्ञ मे वलि किये हुए सवनीय पशु के अङ्गो को ऋत्विजो आदि में किस प्रकार बाँटना चाहिए, इसका भी विस्तृत विधान दिया हुआ मिलता है। जैसे—

"तस्य विभागं वक्ष्यामः। हनू सजिह्वे प्रस्तोतुः। श्येनं वक्ष उद्गातुः। ...ता वा एता पशोर्विभक्ति श्रौत ऋषिर्देवभागो विदांचकार..."

अर्थात्, अब हम सवनीय पशु के अङ्गो के विभाग के विषय में कहेंगे। जिह्वा के सहित दोनो जवडे प्रस्तोता के लिए। श्येन-सदृश वक्ष-स्थल उद्गाता के लिए। पशु के इस प्रकार के विभाग का परिज्ञान श्रौत ऋषि देवभाग को हुआ था.

ऋत्विजो मे पशु के अङ्गो के बाँटने की व्यवस्था का प्रश्न इसीलिए उठा होगा, जिससे उनमे वँटवारे को लेकर कोई झगडा न हो।

इस प्रसङ्ग मे **'दक्षिणा'** के **स्वरूप** को समझ लेना आवश्यक है। यज्ञो में ऋत्विजो को जो दक्षिणा दी जाती थी, वह वास्तव में उनकी 'फीस' या 'मजदूरी' ही होती थी। **पूर्वमीमांसा** मे ऋत्विजो को स्पष्टतया **'दक्षिणा-क्रीत'**[3] (अर्थात्, दक्षिणा से खरीदा गया) कहा गया है।

धर्मशास्त्रो में भी ब्राह्मणादि वर्णो के याजन (=यज्ञ कराना), प्रतिग्रह

---

१. देखिए—**"अभिषेचनीये तु द्वात्रिंशत द्वात्रिंशतं सहस्राणि..."; "साहस्रो दशपेयः", "सौवर्णी स्रगुद्गातुः"** (आश्वलायन-श्रौतसूत्र ९।४।३, ७, ९)। **"चतस्रो वै दक्षिणाः। हिरण्यं गौर्वासोऽश्वः"** (शतपथब्रा० ४।३।४।७)

२. देखिए—**गोपथ-ब्राह्मण** (१।३।१८)

३. देखिए—**मीमांसासूत्र** (३।७।२०–२१), तथा उन सूत्रो पर **जैमिनीय-न्याय-मालाविस्तर—"ये यजमानेन क्रीताः कर्तार ऋत्विजः..."**।

(=दान लेना) आदि जो विशिष्ट कर्म कहे गये है उनको स्पष्टतया 'आजीविका' या 'वृत्ति' के रूप मे ही माना गया है।[1]

ऐसी स्थिति मे पौरोहित्य का काम, कोई पारमार्थिक कर्म न होकर, अन्य पेशो के समान, एक **पेशा या व्यवसाय** ही था। यह ठीक ही था, क्योकि पुरोहित कोई 'मिशनरी' या 'श्रमण' (=जैन या बौद्ध भिक्षु) तो थे नही। उनको भी अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करना पडता था। इसलिए उनका दक्षिणा लेना बिल्कुल न्याय्य और समुचित था, विशेषत जब कि वे आर्य-जाति की प्राचीन धार्मिक और सास्कृतिक परम्परा के निर्वाहक और सरक्षक थे।

दक्षिणा या पौरोहित्य-सस्था पर कोई आपत्ति नही हो सकती। उस समय की वह एक आवश्यकता थी। पौरोहित्य-सस्था ने, जैसा हम ऊपर (परिच्छेद १० मे) दिखला चुके है, यजमान-पुरोहित के घनिष्ठ मधुर स्नेह-सबन्ध के उदाहरण प्राय उपस्थित किये है।

हमारा केवल यही कहना है कि भारतीय सस्कृति के इतिहास मे जबसे पौरोहित्य के पेशे का सबन्ध एक रूढ जन्म-मूलक वर्ग-विशेष से हो गया,[2] तब से उसमे रूढि-मूलक वर्गों की अच्छी-बुरी सारी प्रवृत्तियो का आ जाना स्वाभाविक था, जैसा कि आगे चलकर हम स्पष्ट करेगे। यहाँ तो हमारा इतना ही अभिप्राय है कि वैदिक कर्मकाण्ड के अपकर्ष को समझने के लिए उस समय के पौरोहित्य के उक्त स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसके आधार पर वैदिक कर्मकाण्ड के अपकर्ष के कारण ये थे—

(१) वैदिक धारा के तृतीय काल के अनन्तर राजनीतिक उत्कर्ष की प्रतिक्रिया के रूप में आर्यजाति के विभिन्न वर्गों में अकर्मण्यता, आलस्य और आदर्श-हीनता की प्रवृत्तियो का प्रारम्भ;

---

१. देखिए—"...षट् कर्माण्यग्रजन्मन ॥ षण्णा तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका। याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥..." (मनुस्मृति १०।७५–८०)

२. प्रारम्भ में पौरोहित्य ब्राह्मण ही करे, यह आवश्यक नही था। राजवश के देवापि ने अपने भाई शतनु का पुरोहित बनकर यज्ञ कराया था, यह कथा वैदिक वाङमय मे सुप्रसिद्ध है, देखिए—निरुक्त (२।१०)। ऐतरेय-ब्राह्मण म तो स्पष्टत कहा है—"सैषा स्वग्यीहुतिर्यदन्याहुतिः। यदि ह वा अप्यब्राह्मणोक्तो...यजतेऽथ हैषाहुतिर्गच्छत्येव देवान्" (ऐत० ब्रा० १।१६)

(२) उक्त उत्कर्ष की अवस्था में प्राप्त महत्त्व, पद या विशेषाधिकारों को सुरक्षित और पुष्ट करने की प्रवृत्ति से रूढि-मूलक वर्ण-व्यवस्था का क्रमशः विकास;

(३) उक्त परिस्थिति में वैदिक कर्मकाण्ड पर रूढि-मूलक पुरोहित-वर्ग के अनियन्त्रित एकाधिकार की प्रवृत्ति; और

(४) जनता के नियन्त्रण और जीवन से पृथक् हो जाने से तथा वास्तविकता और सार्थकता के अभाव से वैदिक कर्मकाण्ड में अधिकाधिक विस्तार, कृत्रिमता और यान्त्रिकता की प्रवृत्ति का प्रवेश।

याज्ञिक कर्मकाण्ड के अपकर्ष का दुष्प्रभाव

सातवें परिच्छेद मे वैदिक धारा की तीन अवस्थाओ को दिखलाते हुए हमने वैदिक धारा के तृतीय काल को उसका मध्याह्न-काल और अतएव परम उत्कर्ष का काल कहा है। उसके अनन्तर उसका क्रमश अपकर्ष शुरू हो जाता है, ठीक उसी तरह जैसे मध्याह्न-काल में सूर्य का प्रकाश और तेज अपने चरम उत्कर्ष में पहुँच कर तदनन्तर अपकर्ष की ओर चलने लगता है और अपराह्ण के पश्चात् तो अस्तोन्मुख ही होने लगता है।

वैदिक धारा के उत्कर्ष के दिनो मे याज्ञिक कर्मकाण्ड को, जिसमे उस समय का जातीय जीवन प्रतिविम्बित था, हमने उसका महान् प्रतीक कहा है। इसी दृष्टि से याज्ञिक कर्मकाण्ड को हम **वैदिक धारा का मानदण्ड** भी कह सकते हैं। इसलिए ऊपर दिखलाये गये कारणो से याज्ञिक कर्मकाण्ड में अपकर्ष के आने पर समस्त वैदिक धारा में अपकर्ष का आ जाना स्वाभाविक था। इसी बात को हम नीचे स्पष्टतया दिखाना चाहते हैं।

याज्ञिक कर्मकाण्ड के अपकर्ष का दुष्प्रभाव अतिव्यापक था। उसको यहाँ हम विशेष रूप से निम्न-निर्दिष्ट विषयो को लेकर दिखाना चाहते हैं—

(१) वेदो के अध्ययनाध्यापन की परम्परा,
(२) देवता-विषयक भावना,
(३) रूढि-मूलक वर्गवाद की प्रवृत्ति,
(४) नैतिकता का ह्रास।

वेदों की अध्ययनाध्यापन-परम्परा का अपकर्ष

वैदिक सस्कृति के उष-काल में मन्त्रात्मक वेद और आर्य-जाति के जीवन में एक प्रकार से एकरूपता थी, यह हमने ऊपर (परिच्छेद ७ में) कहा है। उस

समय उसका जीवन वेद था और वेद ही जीवन था, क्योकि एक से दूसरे की व्याख्या की जा सकती थी।

द्वितीय काल मे, एक विशिष्ट कर्मकाण्ड के रूप मे, याज्ञिक कर्मकाण्ड का प्रारम्भ हुआ। उस समय उसमे पूर्णतया स्वाभाविकता और सार्थकता वर्तमान थी। उसके साथ जिन भी वैदिक मन्त्रो का प्रयोग किया जाता था, वह पूरी तरह उनके अर्थ को और उपयुक्तता को समझकर ही किया जाता था। यही अवस्था उसकी वैदिक धारा के तृतीय काल मे थी, जब कि याज्ञिक कर्मकाण्ड अपने चरम उत्कर्ष की अवस्था में था।

इस तृतीय काल में वैदिक मन्त्रो के अर्थ-ग्रहण में कदाचित् कुछ कठिनाई का अनुभव किया जाने लगा था। इसी लिए **निरुक्त** मे कहा है—

> **"उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्म-ग्रहणायेमं**
> **ग्रन्थं समाम्नासिषुः। वेदं च वेदाङ्गानि च।"** (निरुक्त १।२०)

अर्थात्, वैदिक परम्परा की तृतीय अवस्था मे मन्त्रार्थ के समझने की कठिनता के कारण ही निरुक्त का तथा अन्य वेदाङ्गो का सग्रन्थन किया गया।

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि उस तृतीय काल में व्याकरण, निरुक्त आदि के साथ ही वेदाध्ययन किया जाता था। इसी अवस्था का वर्णन **महाभाष्य** मे इन सुन्दर शब्दो में किया गया है—

> **"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च"**
> (पस्पशाह्निक)

अर्थात्, ब्राह्मण को छह अङ्गो के सहित ही वेद को पढना और समझना चाहिए। यह उसका निष्कारण धर्म है।

इसलिए वैदिक धारा के तृतीय काल तक याज्ञिक कर्मकाण्ड मे वैदिक मन्त्रो का प्रयोग उनके अर्थों को समझकर और उपयुक्तता को देखकर ही किया जाता था, इसमें कोई सन्देह नही हैं।

यही वात नीचे दिये हुए प्रमाणो से भी सिद्ध होती है—

> **"एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं**
> **यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति"** (निरुक्त १।१६)

अर्थात्, याज्ञिक कर्म की सपन्नता या पूर्ण-रूपता इसी में है कि उसमे जो ऋग्वेद या यजुर्वेद के मन्त्र प्रयुक्त होते है वे वास्तव में उम काम को वतलाते भी है जो यज्ञ में किया जाता है।

"यद् यज्ञेऽभिरूपं तत्समृद्धम्" (ऐतरेयब्रा० १।१६)

अर्थात्, मन्त्र और कर्मकी अनुरूपता में ही यज्ञ की सपन्नता रहती है।

"मनसा वै यज्ञस्तायते मनसा क्रियते" (ऐतरेयब्रा० ३।११)

अर्थात्, (मन्त्रो के) अर्थ को समझकर ही यज्ञ किया जाता है।

यह स्पष्ट है कि उस समय मन्त्रों के अर्थ का ही प्राधान्य था। उसकी अपेक्षा कर्मकाण्ड गौण था।

ऐसी अवस्था मे कर्मकाण्ड की महत्ता उसके अपने क्रिया-कलाप में न होकर, उसके पीछे रहनेवाली भावना में ही हुआ करती है। इसी वात को उपनिषदो की भापा में हम इस प्रकार कह सकते है—

'न वा अरे कर्मकाण्डस्य कामाय कर्मकाण्ड प्रिय भवति, जनताया राष्ट्रस्य तु कामाय कर्मकाण्ड प्रियं भवति'[1]

अर्थात्, अरे भाई कर्मकाण्ड कर्मकाण्ड होने के कारण प्रिय नही होता है, किन्तु इसलिए प्रिय होता है कि उससे जनता या राप्ट्र के कल्याण मे सहायता मिलती है।

वास्तव में उस समय याज्ञिक कर्मकाण्ड की महत्ता इसी लिए समझी जाती थी कि उसके द्वारा जनता की वैदिक उदात्त भावनाओ को पुप्टि मिलती थी।

परन्तु इस स्थिति ने पलटा खाया। आर्य-जनता मे, और विशेषकर सपन्न वर्ग में, उदात्त वैदिक भावनाओ के स्थान मे अकर्मण्यता आदि अनार्य भावनाओ का प्रभाव बराबर वढने लगा।

वैदिक मन्त्रो और कर्मकाण्ड की परम्परा के निर्वाहक पुरोहित-वर्ग में भी, ऊपर दिखलाये हुए कारणो से, जहाँ एक ओर आलस्य और बुद्धि की मन्दता का साम्राज्य बढा, वहां दूसरी ओर याज्ञिक क्रिया-कलाप में रूढिप्रयुक्त श्रद्धातिरेक से वैदिक मन्त्रो के अर्थ को समझने की तरफ से उपेक्षा भी बढ़ने लगी।[2]

यह समझा जाने लगा कि ऋत्विजो में, उनके द्वारा प्रयुक्त मन्त्रो के शव्दो में, और यज्ञ के क्रिया-कलाप में ही ऐसी कोई अदृप्ट शक्ति है जिससे वल-पूर्वक अपनी अभीप्ट कामना की सिद्धि की जा सकती है।

"ब्रह्म हि देवान् प्रच्यावयति" (शतपथब्रा० ३।३।४।१७)

---

१ तु० "न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्त प्रिय भवति, आत्मनस्तु कामाय वित्त प्रिय भवति।" इत्यादि (बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।५)

२. तु० "अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्। आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघासति" (मनुस्मृति ५।४)

अर्थात्, मन्त्र में ऐसी शक्ति है कि वह देवो को भी झुका सकती है।

"द्वया वै देवाः। देवा अहैव देवाः। अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः" (शतपथब्रा० २।२।२।६)

अर्थात्, देव दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जिनको देव कहा जाता है। दूसरे विद्वान् ब्राह्मण, जिनको **'मनुष्य-देव'** कहना चाहिए।

इत्यादि वचन ऋत्विजो की उसी मानसिक स्थिति के द्योतक है।[1]

इस मनोवृत्ति का वेदो के अध्ययनाध्यापन पर अनर्थ-कारी प्रभाव पडना अनिवार्य था। अब तो यह समझा जाने लगा कि

(१) वेदोके मन्त्रोका केवल यही प्रयोजन है कि उनका यज्ञो में प्रयोग किया जाय[2],

(२) मन्त्रो के शब्द-मात्र मे शक्ति है, यहाँ तक कि वास्तव मे मन्त्र का कोई अर्थ ही नही होता।[3]

याज्ञिको की इसी खेद-जनक प्रवृत्ति को देखकर **महाभाष्य** में कहा था—

"वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति" (पस्पशाह्निक)

अर्थात्, याज्ञिक लोग व्याकरणादि की उपेक्षा करके वेद के केवल शब्दो को रट कर अपने को कृतकृत्य समझ लेते हैं।

वेद-मन्त्रो के अर्थ की ओर से याज्ञिको की इस उपेक्षा को देखकर वैदिक काल में ही विद्वानो ने अर्थ-ज्ञान पर बहुत कुछ बल देना प्रारम्भ कर दिया था। उदाहरणार्थ, **निरुक्त** मे ही उद्धृत इन प्राचीन वचनो को देखिए[4]—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूद-
धीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्दयते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥ (निरुक्त १।१८)

---

१. तु० "एते वै देवा अहुतादो यद् ब्राह्मणाः।..आहुतिभिरेव देवान् हुताद प्रीणाति, दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवान्। तेऽस्मै प्रीता इषमूर्जं नियच्छन्ति।" (गोपथ-ब्राह्मण २।१।६)।

२ तु० "वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ता" (याजुषज्योतिष ३), "मन्त्राश्च कर्मकरणा" (आश्वलायन-श्रौतसूत्र १।१।२१), "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्" (पूर्वमीमासा १।२।१)।

३. तु० "अनर्थका हि मन्त्राः" (निरुक्त १।१५)।

४. तु० "अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्" (ऋग्० १०।७१।५)

अर्थात्, वेद को पढकर उसके अर्थ को न जानने वाला भार से लदे हुए केवल एक स्थाणु के समान है। जिस मन्त्र आदि को विना अर्थ के समझे केवल पाठ-मात्र से पढा जाता है उसका कोई फल नही होता, उसी तरह जैसे सूखा ईंधन भी बिना आग के कभी नही जलता।

परन्तु उक्त प्रवृत्ति का यह सारा प्रतिवाद केवल अरण्य-रोदन के समान था। **यज्ञों के और मन्त्रार्थ के संबंध में कर्मकाण्डियों की उक्त प्रवृत्ति बराबर बढ़ती ही गयी। ऐसी स्थिति में वैदिक कर्मकाण्ड खूब बढा तो सही, पर वह धीरे-धीरे निष्प्राण शुष्क क्रिया-कलाप में परिवर्तित होता गया। और अन्त में, जैसा हम आगे क्रमश स्पष्ट करेंगे, ऐसा समय आया जब कि वह एक ओर औपनिषद धारा आदि के, और दूसरी ओर जैन बौद्ध आदि के, प्रतिवाद और विरोध की आँधी में स्वयं नष्ट हो गया।**

उक्त प्रवृत्ति[1] का दुष्प्रभाव यही समाप्त नही हुआ। इसके अनन्तर वेद-मन्त्रो की जो दुर्दशा हुई वह और भी हृदय-विदारक है।

---

१. (१) यह विचित्र बात है कि **पूर्वमीमांसा** आदि के विचारो में, जहाँ वैदिक मन्त्रो का उल्लेख आवश्यक होना चाहिए वहाँ भी उनकी उपेक्षा करके, ब्राह्मण-वाक्यो को ही उद्धृत कर उनपर विचार किया जाता है। उदाहरणार्थ, वेदो में अनित्य ऐतिहासिक व्यक्तियो के नाम के आने से वेद अनित्य हो जाएँगे, इस आपत्ति के प्रसग में, वैदिक मन्त्रो के सुप्रसिद्ध अगस्त्य, लोपामुद्रा, सुदस् आदि नामो का उल्लेख न करके, केवल ब्राह्मण-वाक्यान्तर्गत 'ववर' जैसे नामो पर विचार किया गया है (देखिए—**सायणाचार्य** की **ऋग्वेदभाष्योपक्रमणिका** में **मीमांसा-सूत्र** १।१।२८–३०, तथा १।२।६ की व्याख्या)। इस उपेक्षा का कारण हमें वेदो के अध्ययनाध्यापन की घोर शिथिलता ही प्रतीत होती है।

(२) एक दूसरी बात का निर्देश करना भी यहाँ आवश्यक है। वह यह है—वेदो पर और वैदिक कर्मकाण्ड पर जो विरोधियो के आक्षेप होते रहे है, उनके उत्तर में **पूर्वमीमासा** आदि में 'वेद पुरुषार्थ के **अलौकिक** उपाय को वतलाते है', और 'वैदिक कर्मकाण्ड एक **अपूर्व** या **अदृष्ट** का जनक होता है', यही कहा जाता रहा है। वैदिक उदात्त भावनाओ का या राष्ट्र अथवा समाज की भलाई या उत्कर्ष का उल्लेख उनके समर्थन मे प्राय नही किया गया। इससे भी वेदो के वास्तविक अध्ययनाध्यापन की उपेक्षा ही प्रतीत होती है। **अपूर्ववाद** की युक्ति तो स्पष्टत अत्यन्त दुर्वल है। मनुष्य का विचार-पूर्वक किया हुआ ऐसा कौन-सा कार्य है जिससे अपूर्व उत्पन्न नही होता ?

वैदिक धारा की परम्परा में याज्ञिक (श्रौत) कर्मकाण्ड तो शनै-शनै समाप्त-प्राय ही हो गया; पर शुष्क तथा अर्थहीन कर्मकाण्ड की प्रवृत्ति भारतवर्ष में बराबर बढती ही रही। वह प्रवृत्ति आज भी हिन्दू-समाज मे पूरे वेग के साथ प्रचलित है; जैसा हम आगे चलकर वर्तमान हिन्दू-धर्म की धारा के प्रसङ्ग में स्पष्ट करेंगे।

वर्तमान हिन्दू-धर्म में नये देवताओ के साथ-साथ नये कर्मकाण्ड का भी विकास हुआ। **नवग्रह-पूजा** आदि बिलकुल नयी पूजाएँ चली। परन्तु इस नवीन कर्मकाण्ड में बहुत करके उन्ही प्राचीन वैदिक मन्त्रो से काम लिया गया; इसकी परवा ही नही की गयी कि उनके प्रयोग में कोई सार्थकता या वास्त-विकता भी है या नही। अधिक से अधिक केवल देवता के नाम में और मन्त्र में शब्द-मात्र या अक्षर-मात्र का साम्य ही पर्याप्त मान लिया गया!

उदाहरणार्थ, नवग्रहो में से शनि की पूजा मे "**शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु०**" (ऋग्० १०।६।४) इस मन्त्र का (जो कि वास्तव मे 'आप' या 'जलो' के सबन्ध का मन्त्र है) प्रयोग किया जाने लगा; केवल इस आधार पर कि '**शनि**' में और मन्त्र के '**शन्नो**' शब्दो मे '**शन्**' की ध्वनि समान है! इसी तरह के सैकडो उदाहरण दिये जा सकते है।

वेदो की अध्ययनाध्यापन-परम्परा मे इस प्रकार की घोर और अक्षम्य अनास्था के आ जाने पर, वेदो के विषय मे "**त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्त-निशाचराः**" (अर्थात्, वेदो को भाँड, धूर्त और राक्षसो ने वनाया है), "**वेद पढ़त ब्रह्मा मरे चारों वेद कहानि**" इस प्रकार के निराधार और अज्ञान-मूलक विचारो का फैलना स्वाभाविक था!

देवता-विषयक भावना का अपकर्ष

परिच्छेद ६ तथा १० में हमनें कहा है कि यद्यपि आपातत वैदिक देवता अपनी-अपनी स्वतन्त्र पृथक् सत्ता रखते हुए प्रतीत होते है, तो भी वेदो के मन्त्रो मे यत्र-तत्र स्पष्ट रूप से उनकी मौलिक आध्यात्मिक एकता का प्रतिपादन किया गया है। मन्त्रार्थ-ज्ञान-पूर्वक वैदिक यज्ञो के करने के समय तक, निश्चय ही **विद्वान् याज्ञिकों को** उस मौलिक आध्यात्मिक एकता का भान रहता होगा। तभी तो कहा जाता था—

> "एकं सद् विप्रा वहुधा वदन्ति" (ऋग्० १।१६४।४६)।
>
> "सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभि-
> रेकं सन्तं वहुधा कल्पयन्ति"। (ऋग्० १०।११४।५)

अर्थात्, विद्वान् लोग-एक ही मौलिक सत्ता या अध्यात्म-तत्त्व को भिन्न-भिन्न इन्द्र, मित्र, अग्नि आदि नामो से कहते है।

मन्त्रो में प्राय आता है कि वैदिक देवता अपना-अपना कार्य परस्परोन्नायक या सामञ्जस्य के भाव से ही करते है, विरोध-भाव से कभी नही।[1] इससे भी उनकी मौलिक आध्यात्मिक एकता ही प्रतीत होती है। ऐसा न होने पर, भिन्न-भिन्न वैदिक देवताओ मे और उनके माननेवालो में पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष और तन्मूलक विरोध-भावना का पाया जाना स्वाभाविक होता।

उसी मौलिक तत्त्व के विषय में मन्त्रो में कहा गया है—

"स ओतः प्रोतश्च विभू॰ प्रजासु" (यजु॰ ३२।८)।
"वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोता इमाः प्रजाः" (अथर्व॰ १०।८।३८)

अर्थात्, मौलिक आध्यात्मिक तत्त्व सर्वत्र फैला हुआ है और ये सारी प्रजाएँ या सृष्टि उसी में ओत-प्रोत हैं।

बढती हुई कृत्रिमता के दिनो में वैदिक कर्मकाण्ड में मन्त्रो के अर्थज्ञान की उपेक्षा का एक बडा दुष्परिणाम यह हुआ कि देवताओ की मौलिक एकता की भावना क्रमश अधिकाधिक ओझल होती गयी, और अन्त में प्राय बिलकुल ही लुप्त हो गयी।

यही नही, आगे चलकर तो, एक प्रकार से देवताओ के अपने अस्तित्व को भी मीमासको ने नही माना। **पूर्वमीमांसा** का सिद्धान्त है कि देवता मन्त्रमय होते है। अर्थात्, तत्तद् देवता के जो मन्त्र है वही देवता हैं, उनसे पृथक् देवता अपनी सत्ता नही रखते। कई प्रकार की युक्तियाँ इस सिद्धान्त के पक्ष में दी जाती हैं। परन्तु वास्तव में इस सिद्धान्त का मूल इसी विश्वास में है कि, किसी यन्त्र या मैशीन की तरह, याज्ञिक क्रिया-कलाप में ही स्वय फल देने की शक्ति है। फिर **चेतन** देवता की आवश्यकता ही क्या है? प्रत्युत, चेतन देवता अपनी स्वतन्त्रता के कारण उस क्रियाकलाप की यान्त्रिक शक्ति में बाधा ही डाल सकता है। इसी कारण से मीमासक लोग, देवता क्या, ईश्वर को भी नही मानते! मानते हैं केवल याज्ञिक क्रिया-कलाप की अक्षुण्णता को!

इस प्रकार याज्ञिक कर्म-काण्ड की अत्यधिक यान्त्रिकता क्रमश, न केवल वैदिक देवता-वाद के लिए ही, किन्तु उसके आध्यात्मिक एकतावाद के लिए भी सर्व-नाश-कर सिद्ध हुई। इस स्थिति का नैतिक भावनाओ पर जो दुष्प्रभाव पडा, उसको हम आगे स्पष्ट करेंगे।

---

१. तु॰ "देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते" (ऋग्॰ १०।१९१।२)।

रूढिमूलक वर्ग-वाद की प्रवृत्ति का दुष्प्रभाव

वैदिक धारा के तृतीय काल में वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ और उसके अनन्तर धीरे-धीरे उसमें रूढि-मूलकता की वृद्धि होने लगी, यह हमने ऊपर कहा है। उस परिस्थिति में उस व्यवस्था के गुण-दोष की कुछ चर्चा भी हम कर चुके है।

उक्त रूढि-मूलकता के लाने में और उसको दृढ करने में याज्ञिक कर्मकाण्ड की अत्यधिक जटिलता का विशेष हाथ था, यह भी हम ऊपर दिखला चुके हैं।

भारतवर्ष के इतिहास में इस काल को हम एक प्रकार से **याज्ञिक कर्मकाण्ड का काल** कह सकते हैं। इस काल में देश के सामने कोई महान् राजनीतिक कार्य-क्रम नही दीखता। प्रायेण छोटे-छोटे राज्यो पर पुरोहितो की सहायता से राज्य करनेवाले राजा लोग, अपने भाग्य से पूर्णतया सन्तुष्ट होकर, एक प्रकार से आदर्श-हीन, पर चैन का जीवन व्यतीत करने लगे थे। उन दिनो देश में कोई बडी चर्चा थी, तो वैदिक यज्ञो की, उनमें दी जाने वाली बडी-बडी दक्षिणाओ की और पुरोहितो की।[१]

> **ऐसे वातावरण में पनपता हुआ रूढिमूलक वर्ग-वाद अन्ततोगत्वा न तो तत्तद् वर्गों के लिए, न देश के लिए ही, हितकर सिद्ध होता है। यह सार्वत्रिक नियम है कि स्वच्छन्द-प्रवाह नदी-जल की अपेक्षा सर्वतः रुका हुआ तालाब का जल गन्दा हो ही जाता है। उसमें वह जीवनी शक्ति ही नहीं रहती जो नदी-जल में होती है। दूसरे, जीवन में खुली प्रतियोगिता की भावना के न रहने पर मनुष्य को आगे बढ़ने की प्ररणा ही नहीं मिलती।**

इसलिए **रूढि-मूलक वर्ण-व्यवस्था वास्तव में याज्ञिकों के लिए भी हितकर सिद्ध नहीं हो सकती थी।** इसके कारण उनमें भी आलस्य, बुद्धि-मान्द्य आदि दोषो का आ जाना स्वाभाविक था, जैसा कि हम ऊपर बतला चुके है। ऋग्वेद-सहिता में ही एक जगह कहा है—

"मो षु ब्रह्मेव तन्द्रयुर्भुवो." (ऋग्० ८।९२।३०)

१. देखिए—ऐतरेय-ब्राह्मण (८।२०-२३)।

यह मन्त्र अथर्ववेद (२०।६०।३) में भी आया है। इसका अर्थ है कि 'हे इन्द्र ! तुम एक याज्ञिक ब्राह्मण की तरह आलसी न हो जाओ।'

एक दूसरे मन्त्र में विना अर्थ-ज्ञान के वेद के मन्त्रो का पाठ-मात्र करने वालो के विषय में कहा है—

अधेन्वा चरति माययैष
वाच शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ।
(ऋग्० १०।७१।५)

अर्थात्, पुष्प-फल-रूपी अर्थ के बिना जो केवल शब्दमात्र से (वेद-मन्त्र-रूपी) वाणी को पढता है वह मानो दूध न देनेवाली कृत्रिम गौ के साथ घूमता-फिरता है।

आगे चलकर वेदाभ्यास जडता या मन्दता का प्रतीक ही माना जाने लगा था। तभी तो महाकवि कालिदास ने अपने **विक्रमोर्वशी-नाटक** (१।१०) में प्रजापति को भी '**वेदाभ्यासजड.**' कहने का साहस किया है ![1]

रूढि-मूलक वर्ग-वाद से जो सबसे बड़ी हानि देश को हुई वह विभिन्न वर्णों में पृथक्त्व-भावना के बढ़ाने की थी।

वैदिक धारा के इतिहास में एक समय था जब कि समस्त आर्यजाति एकता की भावना से अनुप्राणित थी। उसके विस्तार और राजनीतिक उत्कर्ष का मुख्य आधार उसी एकता पर था। उसके पश्चात् जब वर्ण-भेद की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ उस समय भी, परम्परागत एकजातित्व की भावना के कारण, परस्तर घनिष्ठ अङ्गाङ्गि-भाव के आदर्श को ही वर्ण-व्यवस्था का आधार समझा जाता था। इसी कारण से वैदिक मन्त्रो में समस्त समाज और शूद्रो

---

१ इसी सबध में वेद को बिना समझे रटनेवाले वैदिक को 'मन्द-प्रज्ञ' और 'अविपश्चित्' कहनेवाले इस प्रसिद्ध पद्य को भी देखिए—

"**श्रोत्रियस्येव ते राजन्मन्दकस्याविपश्चित. । अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी ॥**" (महाभारत, शान्तिपर्व १०।१) । कुछ पाठ-भेद से यही पद्य **महाभारत**, उद्योगपर्व (१३२।६) में भी आया है।

इसी प्रसग में **भागवत** (६।३।२५) का यह वचन भी देखने योग्य है—"**त्रय्या जडीकृतमतिर्मधुपुष्पिताया वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः।**" यहाँ भी वेदाभ्यासी याज्ञिक को स्पष्टत 'जडीकृतमति' कहा गया है।

सहित सब वर्णों के प्रति ममत्व-बुद्धि और हित-भावना का वर्णन मिलता है, जैसा कि हम परिच्छेद ६ में दिखला चुके हैं।

परन्तु यह स्थिति चिरकाल तक नही रही। वर्ण-भेद की प्रवृत्ति में रूढि-मूलकता के बढने के साथ-साथ विभिन्न वर्णों में पृथक्त्व-भावना के बढाने का प्रयत्न स्पष्ट दिखायी देता है।

उदाहरणार्थ, गृह्य-सूत्रो के उपनयन-प्रकरण के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ प्राचीन गृह्यसूत्रो में विभिन्न वर्णों के ब्रह्मचारियो के लिए मेखला, दण्ड, वस्त्र आदि का कोई भेद प्राय नही रखा गया है, वहाँ नवीन गृह्य-सूत्रो में वर्ण-भेद से विभिन्न मेखला आदि का विधान पाया जाता है।

अन्य क्षेत्रो में भी यही प्रवृत्ति बराबर बढती हुई दिखायी देती है।

इस प्रवृत्ति का सबसे अधिक खेद-जनक प्रभाव शूद्र और आर्य के परस्पर संबंध पर पड़ा। परिच्छेद ६ में हम दिखला चुके हैं कि चारो वेदो मे शूद्र के प्रति अन्याय्य अथवा कठोर दृष्टि कही नही पायी जाती। यही नही, वेद-मन्त्रो में तो अन्य वर्णों के समान शूद्र के प्रति भी सद्भावना और ममत्व का वातावरण स्पष्ट दिखायी देता है।

परन्तु वर्ण-भेद में रूढि-मूलकता के बढ जाने पर उक्त स्थिति मे मौलिक परिवर्तन दिखायी देने लगता है। उदाहरणार्थ, **गौतमधर्मसूत्र** के निम्न-लिखित वचनो को देखिए—

अथ हास्य वेदमुपश्शृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्र-प्रतिपूरण-
मुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः।

(गौ० ध० सू० २।३।४)

अर्थात्, वेद के सुनने पर शूद्र के कानो में राँगा या लाख भरवा देनी चाहिए, वेद के उच्चारण करने पर जिह्वा कटवा देनी चाहिए, और धारण करने पर शरीर (=हाथ) को कटवा देना चाहिए।

पिछल वदिक काल में शूद्र के प्रति कठोर दृष्टि का यह केवल एक उदाहरण है। **मनुस्मृति** आदि में इसी प्रकार की अशोभन दृष्टि के अनेकानेक उदाहरण मिल सकते हैं।

हमारी समझ में शूद्रो के प्रति दृष्टि के इस महान् परिवर्तन का आधार वर्ण-भेद की बढती हुई रूढि-मूलकता की प्रवृत्ति पर ही हो सकता है। वर्णों में बढती हुई पृथक्त्व-भावना का चरम उत्कर्ष इसी में हो सकता था।

आर्यजाति की मौलिक एकजातीयता की स्पृहणीय भावना के मुकाबले में पिछली खेद-जनक पृथक्त्व-भावना के लिए तनिक **शतपथ-ब्राह्मण** के निम्न-लिखित उद्धरण को देखिए—

"अथेतराः पृथङ् नानायजुर्भिरुपदधाति विशं
तत्क्षत्रादवीर्यतरा करोति पृथग्वादिनीं नानाचेतसम्" ।

(शत० ब्रा० ८।७।२।३)

अर्थात्, चयन में वह दूसरी इष्टकाओ को पृथक् पृथक् यजुर्वेद के मन्त्रो से रखता है, जिससे क्षत्र की अपेक्षा पृथक्-पृथक् अर्थात् अनैक्य से बोलने वाली और विभिन्न-चित्तवाली प्रजा में दुर्बलता रहे।

यहाँ प्रजा के विषय में यह भावना कि उसमें किसी प्रकार एकता और एकचित्तता न आ सके और वह राजशक्ति के सामने दुर्बल ही रहे कितनी हीन और खेद-जनक है।

जनता के प्रति उपेक्षा और तिरस्कार की भावना के ऐसे ही अनेकानेक उदाहरण[1] ब्राह्मण-ग्रन्थो में पाये जाते हैं।

नैतिकता का ह्रास

सातवें **परिच्छेद** में हम बतला चुके है कि कोई भी धार्मिक कर्मकाण्ड मनुष्य की तद्विषयक स्वाभाविक प्रवृत्ति से प्रारम्भ होकर प्रायेण धीरे-धीरे बढता हुआ पुरोहित-वर्ग के एकाधिकार की वस्तु बन जाता है। यह अवस्था अन्त में पुरोहित-वर्ग और जनता दोनो के लिए हानिकर सिद्ध होती है। इससे जहाँ एक ओर अकर्मण्यता, मूढ-ग्रह और अन्ध-विश्वास की वृद्धि होती है, वहाँ दूसरी ओर व्यावसायिक और दूकानदारी की अनियन्त्रित प्रवृत्ति के बढने से नैतिकता के प्राय सर्वनाश की स्थिति उपस्थित हो जाती है।

अत्यधिक बढा हुआ याज्ञिक कर्मकाण्ड भी इस नियम का अपवाद नही हो सकता था, इसके लिए अनेक प्रमाण हमको प्राचीन ग्रन्थो में मिलते है। उन्ही में से कुछ प्रमाणो को यहाँ देना हम उचित समझते है।

ऋत्विजो की व्यावसायिक प्रवृत्ति का उल्लेख **ऋग्वेद** में ही इस प्रकार मिलता है—

तक्षा रिष्टं रुतं भिषग् ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छति। (ऋग्० ९।११२।१)

---

१ तु० "अत्ता वै क्षत्रिय.। अन्नं विट्।" (शत० ब्रा० ६।१।२।२५)

अर्थात्, जैसे कारीगर (या मिस्तरी) टूटी हुई वस्तु के लिए, अथवा वैद्य बीमारी के लिए, इसी प्रकार ब्राह्मण ऋत्विज् सोम-याग करनेवाले के लिए इच्छुक रहता है।

ऋत्विज् किस प्रकार अपने ही यजमान का नाश कर सकता है या उसको हानि पहुँचा सकता है, इस विषय मे **ऐतरेय-ब्राह्मण** से लिया गया नीचे का उद्धरण देखने योग्य है—

"यं कामयेत प्राणेनैनं व्यर्धयानीति वायव्यमस्य लुब्ध शंसेत्, ऋच वा पद वातीयात्। तेनैव तल्लुब्धम्। प्राणेनैवेन तद् व्यर्धयति। . . .य कामयेत चक्षुषैनं व्यधयानीति मैत्रावरुणमस्य लुब्धं शसेत्, ऋच वा पद वातीयात्। तेनैव तल्लुब्धम्। चक्षुषैवैन तद् व्यर्धयति।" (ऐत० ब्रा० ३।३)

इस लम्बे प्रकरण में विस्तार से बतलाया है कि होता यदि चाहे तो अपने मन्त्रो (यहाँ '**प्रउग-शस्त्र**') के पाठ में किसी प्रकार की गडबड करके यजमान को अनेक प्रकार की हानि पहुँचा सकता है, यहाँ तक कि उसको अन्धा कर सकता है या उसको मार भी सकता है।

कर्मकाण्ड के नैतिक पतन की यह पराकाष्ठा है कि ऋत्विज् **अपने ही यजमान को** किसी भी प्रकार की हानि पहुँचाने की कामना करे!

ऋत्विजो द्वारा यजमानो को ठगने या लूटने की प्रवृत्ति का भी वर्णन **ऐतरेय-ब्राह्मण** में ही इस प्रकार मिलता है—

"यथा ह वा इदं निषादा वा सेळगा वा पापकृतो वा वित्तवन्त पुरुषमरण्ये गृहीत्वा कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति, एवमेव त ऋत्विजो यजमान कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति यमनेवंविदो याजयन्ति। एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह जनमेजयः पारीक्षितः:—एवविदं हि वै मामेवविदो याजयन्ति तस्मादह जयामि ."

(एत० ब्रा० ८।११)

अर्थात्, जैसे दुष्ट चोर या लुटेरे जगल मे किसी धनवान् पुरुष को पकडकर उसे गढे मे फेक कर उसका धन लेकर चम्पत हो जाते है, ऐसे ही मूर्ख ऋत्विज् उस यजमान को, जिसका वे यजन कराते है, गढे मे ढकेलकर उसके धन को लेकर चम्पत हो जाते है। (इसीलिए) परीक्षित् के पुत्र जनमेजय ने कहा था कि मै स्वय याज्ञिक कर्मकाण्ड को जानता हूँ। विद्वान् ऋत्विज् ही मेरा यजन कराते है। इसी कारण से मेरी जय होती है।

अभिप्राय यह है कि यज्ञ के वास्तविक स्वरूप को न जानकर जो ऋत्विज् कर्म कराते है, वे वास्तव मे यजमान को लूटन वाले लुटेरे होते है, या लुटेरो की प्रवृत्ति उनमें आ जाती है।

इसी प्रकार ऐतरेय-ब्राह्मण (३।४६) मे ही एसे ऋत्विजो की निन्दा की है जो लोभादि निम्न-प्रवत्तियो के वशीभूत होकर यज्ञ कराते हैं।

ऐतरेय-ब्राह्मण उस समय का ग्रन्थ है जबकि याज्ञिक कर्मकाण्ड अपने पूरे उत्कर्ष में रहा होगा। उस समय भी उसमें काफी अनतिकता की सभावना आ गयी थी, ऐसा ऊपर के उद्धरणो से स्पष्ट प्रतीत होता है। एसी दशा में उसके अपकर्ष के दिनो मे अनैतिकता किस सीमा तक पहुँची होगी, इसका अनुमान लगाना कठिन नही है।[1]

वैदिक धारा का ह्रास और प्राचीन दृष्टि

प्रथम इसके कि हम प्रकृत विषय का उपसहार करें यह उचित प्रतीत होता है कि वैदिक धारा के ह्रास की परिस्थिति को थोडा-बहुत प्राचीन प्रामाणिक न्थो के शब्दो में ही दिखला दिया जाए।

उपनिषदो के निम्नलिखित प्रमाण निष्प्राण याज्ञिक क्रियाकलाप से उद्विग्नता को स्पष्टतया प्रकट करते हैं—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्यु ते पुनरेवापियन्ति ।। (मुण्डकोपनिषद् १।२।७)
अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीरा. पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा. ।।[2] (कठोपनिषद् १।२।५)

अर्थात्, ये आदर्श-हीन जटिल यज्ञ-रूपी कर्म अदृढ नौका के समान हैं। अविवेकी लोग इनको ही जीवन का लक्ष्य बनाकर अपनी अन्ध-वासनाओ के

---
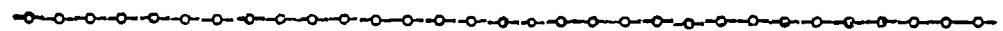
१. पिछले काल में याज्ञिकों के नैतिक पतन के संबन्ध में संस्कृतज्ञ विद्वानों में प्रसिद्ध निम्नलिखित वचन को भी देखिए—

"महाश्चर्यं महाश्चर्यं यज्ञे कमठबन्धनम्!!
महामूर्खस्य यागोऽयं महिषीशतदक्षिणः।
तवार्धं च ममार्धं च मा विघ्नं कुरु पण्डित!"

२. यह पद्य मुण्डकोपनिषद् (१।२।८) में भी कुछ पाठ-भेद से आया है।

भँवर में ही पड़े रहते है और वास्तविक कल्याण को नही प्राप्त कर सकते। मूढ लोग, अपने को पण्डित और बुद्धिमान् समझते हुए, पर वास्तव में अज्ञानवश आदर्शहीन याज्ञिक क्रिया-कलाप में फँसे हुए, आध्यात्मिक उन्नति के सरल-सीधे मार्ग में अग्रसर नही हो पाते। वे मान, दम्भ, मोह के टढे मार्ग में ही फँसकर अपने जीवन को नष्ट करते हैं। उनकी दशा वास्तव मे अन्धे के पीछे चलनेवाले अन्धो के समान ही होती है।

शुष्क आदर्श-हीन याज्ञिक कर्म-काण्ड को ही लक्ष्य मे रखकर, वेदो के और वैदिक यज्ञो को करने-कराने वालो के विषय मे कहे गये, **भगवद्गीता** के कुछ वचन नीचे दिये जाते हैं—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः :
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

(गीता २।४२, ४३, ४६)

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विता. ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥

(गीता १६।१७)

अर्थात्, वैदिक वादो में विश्वास रखनेवाले अविद्वान् लोग ही विभिन्न कामनाओ से प्रेरित होकर, भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए, जटिल याज्ञिक क्रिया-कलाप के साथ, विना समझे हुए, केवल सुनने में रमणीय वैदिक मन्त्रो का पाठ करते हैं। सर्वत जल के उपलब्ध होने पर छोटे-से जलाशय आदि की जैसी उपयोगिता होती है, वैसी ही उपयोगिता तात्त्विक दृष्टि रखनेवाले विद्वान् के लिए सव वेदो की है। अपन को वडा माननेवाले, विनय से रहित और धन-मान के मद से युक्त अज्ञानी लोग, दम्भ के साथ, अविधि-पूर्वक नाम-मात्र के वैदिक यज्ञो को किया करते हैं।

अन्तमें, **श्रीमद्भागवत** से वैदिक याज्ञिको की तात्कालिक दुरवस्था और अनैतिकता को वर्णन करनेवाले कुछ अशो को देकर हम इस विषय को समाप्त करते हैं—

.............मुह्यन्त्याम्नायवादिनः ।।
कर्मण्यकोविदाः स्तब्धा मूर्खाः पण्डितमानिनः ।
रजसा घोरसंकल्पाः कामुका अहिमन्यवः ।
दाम्भिका मानिनः पापाः.........।।

वदन्ति तेऽन्योन्यमुपासितस्त्रियो
गृहेषु मैथुन्यपरेषु चाशिषः ।
यजन्त्यसृष्टान्नविधानदक्षिणं
वृत्त्यै परं घ्नन्ति पशूनतद्विदः ।।

(भाग० ११।५।५–८)

अर्थात्, याज्ञिक कर्मकाण्ड को करनेवाले वैदिक लोग मूढावस्था में पडे हुए होते हैं। अभिमानी, मूर्ख, अपने को पण्डित समझनेवाले वे कर्मकाण्ड के तत्त्व को नही जानते। वे कामी, सर्प के समान क्रोधी, दम्भी, मानी और पापी होते है। रजो-गुणी होने के कारण उनके सकल्प क्रूर होते है। वे स्वय एक-दूसरे की स्त्रियो का सेवन करते हुए, उन्हो घरो में आशीर्वादात्मक मन्त्रो का पाठ करते है जो विषयोपभोग-परायण होते है। शास्त्र की दृष्टि से उचित-अनुचित का विचार छोडकर वे केवल आजीविका की दृष्टि से यज्ञ कराते है और हिंसा की परवा न करके यज्ञो में पशुओ की बलि देते है।

श्रीमद्भागवत के ही एक दूसरे प्रकरण में स्वय भगवान् श्रीकृष्ण, भक्ति ज्ञान आदि के स्वाभीष्ट मार्गों की व्याख्या के प्रसङ्ग में, याज्ञिक-कर्मकाण्ड की दुरवस्था को दिखाते हुए कहते है—

हिंसाविहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया ।
यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन् खलाः ।।
रजःसत्त्वतमोनिष्ठा रजःसत्त्वतमोजुषः ।
उपासत इन्द्रमुख्यान् देवादीन् न तथैव माम् ।।
इष्ट्वेह देवता यज्ञैर्गत्वा रंस्यामहे दिवि ।
तस्यान्त इह भूयास्म महाशाला महाकुलाः ।।
एव पुष्पितया वाचा व्याक्षिप्तमनसां नृणाम् ।
मानिना चातिस्तब्धाना मद्वार्तापि न रोचते ।।

(भाग० ११।२१।३०, ३२–३४)

अर्थात्, खल लोग अपने सुख की इच्छा से प्रेरित होकर यज्ञो में बलि दिये

हुए पशुओ की हिंसा में विहार करते हैं।[१] वे उक्त प्रकार के हिंसामय यज्ञो से देवताओ का तथा पित्रादि का यजन करते हैं। रजस् सत्त्व और तमस् में आस्था रखनेवाले वे इन्द्र आदि देवो की उपासना करते है, भगवान् की नही। 'इस जन्म में यज्ञो द्वारा देवताओ का यजन करके हम स्वर्ग में जाकर रमण करेंगे, और तदनन्तर पुन इस लोक में बडे कुलो में जन्म लेकर ऐश्वर्य का उपभोग करेंगे'—इस प्रकार की आपातत रमणीय बातो से जिनके चित्त चञ्चल हैं ऐसे अभिमानी तथा अतिस्तब्ध लोगो को मेरी (=भगवान् के सबन्ध की) बात भी नही रुचती।

ऊपर के वचनो पर किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नही है। आदर्श-हीन शुष्क याज्ञिक कर्मकाण्ड के कारण लोगो की वेदो में अनास्था का और सामान्य रूप से याज्ञिको की खेद-जनक अनैतिकता के साथ-साथ निन्दनीय व्यावसायिक बुद्धि का इससे अधिक प्रमाण और क्या हो सकता है।

वैदिक धारा के ही क्यो, किसी भी सास्कृतिक धारा के ह्रास के लिए ऐसे कारण पर्याप्त होते हैं।

उपसंहार

जो कुछ ऊपर कहा है उससे स्पष्ट है कि वैदिक धारा के ह्रास का मुख्य कारण अत्यधिक जटिलता और विस्तार को पहुँचा हुआ उसका आदर्शहीन शुष्क कर्मकाण्ड ही था। आर्यजाति में रूढि-मूलक वर्ग-वाद की प्रवृत्ति के लाने मे और उसको दृढ करने मे भी उक्त कर्मकाण्ड का विशेष हाथ था। इसी के कारण, जहाँ एक ओर विभिन्न वर्णों में पृथक्त्व-भावना की वृद्धि हुई, वहाँ दूसरी

---

१. तु० "इज्यायज्ञश्रुतिकृतैर्यो मार्गैरबुधोऽधम.। हन्याज्जन्तून् मासगृध्नु स वै नरकभाङ्‌ नरः॥ (महाभारत, अनुशासन-पर्व, ११५।४७)।

याज्ञिक कर्मकाण्ड में पशुओ की वलि के प्रसग ब्राह्मण-ग्रन्थो और श्रौतसूत्रो में भरे पडे हैं। सवनीय पशु के अवयवो को ऋत्विजो में बाँटने के विधान का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। महाभारत मे वर्णित राजा रन्तिदेव के सत्र में प्रतिदिन सहस्रो पशुओ की वलि दी जाने की कथा प्रसिद्ध है। यहाँ जो प्रमाण हमने दिये हैं उनसे यह स्पष्ट है कि याज्ञिक लोग प्राय मासाहार के प्रलोभन से यज्ञो में प्रवृत्त होते थे। इन सव वातो से यह स्पष्ट है कि वैदिक यज्ञो की वढती हुई पशु-हिंसा की प्रवृत्ति भी वैदिक धारा के ह्रास मे एक प्रमुख कारण थी।

ओर शूद्रो के प्रति कठोर और अशोभन दृष्टि का सूत्रपात हुआ। इसीने विशेष रूप से रूढि-मलक पुरोहित-वर्ग को जन्म दिया, जिसकी क्रमश वढती हुई व्यावसायिक बुद्धि और अनैतिकता ने वैदिक धारा की ह्रासोन्मुखता को और भी बढा दिया। आदर्श-हीन याज्ञिक कर्मकाण्ड और नैतिकता की भावना से शून्य-प्राय ऋत्विजो के कारण वेदो के अर्थ-ज्ञान-पुरस्सर अध्ययनाध्यापन की परम्परा और उनकी उदात्त भावनाओ का वातावरण दोनो नष्ट-प्राय हो गये।

यह समय ऐसा था जब कि जनता को कोई धार्मिक प्रेरणा और जीवन-प्रद सन्देश कही से भी मिलना प्राय बन्द हो गया था, और वैदिक धारा का प्रवाह अत्यन्त मन्द पड गया था।

धार्मिक और नैतिक वातावरण की यही महान् शून्यता अथवा रिक्तता वास्तव में औपनिषद तथा जैन-बौद्धादि धाराओ के अगले आन्दोलनों की जननी हुई।

प्रकृति का नियम है कि वातावरण के निस्तब्ध हो जाने पर ही आंधी आती है।

वैदिक धारा के ह्रास की कहानी हम यहीं समाप्त करते हैं। यह अत्यन्त हृदय-विदारक है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं है। पर यह सत्य है, इसमें भी सन्देह नहीं है। इसको मानना ही पडेगा; इसको माने बिना न तो हम भारतीय संस्कृति की अगली प्रगति को समझ सकते हैं, न अगली धाराओं के उदय को।

हमारा कर्तव्य

वैदिक धारा का ह्रास एक ऐतिहासिक सत्य है। पर इसका अर्थ यह नही है कि वेद और वैदिक वाङ्मय का महत्त्व अभिनव भारत के लिए नही है।

यह हमारा परम सौभाग्य है कि वे अब भी सुरक्षित हैं। उनकी हमने अक्षम्य महान् उपेक्षा की है, सहस्रो वर्षों से। पर **अब समय आ गया है जब कि आवश्यकता है उनके वास्तविक अनुशीलन और** स्वाध्याय **की, किसी संकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टि से नहीं, किन्तु अत्यन्त उदार मानवीय भावना से।**

वेद हमारे राष्ट्र की अमूल्य शाश्वत निधि तो है ही, पर अपनी अद्वितीय उदात्त भावनाओ और अमूल्य जीवन-सदेश के कारण उनका सार्वकालिक और सार्वभौम महत्त्व भी है। इस का गर्व और गौरव **प्रत्येक भारतीय** को होना चाहिए।

यह सदा स्मरण रखने की बात है कि वेदो के विषय में सकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टि न केवल उनके महत्त्व को घटाती है, अपितु उनको दूसरी सास्कृतिक धाराओ के साथ प्रतिस्पर्धा के बहुत निम्न धरातल पर भी ले आती है।

संकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टि के दोषो की विशेष व्याख्या हम पहले ही (परिच्छेद १–४ में) कर चुके है। उनको यहाँ दुहराने की आवश्यकता नही है।

अन्त मे हम यही कहना चाहते है—

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे॥ (अथर्व० ६।१०८।२)

अर्थात्, ऋषियो द्वारा सस्तुत, ब्रह्मचारियो से सेवित, वैदिक मन्त्रो को प्रकाश में लानी वाली, **वेदमय प्रथम मेधा** का हम आवाहन करते है जिससे समस्त दैवी शक्तियो का सान्निध्य और सरक्षण हमको मिल सके।

इसका अर्थ यही है कि वह **दिव्य मेधा**, जिसने ऋषियो द्वारा वैदिक धारा को प्रवाहित किया था, जिस ने भारतीय सस्कृति के उष-काल में विश्व में व्याप्त उस मौलिक तत्त्व का साक्षात्कार किया था जिसकी दिव्य विभूतियो का वैदिक देवताओ के रूप में मन्त्रो में गान किया गया है, और जिसने मानो प्रकाशमय आनन्दमय लोको से लाकर मानव-जीवन के लिए दिव्य सदेशो को श्रुति-मधुर पवित्र शब्दो में सुनाया था, **भारतीय सस्कृति के अमृत-स्रोत के रूप में** अब भी वैदिक मन्त्रो में सुरक्षित है।

शुष्क आदर्श-हीन याज्ञिक कर्म-काण्ड के रूप मे वैदिक धारा के ह्रास के हो जाने पर भी, वह स्वयं अजर और अमर है। हमारा पवित्र कर्तव्य है कि हम परम-तीर्थ-रूप उस अमृत-स्रोत तक पहुँच कर, उसमें अवगाहन कर, उसकी दिव्य पवित्रता और सजीवनी शक्ति का स्वय अनुभव करें, और भारतीय संस्कृति के लिए उसकी व्यापक देन की वेल का, जो उस अमृत-प्रवाह से विच्छिन्न होकर सूख रही है, उस अमृत-स्रोत से पुन सबन्ध स्थापित कर, उसको फिर से उज्जीवित और हरा-भरा करें, जिससे अभिनव भारत के लिए वह पुन: फूले और फले और साथ ही अपने सौरभ और प्रसाद से विश्व को प्रसन्नता, सन्तोष और शान्ति प्रदान कर सके। वेद ने स्वय कहा है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्या-
य च स्वाय चारणाय च।
प्रियो देवाना दक्षिणायै दा-
तुरिह भूयासम्। अय मे
कामः समृध्यताम्।
उप मादो नमतु।
(यजु० २६।२)

——×——

प्रथम परिशिष्ट

(क) वैदिक धारा का अमृत-स्रोत

(ख) वैदिक-सूक्ति-मञ्जरी

(ग) ब्राह्मणीय-सूक्ति-मञ्जरी

(घ) व्रत से आत्म-शुद्धि

(ङ) ब्रह्मचर्य
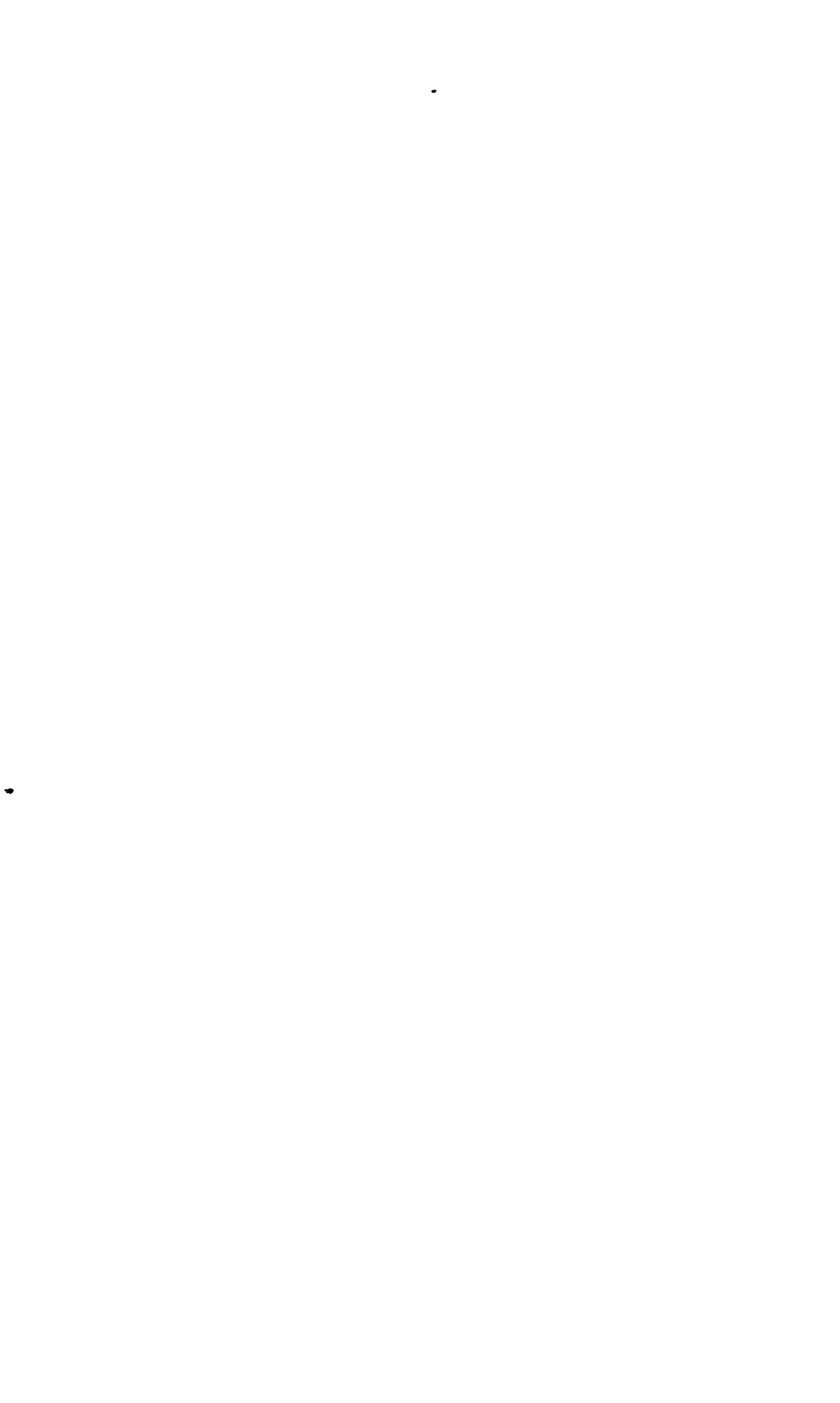
प्रथम परिशिष्ट

(क)

वैदिक धारा का अमृत-स्रोत

मौलिक प्रश्न

कस्मै देवाय हविषा विधेम ? (ऋग्० १०।१२१।५)

हम किस देव की स्तुति और उपासना करें ?

उत्तर

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभित येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

(ऋग्० १०।१२१।५)

जिस दैवी शक्ति ने इस विशाल द्युलोक को, इस पृथिवी को, स्वर्लोक और नाक-लोक को अपने-अपने स्वरूप में स्थिर कर रखा है और जो अन्तरिक्ष-लोक में भी व्याप्त हो रही है उसको छोड कर हम किस देव की स्तुति और उपासना कर सकते है ? अर्थात्, हमको उसी महाशक्ति-रूपिणी देवता की पूजा करनी चाहिए ।

मूलतत्त्व का स्वरूप

स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु । (यजु० ३२।८)

वह मूल-तत्त्व सारे विश्व में ओत-प्रोत है और यह सृष्टि उसी से उत्पन्न हुई है ।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः।
(यजु० ३२।३)

उसका यश सर्वत्र फैला हुआ है। उसकी प्रतिमा या उपमान नही हो सकता।

सब देवता उसी की विभूति है

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्य-
ग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः। (ऋग्० १।१६४।४६)

एक ही मूलतत्त्व को विद्वान् अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि अनेक नामो से कहते हैं।

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
(ऋग्० १०।११४।५)

एक ही सर्व-व्यापक तत्त्व को विद्वान् कवि वचनो द्वारा अनेक रूपो में कल्पित करते हैं।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
(यजु० ३२।१)

उसी मूलतत्त्व को अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र (=भास्वर) ब्रह्म, अप् (=जल) और प्रजापति कहा जाता है। अथवा, अग्नि आदि सब उसी की विभूतियाँ हैं।[1]

---

१. तु० "अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।" (गीता ७।६-६)

तथा,

"यतो भूतानि जायन्ते यत्र तेषां लयो मत॰।
यदाश्रयेण तिष्ठन्ति तत्त्वं तन्नित्यमव्ययम्॥
सत्यं ब्रह्म परं धाम कर्म 'धर्म्म' प्रजापतिः।
शक्तिर्माता शिवो विष्णू राम ओंकार एव च॥
प्रेमेत्यादि पदं मूलतत्त्ववाचि न संशय॰।
तदेव तत्त्वं गीतायामहंशब्देन कथ्यते॥
(रश्मिमाला ६०।१, १५-१६)

उस परम देव की महिमा

महीरस्य प्रणीतय' पूर्वीरुत प्रशस्तयः ।
नास्य क्षीयन्त ऊतयः ।। (ऋग्० ६।४५।३)

परमैश्वर्यशाली भगवान् की लीला या चरित्रो की कोई सीमा नही है। इस अनन्तानन्त विश्वप्रपच के निर्माता के सख्यातीत गुणो का गान कौन कर सकता है ? हमारा कल्याण इसी में है कि हमको सदा यह विश्वास रहे कि भगवान् सबके रक्षक है। इस सारे विश्व की रचना का एकमात्र उद्देश्य हमारा कल्याण ही है।[1]

वेदाहमेतं पुरुष महान्तमादित्यवर्ण तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।
(यजु० ३१।१८)

सर्वत्र ओत-प्रोत वह महान् देवाधिदेव सूर्य के समान अपने तेजोमय रूप को सर्वत्र फैलाये हुए भी हमारे अज्ञानान्धकार के कारण हमसे तिरोहित है। उसको जानकर ही मनुष्य मृत्यु की भावना को अतिक्रमण कर सकता है। अमृतत्व अथवा विशाल जीवन की प्राप्ति का कोई दूसरा मार्ग नही है।

आदर्श प्रार्थना

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ।। (यजु० ३०।३५)

अर्थात्, हम सब सवितृ-देव के उस प्रसिद्ध वरणीय तेजोमय स्वरूप का ध्यान करते है जो हम सब की बुद्धियो को प्रेरणा प्रदान करे।

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम् ।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे ।। (अथर्व० ६।१०८।२)

ऋषियो द्वारा सस्तुत, ब्रह्मचारियो से सेवित, ज्ञान का प्रकाश करनेवाली और स्वय ज्ञानमय उस श्रेष्ठ मेधा-शक्ति का हम आह्वान करते है जिससे समस्त दैवी शक्तियो का सान्निध्य और सरक्षण हमको प्राप्त हो सके !

---

१. तु० "विश्वमेतद्यया शक्त्या धार्यते पाल्यते तथा ।
नूनं सा प्रथमा बुद्धिश्चेतना चैव मन्यताम् ।।
तया सहेतुकं विश्वमाब्रह्माण्डं व्यवस्थितम् ।
चाल्यते हितभावेन तामेवाह समाश्रये ।।
(रश्मिमाला ६६।१–२)

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु (यजु० ३४।१)

मेरे मन के सकल्प शुभ और कल्याणमय हो !

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रं तन्न आ सुव।। (यजु० ३०।३)

अर्थात्, हे देव सवित ! समस्त दुर्गुणो को हमसे दूर कीजिए, और जो कल्याण-प्रद है उसे हमें प्राप्त कराइए !

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा
मा सुचरिते भज। (यजु० १६।३०)

हे प्रकाश-स्वरूप अग्नि-देव ! मुझे दुश्चरित से बचाकर सुचरित में दृढ-तया स्थापित कीजिए।

भद्रं नो अपि वातय मनः (ऋग्० १०।२०।१)

भगवन् ! ऐसी प्रेरणा कीजिए जिससे हमारा मन भद्र-मार्ग का ही अनुसरण करे।

भद्रं भद्रं न आभर (ऋग्० ८।६३।२८)

भगवन् ! हमें बराबर भद्र की प्राप्ति कराइए।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
(यजु० २५।२१)

हे यजनीय देवगण ! हम कानो से भद्र को ही सुनें और आँखो से भद्र को ही देखें।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽ-
दब्धासो अपरीतास उद्भिदः। (यजु० २४।१४)

हमको ऐसे शुभ सकल्प प्राप्त हो जो सर्वथा अविचल हो, जिनको साधारण मनुष्य नही समझते और जो हमें उत्तरोत्तर उत्कृष्ट जीवन की ओर ले जाने वाले हो।

जीवन की दार्शनिक दृष्टि

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।। (यजु० ४०।२)

मनुष्य को चाहिए कि वह अपने कर्तव्य कर्मों को करता हुआ ही पूर्ण आयु पर्यन्त जीने की इच्छा करे। उसका कल्याण इसी में है, कर्तव्य कर्म को छोड़-कर भागने में नही। कर्म-बन्धन से बचने का यही उपाय है।[1]

ईशा वास्यमिद ँ सर्वं यत्किं च जगत्या जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध· कस्य स्विद्धनम्॥
(यजु० ४०।१)

सारे विश्व में अन्तर्यामी भगवान् व्याप्त हैं। कर्म करने पर ईश्वर द्वारा जो भी फल प्राप्त हो उसका तुम उपभोग करो। जो दूसरे को प्राप्त है उस पर अपना मन मत चलाओ।[2]

स .याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। (यजु० ४०।८)

हमारे जीवन के ईश्वर-प्रदत्त पदार्थों में सदा ही योग्यता और औचित्य का आधार होता है।

अदीनाः स्याम शरद शतम्। भूयश्च शरदः शतात्।
(यजु० ३६।२४)

हम सौ वर्ष तक और सौ वर्ष से भी अधिक काल तक अदीन होकर रहें! अर्थात्, हम जीवन के महत्त्व को समझें और दीनता के भाव से अपने को दूर रखते हुए सदा उन्नति-पथ पर आगे बढते रहें।

इन्द्र इच्चरत· सखा (ऐतरेय-ब्राह्मण ७।१५)

जो स्वय उद्योग करता है भगवान् उसी की सहायता करते हैं।

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः (ऋग्० ४।३३।११)

जो श्रम नही करता उसके साथ देवता मित्रता नही करते।

यादृश्मिन् धायि तमपस्यया विदत् (ऋग्० ५।४४।८)

---

१ तु० "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥" (गीता २।४७)

२ तु० "कर्म कृत्वा ततस्तस्य फलप्राप्तावनुत्सुक·। प्रसन्नश्च निरुद्वेगः स्वस्थ आसीत पण्डितः॥ प्रभौ कर्मफलन्यासस्तस्मै फलसमर्पणम्। शरणागतिरप्येषा भक्तानां परिभाषया॥ (रश्मिमाला १७।४–५)

मनुष्य अपने ध्येय को श्रम और तप से ही प्राप्त कर सकता है।

अस्ति रत्नमनागसः (ऋग्० ८।६७।७)

निष्पाप मनुष्य के लिए निधिरूप अमल्य रत्न स्वय उपस्थित हो जाते है।[1]

जीवन का लक्ष्य

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ।। (यजु० २०।२१)

अज्ञानरूपी अन्धकार से उत्तरोत्तर प्रकाश की ओर बढते हुए हम, देवताओ मे सूर्य के समान, उत्तम ज्योति अर्थात् सर्वोत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त करें।[2]

लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृत कृधि ।
(ऋग्० ९।११३।९)

भगवन्! मुझे उस पूर्णता की अवस्था को प्राप्त कराइए, जहाँ केवल प्रकाश ही प्रकाश है।

परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु (अथर्व० १८।३।६२)

भगवन्! अपूर्ण जीवन की अवस्था से हमे पूर्णता के जीवन को प्राप्त कराइए।

उदानुषा स्वायुषोदस्थाम् (यजु० ४।२८)

हम उत्कृष्ट और शुभ जीवन के लिए उद्योग-शील हो!

प्रतार्यायुः प्रतरं नवीयः (ऋग्० १०।५९।१)

भगवन्! हम नवीन से नवीनतर और उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर जीवन की ओर बढते रहें।

जीवन-सगीत

जीवेम शरदः शतम् । बुध्येम शरद. शतम् ।
रोहेम शरदः शतम् । पूषेम शरद. शतम् ।
भवेम शरदः शतम् । भूषेम शरदः शतम् ।
भूयसीः शरदः शतात् ।। (अथर्व० १९।६७।२-८)

---

१. तु० "अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।" (योगसूत्र २।३७)

२. तु० "उत्तरोत्तरमुत्कर्षि जीवनं शाश्वतं हि न· । अस्पृष्टं तमसा चापि मोहरूपेण सर्वथा ।।" (रश्मिमाला २।७)

हम सौ और सौ से भी अधिक वर्षों तक जीवन-यात्रा करें, अपने ज्ञान को बराबर बढाते रहें, उत्तरोत्तर उत्कृष्ट उन्नति को प्राप्त करते रहें, पुष्टि और दृढता को प्राप्त करते रहें, आनन्दमय जीवन व्यतीत करते रहें, और समृद्धि, ऐश्वर्य तथा गुणो से अपने को भूषित करते रहें।

आदर्श-जीवन

कृधी न ऊर्ध्वान्‌ चरथाय जीवसे (ऋग्० १।३६।१४)

भगवन्! जीवन-यात्रा में हमें समुन्नत कीजिए।

विश्वदानीं सुमनसः स्याम
पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्? (ऋग्० ६।५२।५)

हम सदा प्रसन्न-चित्त रहते हुए उदीयमान सूर्य को देखें!

मदेम शतहिमाः सुवीराः (अथर्व० २०।६३।३)

अर्थात्, हमारी सन्तानें वीर हो और हम अपने पूर्ण जीवन को प्रसन्नतापूर्वक ही व्यतीत करें!

यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत्। (यजु० १६।४)

हमारी जीवन-चर्या ऐसी हो जिससे यह सारा जगत् हमको व्याधियो से बचाकर प्रसन्नता देने वाला हो।

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः मुद आसते।
.....तत्र माममृतं कृधि॥ (ऋग्० ९।११३।११)

भगवन्! मुझे सदा आनन्द, मोद, प्रमोद और प्रसन्नता की मन स्थिति में रखिए।

विश्वाहा वयं सुमनस्यमानाः (ऋग्० ३।७५।१८)

हम सदा ही अपने को प्रसन्न रखें!

व्रत का जीवन[1]

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि॥ (यजु० १।५)

---

१. 'व्रत' के सवन्ध में इसी परिशिप्ट का (घ) भाग देखिए।

व्रतपति अग्नि-देव ! आप शक्तियो के एकमात्र केन्द्र हैं। जो शुभ सकल्प के साथ सत्य-मार्ग पर चलना चाहते है, आप उनकी सहायता अवश्य करते हैं। मैं असत्य को छोडकर सत्य-मार्ग पर चलने का व्रत ले रहा हूँ। आप मुझे इस व्रत के पालन की सामर्थ्य दीजिए।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ।।
(यजु० १९।३०)

व्रताचरण से ही मनुष्य को दीक्षा अर्थात् उन्नत जीवन की योग्यता प्राप्त होती है। दीक्षा से दक्षिणा अथवा प्रयत्न की सफलता प्राप्त होती है। दक्षिणा से अपने जीवन के आदर्शों में श्रद्धा, और श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है।

ब्रह्मचर्य[1]

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्त्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः ।
(अथर्व० ११।५।२४)

ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करनेवाला प्रकाशमान ब्रह्म (=समष्टि-रूप ब्रह्म अथवा ज्ञान) को धारण करता है और उसमे समस्त देवता ओत-प्रोत होते हैं (अर्थात्, वह समस्त दैवी शक्तियो से प्रकाश और प्रेरणा को प्राप्त कर सकता है)।

ब्रह्मचारी ...श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति । (अथर्व० ११।५।४)

ब्रह्मचारी तप और श्रम का जीवन व्यतीत करता हुआ समस्त राष्ट्र के उत्थान में सहायक होता है।

आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते । (अथर्व० ११।५।१७)

आचार्य ब्रह्मचर्य द्वारा ही ब्रह्मचारियो को अपने शिक्षण और निरीक्षण मे लेने की योग्यता और क्षमता को सपादन करता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति । (अथर्व० ११।५।१७)

ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा अपने राष्ट्र की रक्षा मे समर्थ होता है।

इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्य स्वराभरत् । (अथर्व० ११।५।१९)

---

१ ब्रह्मचर्य के सवन्ध में इसी परिशिष्ट का (ङ) भाग देखिए।

सयत जीवन से रहने वाला मनुष्य ब्रह्मचर्य द्वारा ही अपनी इन्द्रियो को पुष्ट और कल्याणोन्मुख बनाने में समर्थ होता है।

ऋत और सत्य की भावना[1]

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्
ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द
कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥
ऋतस्य दृळ्हा धरुणानि सन्ति
पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष
ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः॥
(ऋग्० ४।२३।८९)

ऋत अनेक प्रकार की सुख-शान्ति का स्रोत है;
ऋत की भावना पापो को विनष्ट करती है।
मनुष्य को उद्बोधन और प्रकाश देने वाली
ऋत की कीर्ति बहिरे कानो में भी पहुँच चुकी है।
ऋत की जडें सुदृढ है,
विश्व के नाना रमणीय पदार्थों में ऋत मूर्त्तिमान् हो रहा है।
ऋत के आधार पर ही अन्नादि खाद्य पदार्थों की कामना की जाती है,
ऋत के कारण ही सूर्य-रश्मियाँ जल में प्रविष्ट हो उसको ऊपर ले जाती है।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धा सत्ये प्रजापतिः॥
(यजु० १९।७७)

सृष्टिकर्ता परमेश्वर ने सत्य और असत्य के रूपो को देख कर पृथक्-पृथक्

---

१ बाह्य जगत् की सारी प्रक्रिया विभिन्न प्राकृतिक नियमो के अधीन चल रही है। परन्तु उन सारे नियमो में परस्पर-विरोध न हो कर एकरूपता या ऐक्य विद्यमान है। इसी को ऋत कहते है। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन के प्रेरक जो भी नैतिक आदर्श है, उन सब का आधार सत्य है। अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति सच्चा रहना, यही सत्य है, यही वास्तविक धर्म है।

कर दिया है। उनमे से श्रद्धा की पात्रता सत्य मे ही है, और अश्रद्धा की अनृत या असत्य मे।

वाचः सत्यमशीय (यजु० ३९।४)

मैं अपनी वाणी मे सत्य को प्राप्त करूँ।

देवा देवैरवन्तु मा।...सत्येन सत्यम्.....(यजु० २०।११-१२)

समस्त दैवी शक्तियाँ मेरी रक्षा करे और मुझे सत्य में तत्पर रहने की शक्ति प्रदान करें।

सत्यं च मे श्रद्धा च मे...यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजु० १८।५)

यज्ञ द्वारा मै सत्य और श्रद्धा को प्राप्त करूँ!

सा मा सत्योक्तिः परि पातु विश्वतः। (ऋग्० १०।३७।२)

सत्य-भाषण द्वारा मै सब बुराइयो से अपने को बचा सकूं!

पवित्रता की भावना

...देव सवितः...मां पुनीहि विश्वतः। (यजु० १९।४३)

हे सवितृ-देव! मुझे सब प्रकार से पवित्र कीजिए।

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
अथो अरिष्टतातये॥ (अथर्व० ६।१९।२)

हे पवित्रता-सपादक देव! मुझे बुद्धि, शक्ति, जीवन और निरापद् आत्म-रक्षा के लिए पवित्र कीजिए।

आत्म-विश्वास की भावना

अहमिन्द्रो न पराजिग्ये (ऋग्० १०।४८।५))

मै इन्द्र हूँ, मेरा पराजय नही हो सकता।

यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः।
(अथर्व० ६।५८।३)

सृष्टि के समस्त पदार्थों में मै सबसे अधिक यश वाला हूँ। अर्थात् मनुष्य का स्थान सृष्टि के समस्त पदार्थों से ऊँचा है।

पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम् (शतपथब्रा० २।५।१।१)

सब प्राणियो में मनुष्य सृष्टिकर्ता परमेश्वर के अत्यन्त समीप है।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् ।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशा विषासहिः ॥ (अथर्व० १२।१।५४)

मैं स्वभावत विजय-शील हूँ। पृथ्वी पर मेरा उत्कृष्ट पद है। मैं विरोधी शक्तियो को परास्त कर, समस्त विघ्न-बाधाओ को दबा कर प्रत्येक दिशा में सफलता को पाने वाला हूँ।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ (यजु० ४०।३)

आत्मत्व या आत्म-चेतना की विस्मृति-रूप आत्महत्या (अर्थात्, जीवन में आत्म-विश्वास की भावना का अभाव) न केवल व्यक्तियो के लिए, किन्तु जातियो और राष्ट्रो के लिए भी, किसी भी प्रकार की प्रेरणा से विहीन अज्ञानान्धकार में गिरा कर सर्वनाश का हेतु होती है।

ओजस्वी जीवन

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि,
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि,
बलमसि बलं मयि धेहि,
ओजोऽस्योजो मयि धेहि,
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि,
सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ (यजु० १९।९)

मेरे आदर्श देव!
आप तेजः-स्वरूप हैं, मुझमें तेज को धारण कीजिए!
आप वीर्य-रूप है, मुझे वीर्यवान् कीजिए!
आप बल-रूप हैं, मुझे बलवान् बनाइए!
आप ओजः-स्वरूप हैं, मुझे ओजस्वी बनाइए!
आप मन्यु[1]-रूप हैं, मुझमें मन्यु को धारण कीजिए!
आप सह[2]-स्वरूप है, मुझे सहस्वान् कीजिए!

---

१. मन्यु=अनौचित्य को देख कर होने वाला क्रोध। २ सहस्=विरोधी पर विजय पाने में समर्थ शक्ति और बल।

वीरता तथा निर्भयता की भावना

मा त्वा परिपन्थिनो विदन् (यजु० ४।३४)

इस बात का ध्यान रखो कि तुम्हारी वास्तविक उन्नति के बाधक शत्रु तुम पर विजय प्राप्त न कर सके।

इन्द्रेण मन्युना वयमभि ष्याम पृतन्यतः।
घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति ।। (अथर्व० ७।९३)

सत्कार्यों में बाधक जो शत्रु हम पर आघात करें हमको चाहिए कि वीरोचित क्रोध और पराक्रम के साथ हम उनका दमन करें और उनको विनष्ट कर दें।

मम पुत्राः शत्रुहणः (ऋग्० १०।१५९।३)

मेरे पुत्र शत्रु का हनन करने वाले हो!

सुवीरासो वयं...जयेम (ऋग्०९।६१।२३)

हमारे पुत्र सुवीर हो और उनके साथ हम शत्रुओ पर विजय प्राप्त करें!

मा भेः, मा संविक्थाः (यजु० १।२३)

तू न तो भयभीत हो, न उद्विग्नता को प्राप्त हो।

"यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः ।।
यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा विभेः ।।" (अथर्व० २।१५।१, ३)

जैसे द्युलोक और पृथिवी अपने-अपने कर्तव्य के पालन में न तो डरते हैं, न कोई उनको हानि पहुँचा सकता है, इसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू भी भय को न प्राप्त हो।

जैसे सूर्य और चन्द्रमा न तो भय को प्राप्त होते है, न कोई उनको हानि पहुँचा सकता है, इसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू भी भय को न प्राप्त हो।

अहमस्मि सपत्नहेन्द्र इवारिष्टो अक्षत ।
अधः सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठिता. ।।
(ऋग्० १०।१६६।२)

मै शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने वाला हूँ। इन्द्र के समान मुझे कोई

न तो मार सकता है, न पीडित कर सकता है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो मेरे समस्त शत्रु यहाँ मेरे पैरो तले पडे हुए हैं।

मह्यं नमन्ता प्रदिशश्चतस्रः (ऋग्० १०।१२८।१)

मेरे लिए सब दिशाएँ झुक जाएँ। अर्थात्, प्रत्येक दिशा में मुझे सफलता प्राप्त हो।

शारीरिक स्वास्थ्य तथा दीर्घायुष्य

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि।
आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि।...
.. यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आ पृण ।। (यजु० ३।१७)

अग्ने! तुम शरीर की रक्षा करने वाले हो, मेरे शरीर को पुष्ट कीजिए। तुम आयु को देने वाले हो, मुझे पूर्ण आयु दीजिए। मेरे शारीरिक स्वास्थ्य मे जो भी न्यूनता हो उसे पूरा कर दीजिए।

वाङ्म म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्।
ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा. .(अथर्व १९।६०।१-२)

मेरे समस्त अग पूर्ण स्वस्थता से अपना-अपना कार्य करें, यही मै चाहता हूँ। मेरी वाणी, प्राण, आँख, और कान अपना-अपना काम कर सकें। मेरे वाल काले रहे। दातो में कोई रोग न हो। बाहुओ मे बहुत बल हो। मेरी ऊरुओ मे ओज, जाँघो में वेग और पैरो में दृढता हो।

आयुर् यज्ञेन कल्पतां .प्राणो .अपानो . व्यानो ..चक्षुर् .
श्रोत्रं. वाग् .मनो. आत्मा यज्ञेन कल्पतां स्वाहा ।।
(यजु० ३२।३३)

प्राकृत जगत् मे काम करने वाली अग्नि, वायु आदि दैवी शक्तियो के साथ सामञ्जस्य का जीवन (=यज्ञ) व्यतीत करते हुए मैं पूर्णायुष्य को प्राप्त कर सकूँ, मेरी प्राण, अपान आदि शक्तियाँ तथा चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य ठीक तरह कर सकें, और इस प्रकार मेरे व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो—यही मेरी आन्तरिक कामना है, यही मेरी हार्दिक अभिलाषा और प्रार्थना है!

अश्मा भवतु नस्तनूः (यजु० २९।४९)

हमारी प्रार्थना है कि हमारा शरीर पत्थर के समान सुदृढ हो।

भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि। (ऋग्० १०।३७।६)

हम कल्याण-मार्ग पर चलते हुए वृद्धावस्था को प्राप्त हो!

अहं सर्वनायुर्जीव्यासम्। (अथर्व० १९।७०।१)

मैं अपने जीवन में पूर्ण आयु को प्राप्त करूँ!

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।
पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्।
शृणुयाम शरदः शतम्। प्र ब्रवाम शरदः शतम्।
अदीनाः स्याम शरदः शतम्। भूयश्च शरदः शतात्॥
(यजु० ३६।२४)

वह देखो! इन्द्रियो के स्वास्थ्य के निर्वाहक, सबके चक्षु स्थानीय प्रकाशमय सूर्य भगवान् सामने उदित हो रहे हैं। उनसे स्वास्थ्य को प्राप्त करते हुए, हम सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक जीवे, सौ वर्ष तक सुन सकें, सौ वर्ष तक बोल सकें, सौ वर्ष तक किसी के आश्रित न हो। और सौ वर्ष के अनन्तर भी।

स्वर्गीय पारिवारिक जीवन

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥
(अथर्व० ३।३०।१–३)

हे गृहस्थो! तुम्हारे पारिवारिक जीवन मे परस्पर ऐक्य, सौहार्द और सद्भावना होनी चाहिए। द्वेष की गन्ध भी न हो। तुम एक-दूसरे को उसी तरह प्रेम करो, जैसे गौ अपने तुरन्त जन्मे बछडे को प्यार करती है।

पुत्र अपने माता-पिता का आज्ञानुवर्ती और उनके साथ एक-मन होकर रहे! पत्नी अपने पति के प्रति मधुर और स्नेह-युक्त वाणी का ही व्यवहार करे!

भाई-भाई के साथ और बहिन बहिन के साथ द्वेष न करे!

तुम्हें चाहिए कि एक-मन हो कर समान आदर्शों का अनुसरण करते हुए परस्पर स्नेह और प्रेम को बढाने वाली वाणी का ही व्यवहार करो!

आदर्श सामाजिक जीवन

स गच्छध्व स वदध्व स वो मनांसि जानताम् ।
देवा भाग यथा पूर्वे सजानाना उपासते ।। (ऋग्० १०।१६१।२)

हे मनुष्यो ! जैसे सनातन से विद्यमान, दिव्य शक्तियो से सपन्न सूर्य, चन्द्र. वायु, अग्नि आदि देव परस्पर अविरोध भाव से, मानो प्रेम से, अपने-अपने कार्य को करते ह, ऐसे ही तुम भी समष्टि-भावना से प्रेरित हो कर एक साथ कार्यो मे प्रवृत्त होओ, ऐकमत्य से रहो और परस्पर सद्भाव से बरतो ।

समानो मन्त्र॰ समिति समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम् । (ऋग्० १०।१६१।३)

तुम्हारी मन्त्रणा मे, समितियो मे, विचारो में और चिन्तन में समानता हो, सद्भावना हो, वैषम्य और दुर्भावना न हो ।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।। (ऋग्० १०।१६१।४)

तुम्हारे अभिप्रायो में, तुम्हारे हृदयो (अथवा भावनाओ) में और तुम्हारे मनो मे एकता की भावना रहनी चाहिए, जिससे तुम्हारी साङ्घिक और सामुदायिक शक्ति का विकास हो सके ।

राजनीतिक आदर्श

विशि राजा प्रतिष्ठितः (यजु० २०।६)

राजा की स्थिति प्रजा पर ही निर्भर होती है ।

त्वां विशो वृणतां राज्याय (अथर्व० ३।४।२)

हे राजन् ! प्रजाओ द्वारा तुम राज्य के लिए चुने जाओ ।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु (अथर्व० ४।८।४)

हे राजन् ! तुम्हारे लिए यह आवश्यक है कि समस्त प्रजाएँ तुम को चाहती हो ।

राष्ट्राणि वै विश. (ऐत० ब्रा० ८।२६)

प्रजाएँ ही राष्ट्र को बनाती हैं ।

मानवीय कल्याण की भावना

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।। (यजु० ३६।१८)

मैं, मनुष्य क्या, सब प्राणियो को मित्र की दृष्टि से देखूं! हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें!

पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः (ऋग्० ६।७५।१४)

एक दूसरे की सर्वथा रक्षा और सहायता करना मनुष्यो का मुख्य कर्तव्य है।

यॉश्च पश्यामि यॉश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि । (अथर्व० १७।१।७)

भगवन् ! ऐसी कृपा कीजिए जिससे मैं मनुष्यमात्र के प्रति, चाहे मैं उनको जानता हूँ अथवा नही, सद्भावना रख सकूं।

तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः । (अथर्व० ३।३०।४)

आओ हम सब मिल कर ऐसी प्रार्थना करें, जिससे मनुष्यो मे परस्पर सुमति और सद्भावना का विस्तार हो!

विश्व-शान्ति की भावना

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी
शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः ।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्ति-
र्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्ति-
रेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ।। (यजु० ३६।१७)

द्युलोक, अन्तरिक्ष-लोक और पृथिवी-लोक सुख-शान्ति-दायक हो, जल, ओषधियाँ और वनस्पतियाँ शाति देने वाली हो, समस्त देवता, ब्रह्म और सब कुछ शान्तिप्रद हो! जो शान्ति विश्व मे सर्वत्र फैली हुई है, वह मुझे प्राप्त हो। मै बराबर शान्ति का अनुभव करूँ!

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु
शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु । (ऋग्० ७।३५।८)

अत्यन्त विस्तृत तेज से युक्त सूर्य का उदय हम सब के लिए शान्तिदायक हो! चारो दिशाएँ हमारे लिए शान्ति देनेवाली हो!

शं नो वातः पवताᳬ शं नस्तपतु सूर्यः ।
शं नः कनिक्रदद् देवः पर्जन्यो अभिवर्षतु ॥ (यजु० ३६।१०)

वायु हमारे लिए सुखरूप होकर चले! सूर्य हमारे लिए सुखमय होकर तपे! अत्यन्त गरजने वाले पर्जन्य-देव भी हमारे लिए सुखरूप होकर अच्छी तरह बरसें!

प्रथम परिशिष्ट

(ख)

वैदिक-सूक्ति-मंजरी

ऋग्वेद-संहिता

पूर्वीरिन्द्रस्य रातयो न विदस्यन्त्यूतयः। (१।११।३)

परमात्मा की देन की इयत्ता नही हो सकती। उनकी रक्षा में कभी क्षीणता नही आती।

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम् (१।२३।१९)

जलो में अमृत का वास है। वे औषध-स्वरूप हैं।

आपश्च विश्वभेषजीः (१।२३।२०)

जलो में सब औषध रहते हैं।

सविता...अपामीवां बाधते (१।३५।९)

सूर्य बीमारी को भगाता है।

विश्वं चिदायुर्जीवसे (१।३७।१५)

आयु-भर मनुष्य को जीवन की स्फूर्ति का अनुभव करना चाहिए।

न दुरुक्ताय स्पृहयेत् (१।४१।९)

अपशब्द बोलने की प्रवृत्ति से बचना चाहिए।

न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते (१।५३।१)

धन देने वालो के प्रति दु स्तुति करना ठीक नही।

विश्वस्मा उग्र कर्मणे पुरोहितः (१।५५।३)

वडा मनुष्य ही सब कार्यों मे नेतृत्व करता है।

नभो न रूप जरिमा मिनाति (१।७१।१०)

मेघ के समान वृद्धावस्था रूप को बिगाड देती है।

सत्य तातान सूर्यः (१।१०५।१२)

सूर्य सत्य को ही विस्तारित करता है। अर्थात्, सत्य और प्रकाश मे समानता है।

पश्यदक्षण्वान् न विचेतदन्धः (१।१६४।१६)

जिसके आँख है वही देखता है, अन्धा नही देखता।

बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश (१।१६४।३२)

अधिक सन्तान वाला घोर कष्ट का अनुभव करता है।

माता पृथिवी महीयम् (१।१६४।३३)

यह विस्तृत पृथिवी हमारी माता है।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति (१।१६४।४६)

एक ही मूल तत्त्व को विद्वान् लोग अनेक प्रकार से कहते है।

अन्यस्य चित्तमभि संचरेण्यम् (१।१७०।१)

दूसरे के चित्त का कोई ठिकाना नही। वह चञ्चल होता है।

मिनाति श्रियं जरिमा तनूनाम् (१।१७६।१)

बुढापा शरीर की शोभा को विगाड देता है।

न मृषा श्रान्तं यदवन्ति देवाः (१।१७६।३)

यह ठीक ही है कि देवता उसी की सहायता करते है जो श्रम करता है।

पुलुकामो हि मर्त्यः (१।१७६।५)

मनुष्य स्वभाव से ही वहुत कामनाओ वाला होता है।

नकिरस्य तानि व्रता देवस्य सवितुर्मिनन्ति । (२।३८।७)

सवितृ-देव के नियमो को कोई नही तोड सकता ।

पुरुद्रुहो हि क्षितयो जनानाम् (३।१८।१)

मनुष्यो के विभिन्न वर्गों मे अनेक प्रकार के विरोध या सघर्ष रहते ही है।

जायेदस्तम् (३।५३।४)

स्त्री का ही नाम घर है।

नावाजिनं वाजिना हासयन्ति
न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति । (३।५३।२३)

घोडे के साथ घोडे की ही प्रतियोगिता करायी जाती है, घोडे से भिन्न की नही । गदहे को घोड़े के आगे स्थान नही दिया जाता ।

ऋतस्य धीति ृजिनानि हन्ति (४।२३।८)

प्रकृति अथवा सृष्टि के नियमो के परिज्ञान से पाप नष्ट हो जाते है।

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः (४।३३।११)

जो श्रम नहीं करता उसके साथ देवगण मित्रता नही करते ।

यादृश्मिन् धायि तमपस्यया विदत् (५।४४।८)

मनुष्य जिस-किसी लक्ष्य में मन लगाता है उसे श्रम से प्राप्त कर लेता है।

य उ स्वयं वहते सो अरं करत् (५।४४।८)

अपने मन से ही काम को करने वाला उसे ठीक तरह करता है।

अनुब्रुवाणो अध्येति, न स्वपन् (५।४४।१३)

अभ्यास से ही मनुष्य सीखता है, न कि सोते हुए ।

यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति ।
(४।४४।१४)

जो जागता है उमी को ऋचाएँ चाहती है। मामवेद के मन्त्र भी उसी के पास आते है।

विद्वान् पथः पुरएता ऋजु नेषति (५।४६।१)

समझदार नेता ही ठीक रास्ते से ले जाता है।

पुमान् पुमासं परिपातु विश्वतः (६।७५।१४)

मनुष्य को मनुष्य की सव प्रकार से सहायता करनी चाहिए।

नहि स्वमायुश्चिकिते जनेषु (७।२३।२)

मनुष्यो में कोई अपनी आय अथवा जीवन-काल को नहीं जानता ।

तस्य व्रतानि न मिनन्ति धीराः (७।३१।११)

समझदार लोग परमेश्वर के नियमो का उल्लघन नही करते।

न दुष्टुती मर्त्यो विन्दते वसु (७।३२।२१)

किसी की अनुचित अथवा मिथ्या स्तुति से मनुष्य धन नही पाता।

न स्रेधन्त रयिर्नशत् (७।३२।२१)

दूसरो से झगडा करने वाला मनुष्य धन को नही पाता।

चिकित्वासो अचेतस नयन्ति (७।६०।७)

ज्ञानवान् ही अज्ञानी को मार्ग दिखाते हैं।

स्त्रिया अशास्यं मनः (८।३३।१७)

स्त्री का मन अशास्य होता है।

मा नो निद्रा ईषत मोत जल्पिः। (८।४८।१४)

प्रमाद अथवा आलस्य के वश होकर तथा जनप्रवाद के कारण हमको अपने कर्तव्य-मार्ग से च्युत न होना चाहिए।

अस्ति रत्नमनागस (८।६७।७)

रत्न निष्पाप मनुष्य के लिए ही होता है। अथवा, निष्पाप मनुष्य को रत्न-प्राप्ति होती है।

ऋतस्य शृङ्गमुर्विया वि पप्रथे (८।८६।५)

सृष्टि के नियमो की सत्ता सर्वत्र फैली हुई है।

मज्जन्त्यविचेतसः (९।६४।२१)

अज्ञानी ही डूबा करते है।

नानानं वा उ नो धियो, वि व्रतानि जनानाम्।
(९।११२।१)

नाना प्रकार के विचार हमारे मन में आते रहते है। और मनुष्य नाना प्रकार के काम करते है।

तक्षा रिष्टं रुत भिषग् ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छति।
(९।११२।१)

मिस्तरी टूटी हुई वस्तु के लिए वैद्य रोग के लिए और ब्राह्मण पूजार्थी के लिए इच्छुक रहता है।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व। (१०।३४।१३)

जुआ मत खेलो। खेती ही करो।

सत्येनोत्तभिता भूमिः (१०।८५।१)

पृथ्वी सत्य से ठहरी हुई है।

न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति (१०।९५।१५)

स्त्रियो के साथ स्थायी मित्रता नही होती।

न स सखा यो न ददाति सख्ये (१०।११७।४)

वह मित्र नही है जो मित्र की सहायता नही करता।

केवलाघो भवति केवलादी (१०।११७।६)

जो इकेला खाता है वह केवल पापमय होता है।

शुक्लयजुर्वेद-सहिता

उर्वन्तरिक्षमन्वेमि (१।७)

मै अपनी उन्नति के लिए विस्तृत क्षेत्र को चाहता हूँ।

धूर्व धूर्वन्त, धूर्व तं योऽस्मान् धूर्वति। (१।८)

मारते हुए को मारो, जो हमको निष्कारण मार डालना चाहता है उसको नष्ट कर दो।

मा भे॰, मा संविक्था। (१।२३)

न तो डरो, न उद्विग्नता को प्राप्त होओ।

ऋतस्य पथा प्रेत (७।४५)

प्राकृत नियमो के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करो।

अनाधृष्टा॰ सीदत सहौजस (१०।४)

सघटित होकर रहने से तुम्हें कोई धमका न सकेगा।

यो अस्मभ्यमरातीयाद् यश्च नो द्वेषते जनः ।
निन्दाद् यो अस्मान् धिप्साच्च सर्वं त मस्मसा कुरु ।। (११।८०)

जो कोई हमारे साथ अकारण शत्रुता करता है, जो कोई हमारे लोगो से द्वेष करता है, जो कोई हमारी निन्दा करता है और हमारे प्राण लेना चाहता है, उसको मिट्टी में मिला दो ।

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः (२३।४८)

सूर्य के समान ही वेद अथवा ज्ञान-विज्ञान का भी प्रकाश है ।

आशिक्षायै प्रश्निनम् । उपशिक्षाया अभिप्रश्निनम् । (३०।१०)

यह समझ लो कि जो प्रश्न करता है वही किसी विषय को जान सकता है, समीक्षक ही किसी पदार्थ को ठीक-ठीक समझ सकता है ।

भूत्यै जागरणम् । अभूत्यै स्वपनम् । (३०।१७)

स्मरण रखो कि जागने से उन्नति होती है और सोने से अवनति ।

प्रियाय प्रियवादिनम् (३०।१३)

अपने प्रिय के लिए प्रिय-मधुर बोलने वाले को ही नियुक्त करो ।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम् (४०।१७)

सत्य का मुख सुवर्ण-जैसी चमकीली वस्तुओ से छिपा हुआ रहता है ।

सामवेद-संहिता

देवस्य पश्य काव्यम् (पू० ४।४।३)

तुम प्रकृति-देवी के सौन्दर्य को जो मूर्त-रूप मे भगवान् का काव्य है, देखो और उससे प्रसन्नता को प्राप्त करो ।

सदा गाव. शुचयो विश्वधायस. (पू० ५।६।६)

गौएँ सदा पवित्र है और सबका कल्याण करनेवाली है ।

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च (पू० ६।१४।३)

सूर्य जड तथा चेतन जगत् की आत्मा है ।

जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृवि (उ० ३।१।६)

जागरूक व्यक्ति ही जनता की रक्षा कर सकता है ।

अथर्ववेद-संहिता

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।
आपो विश्वस्य भेषजीः ।। (३।७।५)

जल निश्चय ही औषध-रूप है। जल रोगो को भगानेवाले है। जल सब को स्वास्थ्य देनेवाले है।

भद्रादधि श्रेयः प्रेहि (७।८।१)

तुम भद्र से भद्रतर जीवन को प्राप्त करो।

सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते (८।४।१२)

सत्य-भाषण और असत्य-भाषण में स्पर्धा रहती है। वे एक साथ नही रह सकते।

सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति। (९।७।८)

जिसके अन्न को दूसरे खाते है, उसके पाप नष्ट हो जाते है।

सर्वो वा एषोऽजग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति। (९।७।९)

जिसके अन्न को दूसरे नही खाते, उसके पाप बने रहते है।

कीर्तिं च वा एष यशश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति।
(९।८।५)

जो घर में आये हुए अतिथि से पहले भोजन करता है वह मानो अपने घर की कीर्त्ति और यश को समाप्त कर देता है।

अशितवत्यतिथावश्नीयात् (९।८।८)

घर में आये हुए अतिथि के भोजन कर लेने पर ही भोजन करना चाहिए।

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्या (१२।१।१२)

भूमि मेरी माता है और मै उसका पुत्र हूँ।

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते
देवाना स्पश इह ये चरन्ति। (१८।१।९)

दैवी शक्तियो के गुप्तचर जो यहाँ घूमते-फिरते है न तो कभी अपने कार्य से विरत होते है, न उनकी आँखें झपकती है।

प्रथम परिशिष्ट

(ग)

ब्राह्मणीय-सूक्ति-मञ्जरी

ऐतरेय-ब्राह्मण

कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे (ऐत० ब्रा० २।२)

हे अग्निदेव! हमे उद्योग-शील जीवन के लिए समुन्नत कीजिए।

परिमितं वै भूतम्। अपरिमित भव्यम्। (ऐत०ब्रा० ४।६)

भूत (=जो हो चुका है) परिमित और भविष्य अपरिमित होता है।

भद्रादभि श्रेय. प्रेहि (ऐत० ब्रा० १।१३)

तुम भद्र से भद्रतर जीवन को प्राप्त करो।

इन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्य (रोहितम्) उवाच—

नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित! शुश्रुम।
पापो नृषद् वरो जन इन्द्र इच्चरत. सखा ॥१॥

चरैवेति।....

पुष्पिण्यो चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मान श्रमेण प्रपथे हता· ॥२॥

चरैवेति ।....

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः ।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः ।।३।।

चरैवेति ।....

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन् ।।४।।

चरैवेति ।....

चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम् ।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् ।।५।।

चरैवेति ।....

(ऐत० ब्रा० ७।१५)

श्रम-संगीत

इन्द्र ने पुरुष-रूप में आकर रोहित से कहा—

हे रोहित! सुनते है कि जो श्रम से श्रान्त नही है, उसको श्री प्राप्त नही होती। भला मनुष्य भी जो बैठा रहता है निकम्मा समझा जाता है। इन्द्र उसी की सहायता करता है जो श्रम-शील है। इसलिए बराबर श्रम करते रहो ।।१।।

श्रम-शील पुरुष की जाँघें स्फूर्ति के पुष्पो से पुष्पित होती हैं और उसके पुष्ट शरीर में स्वास्थ्य का फल लगता है। उसके सारे पाप श्रम से मानो मारे हुए निश्चेष्ट पडे रहते हैं। इसलिए बराबर श्रम करते रहो ।।२।।

बैठे हुए का सौभाग्य बैठा रहता है, खडे हुए का खडा हो जाता है। पडे रहनेवाले का सौभाग्य सोता रहता है और चलनेवाले का सौभाग्य चलने लगता है। इसलिए बराबर श्रम करते रहो ।।३।।

जो सो रहा है वह कलि है, निद्रा से उठ बैठनेवाला द्वापर है। उठकर खडा हो जानेवाला त्रेता है, पर श्रम करनेवाला कृतयुग बन जाता है। इसलिए बराबर श्रम करते रहो ।।४।।

श्रम-शील मनुष्य ही मधु अर्थात् जीवन के माधुर्य को पाता है, वही स्वादिष्ठ फल का आस्वाद लेता है। सूर्य के श्रम को देखो, जो सदा चलता हुआ कभी आलस्य नही करता। इसलिए बराबर श्रम करते रहो ।।५।।

वहति ह वै वह्निर्धुरो यासु युज्यते। (ऐत० ब्रा० ६।१८)

कर्मशील व्यक्ति जिस काम में भी लगा दिया जाता है उसको पूरा करके छोडता है।

सं वै गुरुर्भार' शृणाति (ऐत० ब्रा० ४।१३)

अपनी शक्ति से अधिक भार उठाने से मनुष्य को हानि ही होती है।

यः सकृत्पातकं कुर्यात् कुर्यादेनस्ततोऽपरम्।
(ऐत० ब्रा० ७।१७)

जिसने एक बार पाप किया, वह दूसरे पाप मे प्रवृत्त होता है।

श्रद्धा पत्नी सत्यं यजमानः। श्रद्धा सत्यं तदित्युत्तमं मिथुनम्।
श्रद्धया सत्येन मिथुनेन स्वर्गांल्लोकान् जयतीति।
(ऐत० ब्रा० ७।१०)

जीवन-यज्ञ मे श्रद्धा मानो पत्नी है और सत्य यजमान है। श्रद्धा (भावना-मूलक) और सत्य (बुद्धिमूलक) की उत्तम जोडी है। श्रद्धा और सत्य की जोडी मे मनुष्य दिव्य लोको को (=वास्तविक कल्याण को) प्राप्त करता है।[1]

अशनाया वै पाप्मामतिः (ऐत० ब्रा० २।२)

भूख (=पेट का न भरना) ही सब पापो और बुद्धि-भ्रंश की जड है।

यस्यैवेह भूयिष्ठमन्नं भवति स एव भूयिष्ठं लोके विराजति।
(ऐत० ब्रा० १।५)

जिसके पास अधिक अन्न होता है, ससार में वही अत्यधिक महत्त्व को पाता है।

यो वै भवति य' श्रेष्ठतामश्नुते तस्य वाचं प्रोदितामनु प्रवदन्ति।
(ऐत० ब्रा० २।१५)

जो सत्ता और श्रेष्ठता को पा लेना है उसकी कही हुई वात का सव अनुसरण करते है।

शिरो वा एतद्यज्ञस्य यदातिथ्यम्। (ऐत० ब्रा० १।२५)

---

१ 'रश्मि-माला' में बुद्धि और भावना के सबध पर २२वाँ प्रकरण देखिए।

अतिथि-सत्कार को यज्ञ का प्रमुख अग समझना चाहिए।

राष्ट्राणि वै विशः (ऐत० ब्रा० ८।२६)

जनता ही राष्ट्र को बनाती है।

ब्रह्म च क्षत्रं च संश्रिते। (ऐत० ब्रा० ३।११)

ब्रह्म (=ज्ञानशक्ति) और क्षत्र (=सैन्यशक्ति) परस्पराश्रित होते है।

ब्रह्मणि खलु वै क्षत्र प्रतिष्ठितम्। क्षत्रे ब्रह्म।
(ऐत० ब्रा० ८।२)

ब्रह्म में क्षत्र की स्थिति होती है और क्षत्र मे ब्रह्म की।

यजमानो वै यज्ञः (ऐत० ब्रा० १।२८)

यजमान का स्वरूप ही यज्ञ में प्रतिफलित होता है ?

आ त्वेव श्रद्धायै होतव्यम् (ऐत० ब्रा० ५।२७)

हवन-यज्ञ की वास्तविकता श्रद्धा मे ही होती है।

मनसा वै यज्ञस्तायते मनसा क्रियते। (ऐत० ब्रा० ३।११)

ज्ञान-पुरस्सर ही यज्ञ किया जाता है।

एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृगभिवदति।
(ऐत० ब्रा० १।४)

याज्ञिक कर्म की सपन्नता या पूर्णरूपता इसी मे है कि उसमें जो मन्त्र प्रयुक्त होते है वे वास्तव मे उस काम को वतलाते भी है जो यज्ञ मे किया जाता है।

यद् यज्ञेऽभिरूप तत्समृद्धम्। (ऐत० ब्रा० १।१६)

मन्त्र और कर्म की अनुरूपता में ही यज्ञ की सपन्नता निहित होती है।

यत्र क्व च यजमानवशो भवति, कल्पत एव यज्ञोऽपि।
तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैव विद्वान् यजमानो वशी यजते।
(ऐत० ब्रा० ३।१३)

यज्ञ मे तभी तक वास्तविकता रहती है जवतक वह विद्वान् यजमान की अधीनता में रहता है। उमी दशा मे वह जनता का हित सपादन करता है।

यथा ह वा इद निषादा वा सेळगा वा पापकृतो वा वित्तवन्तं पुरुषमरण्ये गृहीत्वा कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति, एवमेव त ऋत्विजो यजमानं कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति यमनेवंविदो याजयन्ति। (ऐत० ब्रा० ८।११)

जैसे दुष्ट चोर और डाकू लोग जगल में किसी धनी यात्री को पकडकर उसे मार-पीट कर गढे में फेककर उसका धन लेकर चम्पत हो जाते हैं, इसी प्रकार मूर्ख ऋत्विज् लोग जिस यजमान का यज्ञ कराते हैं उसको मानो मार-पीट कर गढे में फेंककर उसके धन को उडाकर चले जाते हैं।

सर्वस्य वै गाव प्रेमाण सर्वस्य चारुता गताः।
(ऐ० ब्रा० ४।१७)

गौओ को देखकर सबके हृदय में प्रेम उमड आता है और वे सबको सुन्दर प्रतीत होती हैं।

शतपथ-ब्राह्मण

यशो ह भवति य एवं विद्वान् सत्यं वदति।
(श० ब्रा० १।१।१।५)

जो मनुष्य इस प्रकार सत्य के महत्त्व को समझता हुआ सत्य-भाषण करता है, उसको मूर्त्तिमान् यश ही समझना चाहिए।

मध्यमभयम् (श० ब्रा० १।१।२।२३)

मध्यम मार्ग के अवलम्बन मे कोई भय नही होता।

एते वा उत्पवितारो यत्सूर्यस्य रश्मय।
(श० ब्रा० १।१।३।६)

ये सूर्य की रश्मियाँ निश्चित रूप से गन्दगी को नष्ट करके पवित्र करनेवाली है।

अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता (श० ब्रा० १।२।१।६)

अग्नि हानिकारक जन्तुओ को नष्ट कर देता है।

सग्रामो वै क्रूरम्। संग्रामे हि क्रूरं क्रियते।
(श० ब्रा० १।२।५।१९)

सग्राम को क्रूरता का रूप समझना चाहिए, क्योकि सग्राम में क्रूर कर्म किया जाता है।

यां वै का च यज्ञ ऋत्विज आशिषमाशासते यजमानस्यैव सा।
(श० ब्रा० १।३।१।२६)

यज्ञ में ऋत्विज् जो कुछ कामना करते ह वास्तव मे वह यजमान के लिए ही होती है।

तद्धि समृद्धं यत्रात्ता कनीयान्, आद्यो भूयान्।
(श० ब्रा० १।३।२।१२)

खानेवाले कम हो और खाद्य पदार्थ अधिक हो, यही समृद्धि का रूप है।

वाचो वा इदं सर्वं प्रभवति (श० ब्रा० १।३।२।१६)

वाणी से ही यह सब-कुछ होता है।

सर्वं वा इदमेति च प्रेति च। (श० ब्रा० १।४।१।६)

क्रिया और प्रतिक्रिया इस जगत् मे स्वभाव से सर्वत्र देखी जाती है। अथवा, आना और जाना सबके साथ लगा है।

वाग्वै मनसो ह्रसीयसी। अपरिमिततरमिव मन॰। परिमिततरेव हि वाक्।
(श० ब्रा० १।४।४।७)

मन से वाणी कही छोटी है। मन अपरिमिततर और वाणी परिमिततर प्रतीत होती है।

एते वै ब्राह्मणा यज्ञस्य प्रावितारो येऽनूचाना॰।
एते ह्येतं तन्वते। एत एनं जनयन्ति।
(श० ब्रा० १।५।१।१२)

विधिवत् जिन्होने वेदका अध्ययन किया है ऐसे ही ब्राह्मण यज्ञ की रक्षा करते हैं। वे ही यज्ञ का विस्तार करते हैं। वे ही यज्ञ को उत्पन्न करते हैं।

मनसा वा इदं सर्वमाप्तम् (श० ब्रा० १।७।४।२२)

यह सब कुछ मन से प्राप्त है। अर्था् मन की गति के अन्दर है।

मत्स्य एव मत्स्यं गिलति (श० ब्रा० १।८।१।३)

मत्स्य को मत्स्य ही निगल जाता है।

एते वै यज्ञमवन्ति ये ब्राह्मणा॰ शुश्रुवासोऽ-
नूचाना॰। एते ह्येनं तन्वते। एत एन जनयन्ति।
(श० ब्रा० १।८।१।२८)

जिन्होंने विधिवत् वेद को सुना है और उसका अध्ययन किया है, ऐसे ही ब्राह्मण यज्ञ के स्वरूप की रक्षा करते हैं। वे ही यज्ञ को विस्तारित और उत्पन्न करते हैं।

न श्व. श्वमुपासीत । को हि मनुष्यस्य श्वो वेद ।
(श० ब्रा० २।१।३।६)

'कल करूँगा, कल करूँगा' ऐसी बात न करनी चाहिए। मनुष्य के कल को कौन जानता है ?

अद्धा हि तद् यद् भूतम् ।...अनद्धा हि तद् यद् भविष्यद् । (श० ब्रा० २।३।१।२५)

जो हो चुका है वह निश्चित है। जो होनेवाला है वह अनिश्चित है।

अद्धा हि तद् यज्जातम् । अनद्धा हि तद् यज् जनिष्यमाणम् । (श० ब्रा० २।३।१।२६)

जो उत्पन्न हो चुका है वह निश्चित है। जो उत्पन्न होने वाला है वह अनिश्चित है।

अद्धा हि तद् यदद्य । अनद्धा हि तद् यच्छ्व· ।
(श० ब्रा० २।३।१।२८)

जो आज है वह निश्चित है, जो कल होगा वह अनिश्चित है।

यद्वै सत्येन ह्यते तद्देवान् गच्छति । (श० ब्रा० २।३।१।३०)

सत्य-भावना से जो हवन किया जाता है वही देवताओं को पहुँचता है।

पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम् (श० ब्रा० २।५।१।१)

मनुष्य प्रजापति के सबसे अधिक समीप है।

भूमा वै रायस्पोष । श्रीर्वै भूमा । (श० ब्रा ३।१।१।१२।)

समृद्धि, धन की पुष्टि और लक्ष्मी, इनका एक ही अभिप्राय है।

अमेध्यो वै पुरुषो यदनृत वदति । तेन पूतिरन्तरत· ।
(श० ब्रा० ३।१।२।१०)

मनुष्य अपवित्र है, क्योकि झूठ बोलता है। इसीसे उसके अन्दर से दुर्गन्ध निकलती है।

सुवासा एव बुभूषेत् ।...अप्यश्लील सुवासस दिदृक्षन्ते । (श० ब्रा० ३।१।२।१६)

मनुष्य को अच्छे वस्त्रो को ही धारण करना चाहिए। कुरूप मनुष्य को भी, जो अच्छे वस्त्र पहिनता है, सब देखना चाहते है।

अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य (श० ब्रा० ३।१।३।२८)

यज्ञ का जन्म अग्नि से ही होता है।

पुरुषो यज्ञः । पुरुषसंमितो यज्ञः । (श० ब्रा० ३।१।४।२३)

मनुष्य ही यज्ञ है। यज्ञ का स्वरूप मनुष्य पर निर्भर होता है।

मनसा वा इय वाग्धृता । मनो वा इद पुरस्ताद्वाच. । (श० ा० ३।२।४।११)

वाणी को मन पकडे रहता है। वाणी से मन पहले आता है।

मनसा च वै वाचा च यज्ञं तन्वते (श० ब्रा० ३।५।३।११)

मन और वाणी दोनो से यज्ञ किया जाता है।

तदिद क्षत्रमुभयतो विशा परिबृढम्। (श० ब्रा० ३।६।१।२४)

राज्य-शक्ति की दाँएँ-बाँएँ दृढता प्रजा द्वारा ही होती है।

द्वितीयवान् हि वीर्यवान् (श० ब्रा० ३।७।३।८)

जिसका साथी है वही शक्तिमान् होता है।

सत्यं वै चक्षुः । सत्यं हि प्रजापति । (श० ब्रा० ४।२।१।२६)

चक्षु सत्य है। और सत्य ही प्रजापति है।

विशा वा क्षत्रियो वलवान् भवति (श० ब्रा० ४।३।३।६)

प्रजा से ही राजा वलवान् होता है।

अन्नेन हीदं सर्वं गृहीतम् । तस्माद् यावन्तो नोऽशनमश्नन्ति ते न· सर्वे गृहीता भवन्ति । एषैव स्थिति· । (श० ब्रा० ४।६।५।४)

अन्न ने सवको पकड रखा है। अत जो कोई भी हमारे यहाँ भोजन करते है वे सव हमारे हो जाते है। यही वस्तु-स्थिति है।

यो वै ब्राह्मणानामनूचानतम. स एषां वीर्यवत्तमः (श० ब्रा० ४।६।६।५)

ब्राह्मणो में वही सबसे अधिक शक्ति-सपन्न माना जाता है जो सबसे अधिक विद्वान् होता है।

पराभवस्य हैतन्मुख यदतिमानः (श० ब्रा० ५।१।१।१)

अति अभिमान पराभव का मुख होता है।

अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया।. यावज्जाया न विन्दते...असर्वो हि तावद् भवति। (श० ब्रा० ५।२।१।१०)

स्त्री पुरुष का आधा भाग होती है। जब तक पुरुष स्त्री को नही पाता है तबतक वह अपूर्ण ही रहता है।

को वेद मनुष्यस्य (श० ब्रा० ५।५।२।२)

मनुष्य को कौन जानता है?

य· सर्व कृत्स्नो मन्यते गायति वैव गीते वा रमते।
(श० ब्रा० ६।१।१।१५)

मनुष्य जब अपने को पूर्ण समझता है तब गाने लगता है अथवा गाना सुनकर प्रसन्न होता है।

न ह्ययुक्तेन मनसा किञ्चन संप्रति शक्नोति कर्तुम्।
(श० ब्रा० ६।३।१।१४)

अयुक्त मन से कोई किसी काम को ठीक तरह नही कर सकता।

यद्‌ वा आत्मसम्मितमन्नं तदवति। तन्न हिनस्ति। यद् भूयो हिनस्ति तद्। यत्कनीयो न तदवति। (श० ब्रा० ६।६।३।१७)

अपनी आवश्यकता के अनुसार भोजन किया हुआ अन्न पुष्टि करता है। हानि नही करता। अधिक होने पर हानि करता है। कम होने पर पुष्टि नही करता।

अन्नं वै विशः (श० ब्रा० ६।७।३।७)

प्रजा का आधार अन्न होता है।

श्रीर्वै राष्ट्रम् (श० ब्रा० ६।७।३।७)

श्री से ही राष्ट्र चलता है।

उष्ण एव जीविष्यन् । शीतो मरिष्यन् । (श० ब्रा० ८।७।२।११)

जीनेवाला गरम और मरनेवाला ठडा होता है ।

न वै कामानामतिरिक्तमस्ति (श० ब्रा० ८।७।२।१९)

कामनाओ का अन्त नही है ।

ते ह ते घोरतरा अशान्ततरा य उभयतो-नमस्कारा: ।
(श० ब्रा० ६।१।१।२०)

दोनो ओर के नमस्कार अत्यन्त भयानक और अशान्ति के हेतु होते हैं ।

गोपथ-ब्राह्मण

परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति, प्रत्यक्षद्विष. ।
(गो० ब्रा० १।१।१)

देवता परोक्ष से प्रेम करते है, प्रत्यक्ष से द्वेष ।

स मनसा ध्यायेद—यद्वा अहं किञ्चन मनसा
ध्यास्यामि तथैव तद्भविष्यति । तद्ध स्म तथैव भवति ।
(गो० ब्रा० १।१।९)

यदि मनुष्य किसी काम को करना चाहे तो उसे मन से ध्यान करना चाहिए—"मै जिस का मन से ध्यान करूँगा वह अवश्य ही होगा ।" सो निश्चय वैसा होता है ।

रूपसामान्यादर्थसामान्य नेदीय. (गो० ब्रा० १।१।२६)

रूप की समानता से अर्थ की समानता अधिक समीपता को प्रकट करती है ।

व्रतेन वै ब्राह्मण. संशितो भवति (गो० ब्रा० १।१।३४)

ब्राह्मण का महत्त्व व्रत-पालन से ही वढता है ।

पूर्वे वयसि पुत्रा. पितरमुपजीवन्ति ।...उत्तमे
वयसि पुत्रान् पितोपजीवति । (गो० ब्रा० १।४।१७)

पहली वय में पुत्र पिता पर निर्भर रहते हैं । अन्तिम वय में पिता पुत्रो पर निर्भर रहता है ।

यजमानेऽध शिरसि पतिते स देशोऽध शिरा: पतति
(गो० ब्रा० २।२।१५)

यजमान के उलटे-सिर गिरने पर, वह देश उलटे-सिर गिर जाता है ।

— ०० —

प्रथम परिशिष्ट

(घ)

व्रत से आत्मशुद्धि

[वैदिक विचार-धारा में व्रत-पालन का बडा महत्त्व
है। इसीलिए नीचे के उद्धरण को यहाँ देना
हम उचित समझते हैं।]

"अग्ने ! व्रतपते व्रतं चरिष्यामि...
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥" (यजु० १।५)

अर्थात्, हे व्रतपते प्रकाश-स्वरूप देव ! मेरी प्रार्थना है कि मैं व्रत का पालन करता हुआ अनृत से सत्य की ओर प्रगति कर सकूँ।

जीवन के उत्थान और विकास के लिए आत्म-विश्वास और आत्मिक शक्ति की आवश्यकता है। आत्मिक शक्ति और आत्म-विश्वास अनुशासन, व्रताचरण और नियम-पालन से ही प्राप्त हो सकते हैं। जीवन में व्रतो के ग्रहण और पालन का यही रहस्य है। इसी सिद्धान्त का विशदी-करण किसी व्रती के मुख से नीचे के पद्यो में कराया गया है—

उत्तरोत्तरमुत्कर्षं जीवने लब्धुमुत्सुकः।
प्रतिजाने चरिष्यामि व्रतमात्मविशुद्धये ॥१॥

अपने जीवन में उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करने के लिए मैं उत्सुक हूँ। आत्म-विशुद्धि या पवित्राचरण से ही यह हो सकता है। उस आत्म-विशुद्धि के लिए व्रताचरण की मैं प्रतिज्ञा करता हूँ।

व्रतानां पालनेनैव तद् गूढमात्मदर्शनम् ।
जायते यमिनां नूनमात्मविश्वासकारणम् ॥२॥

व्रतो के पालन से ही सयमी मनुष्यो को अपने उस गूढ स्वरूप का दर्शन होता है जो कि आत्म-विश्वास का कारण होता है। अभिप्राय यह है कि व्रतो के आचरण से ही मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप और शक्ति को पहचानता है, और इसी प्रकार उसमें आत्म-विश्वास की भावना का उदय होता है।

ऋषिभिर्मुनिभिश्चैव लोकानां मार्गदर्शकैः ।
सेवितो विततः पन्था एष नैवात्र संशयः ॥३॥

ससार को सन्मार्ग दिखाने वाले ऋषियो और मुनियो ने वास्तव में इसी प्रशस्त मार्ग का सेवन किया था। अभिप्राय यह है कि व्रताचरण द्वारा मनुष्य ऋषि और मुनि की पदवी को भी प्राप्त कर सकता है ।

विश्वस्य विविधं कार्यं कुर्वन्तोऽत्र निरन्तरम् ।
व्रतानां पालनेनैव देवा अमृतभोजिनः ॥४॥

विश्व के विभिन्न कार्यों को निरन्तर नियमपूर्वक करने वाले अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवताओ को व्रतो के पालने के कारण से ही अमृत-भोजी (=अमृत अथवा अमृतत्व का सेवन करने वाले) कहा गया है। दूसरे शब्दो में, अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवता विश्व के सचालनार्थ अपने अपने महान् व्रत अथवा कर्तव्य का अविचल-भाव से पालन करते है। इसी आधार पर उनको 'अमृत-भोजी' कहा गया है।

अभिप्राय यह है कि व्रताचरण द्वारा ही मनुष्य को अपने अमृतत्व या शाश्वत जीवन का बोध हो सकता है।

व्रतेन प्राप्यते दीक्षा दक्षिणा दीक्षयाप्यते ।
तया च प्राप्यते श्रद्धा श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥५॥

व्रताचरण से ही मनुष्य को दीक्षा अथवा उन्नत जीवन की योग्यता प्राप्त होती है। दीक्षा से दक्षिणा अथवा प्रयत्न की सफलता प्राप्त होती है। दक्षिणा से अपने जीवन के लक्ष्य अथवा आदर्शों में श्रद्धा, और श्रद्धा से सत्य अथवा वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

अभिप्राय यह है कि व्रतो के पालने से ही मनुष्य अपने जीवन के परम लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

('रश्मिमाला' से उद्धृत)

प्रथम परिशिष्ट

(ङ)

ब्रह्मचर्य

[वैदिक विचारधारा ने ब्रह्मचर्य की महिमा का बड़ा गान किया है। इसीलिए नीचे का उद्धरण उपयोगी समझकर हम यहाँ दे रहे हैं।]

"ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् विभर्त्ति" (अथर्व० ११।५।२४)

अर्थात्, ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करने वाला ही तेजोमय ब्रह्म को धारण करता है।

ऊपर मनुष्य के लिए व्रताचरण की महिमा का वर्णन किया है। सब व्रतों के मूल में ब्रह्मचर्य-व्रत है। उसी का वर्णन नीचे के पद्यों में किया गया है—

जीवनं वै महान् यज्ञस् तस्य सिद्ध्यै मनीषिभि.।
ब्रह्मचर्यव्रतस्यादौ ग्रहणमुपदिश्यते ॥१॥

जीवन एक महान यज्ञ है। उसकी सफलता के लिए मनुष्य को जीवन के प्रारम्भ में ही ब्रह्मचर्य-व्रत ग्रहण करना चाहिए, ऐसा मनीषियों का उपदेश है।

प्रासादस्य विनिर्माणे मूलभित्तिरपेक्ष्यते।
तथैव जीवनस्यादौ ब्रह्मचर्यमपेक्ष्यते ॥२॥

जैसे किसी महल के बनाने में नींव की अपेक्षा होती है। उसी प्रकार जीवन के प्रारम्भ में ब्रह्मचर्य की अपेक्षा होती है।

ब्रह्मचर्यव्रतं चीर्णं यैस्तैरेव तपस्विभिः ।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षो जीवने लभ्यते ध्रुवम् ॥३॥

तप के रूप मे ब्रह्मचर्य के व्रत को पूर्ण करने वाले मनुष्य ही निस्सन्देह जीवन में उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त करते है ।

ब्रह्मचर्येण सर्वोऽर्थः सिद्धो भवति भूतले ।
तस्यैवेहातिसंक्षिप्ता काचिद् व्याख्या विधीयते ॥४॥

संसार मे प्रत्येक लक्ष्य की प्राप्ति ब्रह्मचर्य से होती है। उसी की कुछ अतिसक्षिप्त व्याख्या यहाँ की जाती है।

सर्वेषामपि भूताना यत्तत्कारणमव्ययम् ।
कूटस्थं शाश्वतं दिव्यं, वेदो वा, ज्ञानमेव यत् ॥५॥
तदेतदुभयं ब्रह्म ब्रह्मशब्देन कथ्यते ।
तदुद्दिश्य व्रतं यस्य ब्रह्मचारी स उच्यते ॥६॥

सृष्टि के समस्त पदार्थों का जो अक्षय्य, कूटस्थ, शाश्वत, दिव्य मूलकारण है उसको, तथा ज्ञानरूप वेद को भी, ब्रह्म शब्द से कहा जाता है। इस प्रकार के ब्रह्म की प्राप्ति के उद्देश्य से जो व्रत ग्रहण करता है उसी को ब्रह्मचारी कहते ह ।

समष्टिरूप यद् ब्रह्म तद्रूप ज्ञानमेव यत् ।
ताभ्यां सायुज्यसंपत्त्यै ब्रह्मचारी सदेप्सति ॥७॥

समस्त पदार्थों की समष्टि-रूप जो ब्रह्म है, तथा समष्टयात्मक (अथवा व्यापक) जो ज्ञान है, उन दोनो के साथ सायुज्य अथवा तादात्म्य की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचारी सदा उत्सुक रहता है ।

एतस्यां भूमिकायां तु तिष्ठतो ब्रह्मचारिणः ।
उत्तरोत्तरमुत्कृष्ट जीवन लक्ष्यमुच्यते ॥८॥
"भद्रादभि श्रेयः प्रेहि[1]", "भद्र भद्र न आभर[2]" ।
इत्येव बहुशो मन्त्रैरेष एवार्थ उच्यते ॥९॥

उक्त मानसिक परिस्थिति मे वर्तमान ब्रह्मचारी के लिए उत्तरोत्तर उत्कृष्ट जीवन ही लक्ष्य होता है । "तुम भद्र से भद्रतर जीवन को प्राप्त करो", "भगवन् !

---

१. ऐतरेयब्राह्मण १।१३। २ सामवेद पू० २।८।९।

हमारे लिए बराबर कल्याण को ही लाइये" इस प्रकार-अनेकानेक वेद-मन्त्र इसी बात को कहते हैं।

तदर्थं स्वीयशक्तीनां विकासः संचयस्तथा।
श्रमेण तपसा वृत्तिः संयमेन पुरस्कृता ॥१०॥
चारित्र्यस्य विनिर्माणं विद्याया अर्जनं तथा।
प्रथमं तस्य कर्तव्यं जायते प्रथमाश्रमे ॥११॥

उक्त लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रथम आश्रम (=ब्रह्मचर्याश्रम) में उसका मुख्य कर्तव्य होता है अपनी शक्तियो का विकास और सचय, मन वाणी और शरीर के सयम के साथ श्रम और तप का आचरण, चरित्र का निर्माण और विद्या का उपार्जन।

तपसा पारमाप्नोति तपसा हन्ति किल्विषम्।
तपसा वर्तमान स उन्नतेर्मूर्ध्नि तिष्ठति ॥१२॥

तप द्वारा वह (ब्रह्मचारी) अपने अभीष्ट पद को प्राप्त करता है और पाप या अपूर्णता को दूर कर अपने चरित्र को उज्ज्वल और पवित्र बनाता है। तप का आचरण करता हुआ वह उन्नति के शिखर पर आसीन होता है।

तपसा निर्मलो भूत्वा परिपाकेन शुद्धधीः।
द्वितीयमाश्रमं गत्वा सर्वस्येष्टे न संशयः ॥१३॥

तप से चरित्र की दुर्वलताओ को दूर कर और मनोविकास द्वारा तत्त्वावगाहिनी विशुद्ध वुद्धि को प्राप्त कर वह द्वितीय गृहस्थ-आश्रम में प्रविष्ट होने पर समस्त परिस्थितियो को अपने अनुकूल वना` में समर्थ होता है।

"ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्त्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः"[1]।
"ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकास्तपसा पिपर्त्ति"[2] ॥१४॥

"ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते"[3] ॥१५॥

"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्"[4] ॥१६॥

इत्यादिवेदमन्त्रैश्च वैदिकोदात्तभाषया।
ब्रह्मचर्यस्य माहात्म्यं रहस्यं चोपवर्ण्यते ॥१७॥

---

१ अथर्व० ११।५।२४। २. अथर्व० ११।५।४। ३ अथर्व० ११।५।१७।
४. अथर्व० ११।५।१९।

"ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करने वाला ही तेजोमय ब्रह्म को धारण करता है और उसमें समस्त देवता ओत-प्रोत होते हैं (अर्थात् वह समस्त देवताओं से प्रकाश और शक्ति को प्राप्त कर सकता है) ।"

"समिधा और मेखला द्वारा अपने व्रतों को पालन करता हुआ ब्रह्मचारी श्रम और तप के प्रभाव से लोकों को आपूरित करता है ।"

"ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा अपने राष्ट्र की रक्षा में समर्थ होता है। ब्रह्मचर्य द्वारा ही आचार्य ब्रह्मचारी को शिक्षणार्थ चाहता है ।"

"ब्रह्मचर्य के तप से ही देवताओं ने मृत्यु को दूर भगा दिया है। ब्रह्मचर्य द्वारा ही इन्द्र ने देवताओं को दिव्य प्रकाश लाकर दिया है ।"

इत्यादि वैदिक मन्त्र अपनी उदात्त भाषा में ब्रह्मचर्य की महिमा और रहस्य का वर्णन करते हैं ।

('**रश्मिमाला**' से उद्धृत)

द्वितीय परिशिष्ट

(क) संस्कृत साहित्य में ग्रन्थ-प्रणयन

(ख) वेदों का वास्तविक स्वरूप

(ग) यजुर्वेद तथा वैदिक कर्मकाण्ड

(घ) वेदों के जीवन-प्रद संदेश

(ङ) भगवद्गीता का एक असाम्प्रदायिक अध्ययन

(च) वर्णभेद तथा जातिभेद का परस्पर संबन्ध

द्वितीय परिशिष्ट

(क)

संस्कृत साहित्य में ग्रन्थ-प्रणयन

[‘कल्पना’, अप्रैल १९५२, से उद्धृत ग्रन्थकार का लेख]

यह सिद्धान्त सर्वमान्य है कि ससार के किसी भी साहित्य के इतिहास की अपेक्षा सस्कृत साहित्य का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है । इसी कारण से सस्कृत साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में जहाँ अनेक प्रकार की कठिनाइया है, वहाँ साथ ही उसके सम्बन्ध मे अनेकानेक ऐसी बातें भी बतलायी जा सकती है, जिनसे साधारण शिक्षितो का ही नही, विद्वानो का भी मनोरञ्जन हुए विना नही रह सकता । हमारा विचार है कि हम क्रमश उन पर प्रकाश डालें ।

प्रस्तुत लेख में हम कुछ ऐसी समस्याओ को लेकर, जो सस्कृत-अध्ययन करने वालो के सामने प्राय उपस्थित होती है, उनके समाधान करने का यत्न करेगे । उदाहरणार्थ, कुछ समस्याएँ ये है.—

(१) सस्कृत वाङमय के ब्राह्मण, उपनिषद् आदि] अनेकानेक ग्रन्थ ऐसे है, जिनपर उनके कर्त्ताओ के नाम नही मिलते। इसीलिये उनके विषय में पौरुषेयत्व-अपौरुषेयत्व का विवाद चिरकाल से चला आया है ।

(२) अनेक ग्रन्थ दो रूपो में मिलते है, और दोनो एक ही ग्रन्थकर्ता के नाम ने प्रसिद्ध है । उदाहरणार्थ, शङ्ख-स्मृति आदि अनेक स्मृति-ग्रन्थ थोडे-बहुत गद्य तथा पद्य दोनो रूपो में पाये जाते है ।

(३) अनेक ग्रन्थो मे उनके ग्रन्थकारो की ही सम्मतियाँ प्रथम-पुरुष के प्रयोग द्वारा उद्धृत की गयी हैं। उदाहरणार्थ, शौनक के नाम से प्रसिद्ध बृहद्देवता में शौनक की ही सम्मति अनेक स्थानो पर उद्धृत की गयी है; जैसे

"सर्वाण्येतानि नामानि कर्मतस्त्वाह शौनक" (बृ० १।२७)

यही नही

"तत्राचार्यस्तु शौनकः। नदीवन्निगमा षट् ते सप्तमो नेत्युवाच ह"
(बृ० २।१३६)

इस प्रकार परोक्ष काल का भी प्रयोग किया गया है। अपने ही ग्रन्थ में ग्रन्थकार अपनी सम्मति परोक्ष-काल और प्रथम-पुरुष में उद्धृत करे, यह विचित्र-सी बात दीखती है।

(४) सस्कृत साहित्य मे एक ही ग्रन्थ के अनेक सस्करणो का—जो वेदों के समान नहीं हैं—प्राय उल्लेख मिलता है, जैसे मनुस्मृति, वृद्ध-मनुस्मृति आदि।

ऐसी अनेक समस्याएँ है जिनका सामना सस्कृत साहित्य के इतिहास के प्रत्येक लेखक को करना पडता है। यहा हम सुसंबद्ध रीति से इनके समाधान का यत्न करेंगे।

इन समस्याओ की कठिनता का मुख्य कारण यह है कि अधिकाश में हम आधुनिक ग्रन्थ-प्रणयन की परिपाटी को ही सामने रखकर इनपर विचार करते हैं। प्राय बडे विद्वान् भी इस दोष से खाली नहीं पाये जाते। परन्तु यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक देश मे और इतिहास के प्रत्येक काल मे उक्त परिपाटी का ही अनुसरण किया जाता रहा हो। अनेकानेक अवस्थितियो के भेद से उक्त परिपाटी मे भी भेद हो सकता है। इसलिए भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न काल मे 'ग्रन्थ-प्रणयन' या, ठीक शब्दो मे, साहित्यिक परम्परा की कौन-कौन सी परिपाटी रही— इसपर विचार करना आवश्यक है।

ग्रन्थ-प्रणयन की परिपाटी का प्रारम्भ

अध्ययनाध्यापन की परम्परा भारतवर्ष मे अत्यन्त प्राचीन काल से चली आयी है। आज-कल हम यह समझते है कि अध्ययनाध्यापन के लिए किसी छपी हुई पोथी की अनिवार्य रूप से आवश्यकता होती है। परन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। वास्तव में देखा जाए तो अध्ययनाध्यापन की परम्परा चलने के बहुत काल बाद ही ग्रन्थ-प्रणयन का युग प्रारम्भ हुआ होगा (इस प्रसग में 'ग्रन्थ' शब्द का

अर्थ हम यही समझते है कि जो किन्ही लिखे या छपे हुए पत्रो को ग्रन्थन करने से बने[1])। इस विषय में **यास्काचार्यकृत निरुक्त** में एक बडा उपयुक्त सन्दर्भ मिलता है। वह यह है—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादु। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषु.। वेदं च वेदाङ्गानि च। (नि० १।२०)

अर्थात, सबसे पहले ऐसे ऋषि हुए जिन्होने स्वय धर्म का साक्षात्कार किया, या, दूसरे शब्दो में, मन्त्रो को प्रकाशित किया। उन्होने अपने पीछे आने वालो को उपदेश द्वारा मन्त्रो को दिया या सिखलाया। तदनन्तर ऐसे लोग पैदा हुए, जिनके लिए केवल उपदेश पर्याप्त न था। उन्होने अपनी सुविधा के लिए ग्रन्थ-प्रणयन की परिपाटी का प्रारम्भ किया। इसी समय वेद, वेदाङ्ग आदि का सग्रन्थन किया गया।

इस सदर्भ के अनुसार एक समय ऐसा था, जब ग्रन्थ-प्रणयन की परिपाटी का प्रारम्भ ही नहीं हुआ था, या उसकी आवश्यकता ही प्रतीत नही होती थी। उस समय अध्ययनाध्यापन के साधन ग्रन्थ न थे, किन्तु मौखिक उपदेश से ही शिक्षा दी जाती थी। यह अति प्राचीन काल है। उस समय वैदिक सहिताएँ भी नही थी। तभी तो ऊपर कहा है—"**वेद च वेदाङ्गानि च।**" **ऋग्वेद** के **मण्डूक-सूक्त** में प्राय इसी अवस्था का सुन्दर वर्णन मिलता है। जैसे—

यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।

(ऋग्० ७।१०३।५)

अर्थात्, एक मेढक दूसरे मेढक की वोली को इसी तरह दुहराता है, जैसे शिष्य गुरु या शिक्षक के वचन को।

यास्क के अनुसार इस युग के वाद ग्रन्थ-प्रणयन के युग का प्रारम्भ हुआ।

---

१ सस्कृत की प्राचीन हस्त-लिखित पोथियो से जिन्हे परिचय है, वे जानते है कि उन पोथियो के पन्नो के मध्य भाग में प्राय एक छिद्र होता था, जिसका उपयोग यही था कि उस मे पतली डोरी पिरोकर पन्नो को रक्षार्थ ग्रथित किया जा सके। 'ग्रन्थ' शब्द का मूलार्थ यही प्रतीत होता है। इसलिये यह स्वाभाविक ही है कि 'ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग वैदिक सहिताओ तथा ब्राह्मणो में नही मिलता है।

ग्रन्थ-प्रणयन-युग के पूर्व जो अवस्था थी, उसको हम 'प्रवचन' या 'विद्या-प्रवचन' कह सकते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि विद्या-प्रवचन और ग्रन्थ-प्रणयन में भेद है; और ग्रन्थ-प्रणयन की परिपाटी का प्रारंभ विद्या-प्रवचन की परिपाटी के आरम्भ होने के बहुत पीछे ही हुआ। दोनो में क्या भेद है? इसका विचार हम नीचे करते है।

प्रवक्ता और ग्रंथ-कर्त्ता

पाणिनि आचार्य की **अष्टाध्यायी** मे दो सूत्र आते है, जिनसे उक्त भेद और उसके स्वरूप के समझने में बडी सहायता मिलती है। वे सूत्र ये है —

तेन प्रोक्तम्। (पा० ४।३।१०१)

कृते ग्रन्थे। (पा० ४।३।११६)

दोनो सूत्र दो पृथक् प्रकरणो से सबध रखते है। परन्तु आपातत. दोनो में कोई विशेष भेद प्रतीत नही होता। किसी ने एक ग्रन्थ बनाया या एक ग्रन्थ कहा, इसमें क्या भेद हो सकता है? पर यदि दोनो में भेद नही है, तो दो प्रकरणो की आवश्यकता ही क्या थी? दोनो प्रकरणो के उदाहरण भी प्राय भिन्न-भिन्न ही है। इसलिये यही मानना होगा कि प्रवचन या विद्या-प्रवचन और ग्रन्थ-प्रणयन में वस्तुत भेद है; और विद्या-प्रवचन के करने वालो को प्रवक्ता और ग्रन्थ-प्रणयन के करने वालो को ग्रन्थकर्ता कहने की परम्परा प्राचीन काल से चली आई है। इसीलिये उपर्युक्त दोनो प्रकरणो की आवश्यकता थी। यह ध्यान मे रखना चाहिये कि यहाँ हम 'ग्रन्थ' शब्द को उपर्युक्त लिखित पत्रादि सामग्री के ग्रन्थन से बनी हुई पोथी के विशिष्ट अर्थ में ले रहे है। इसीलिये यहाँ 'ग्रन्थ-प्रवचन' न कहकर 'विद्या-प्रवचन' कहा है।

विद्या-प्रवचन और ग्रन्थ-प्रणयन में मुख्य भेद हमारी सम्मति में यह है। **विद्या-प्रवचन** में अर्थ या प्रतिपाद्य विषय का प्राधान्य होता है। शब्दानुपूर्वी की ओर ध्यान नही होता। **ग्रन्थ-प्रणयन** में शब्दानुपूर्वी का भी पूरा स्थान होता है। दूसरे शब्दों में, जहाँ विद्या-प्रवचन में मुख्यत प्रतिपाद्य विषय के परम्परा-प्राप्तत्व में आशय है, वहाँ ग्रन्थ-प्रणयन मे अर्थ के नवीन गुम्फन की ओर अधिक सकेत है। प्रवचन और व्याख्यान ('व्याख्या' के अर्थ में नहीं, किन्तु आधुनिक 'लेक्चर' के अर्थ में) बहुत-कुछ समानार्थक है। इसलिये, एक दृष्टि से, विद्या-प्रवचन और ग्रन्थ-प्रणयन में वैसा ही भेद है, जैसा एक 'व्याख्यान' और एक 'पुस्तक' में हो सकता है। साथ ही प्राचीन काल के प्रवचन में, जैसा ऊपर कहा

है, परम्परा-प्राप्तत्व का आशय अधिक था। इसीलिये **पाणिनि** के **'तेन प्रोक्तम्'** इस सारे प्रकरण मे श्रुति (=छन्दस् तथा ब्राह्मण) या श्रुति-समकक्ष (अर्थात्, प्रवचन की परम्परा से प्राप्त) साहित्य को दृष्टि में रखकर ही उदाहरण दिये गये है।

शुद्ध प्रवचन-काल

भारतवर्ष की अध्ययनाध्यापन की परम्परा में एक ऐसा समय था, जबकि प्रवचन, उपदेश, या व्याख्यान द्वारा ही अध्ययनाध्यापन का कार्य चलता था। ग्रन्थो का उसमे कोई स्थान ही नही था। इस काल को हम शुद्ध-प्रवचन-काल कह सकते है। यह काल चरणो, शाखाओ और परिषदो के प्रारभिक काल से लगभग मिलता है। इनका विचार हम नीचे करेगे। शुद्ध-प्रवचन-काल के वाङ्-मय या साहित्य की हम आज-कल के 'यूनिवर्सिटी-लेक्चर्स' के साथ तुलना कर सकते है। तो भी दोनो में यह भेद है कि आधुनिक 'यूनिवर्सिटी लेक्चर्स' प्राय किसी लिखित आधार पर दिये जाते है; पर शुद्ध-प्रवचन-काल में प्रवचन या उपदेश का वहुत करके कोई लिखित आधार न होता था।

यह ध्यान देने की वात है कि 'पठ' (=पढ़ना) धातु का किसी रूप में प्रयोग वैदिक सहिताओ में नही मिलता। तदनन्तर काल के ब्राह्मणो तथा आरण्यको के साहित्य में भी इस का प्रयोग, केवल **तैत्तिरीय आरण्यक** को छोडकर, नही मिलता[१]। हमे तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे आजकल "लिखना-पढ़ना" इन दोनो शब्दो का साहचर्य है, इसी प्रकार 'पठ' धातु का प्रयोग भी प्रारभ से ही लिखित ग्रन्थादि के पढने के लिये होता था। इसीलिये श्रुति के साथ 'पठ' धातु का सम्वन्ध प्राचीन काल मे नही था।

वास्तव में श्रुति-कालीन अध्ययनाध्यापन से सवद्ध शब्दो का आधार प्रधानत 'अधि+इ' (=अध्ययन करना, अधि+अयन=आत्मगत करना), 'ब्रू' या 'वच' (=वोलना), और 'श्रू' (=सुनना) ये धातुएँ ही थी। इसलिए इन धातुओ से निष्पन्न 'अध्ययन', 'प्रवचन', 'अनूचान', 'प्रवक्ता', 'सूक्त', 'श्रुति', 'शश्रूषु' (मूलार्थ 'सुनने का इच्छुक') जैसे प्रयोग ही प्राचीन वैदिक वाङमय में देखे जाते है।

शुद्ध-प्रवचन-काल का साहित्य दो तरह का पाया जाता है—एक तो वह, जिसका सम्वन्ध साक्षात् किसी व्यक्ति विशेष से कहा जाता है, जैसे, **एतरेय-**

---

१ लिखने के अर्थ में 'लिख' धातु का प्रयोग भी वैदिक सहिताओ और ब्राह्मणो तथा आरण्यको मे नही मिलता।

ब्राह्मण का सम्बन्ध **महिदास ऐतरेय** से कहा जाता है। दूसरा वह, जिसका किसी व्यक्ति-विशेष से वसा सम्बन्ध नही है। इस काल में इसी प्रकार के साहित्य का बाहुल्य है। अनेक उपनिषद् और ब्राह्मण ऐसे ही है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि इस काल-का साहित्य उस समय के चरणो की ही सपत्ति समझी जाती थी। दूसरे, **याज्ञवल्क्य** आदि का अपने ब्राह्मण से सम्बन्ध प्रवचन द्वारा ही था, न कि ग्रन्थ-प्रणयन द्वारा। "**पुराण-प्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु**" (पाणिनि ४।३।१०५) इत्यादि सूत्रो मे **पाणिनि** का भी यही अभिप्राय है। यही कारण है कि उक्त ब्राह्मणादि साहित्य के विषय में कोई ग्रन्थ-कर्ता नही माना जाता। व्यक्ति-विशेष के साथ उसका सम्बन्ध होने पर भी उस व्यक्ति को ग्रन्थ-कर्ता न कह कर प्रवक्ता ही कहा जाता है। इसी कारण "**याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि**" आदि में **पाणिनि** का "**कृते ग्रन्थे**" (पा० ४।३।११६) सूत्र न लग कर प्रोक्तार्थ में ही प्रत्यय होता है।

इससे यह सिद्ध है कि शुद्ध-प्रवचन-काल मे ग्रन्थ-प्रणयन आरम्भ नही हुआ था।

प्रवचन तथा ग्रन्थ-प्रणयन का मिश्रित काल

चरणो, शाखाओ और परिषदो के काल मे ही दूसरा काल ऐसा आया, जबकि प्रवचन और ग्रन्थ-प्रणयन दोनो ही परिपाटियाँ साथ साथ प्रचलित थी। इसको हम मिश्रित-काल कह सकते है। तो भी इस काल मे निस्सन्देह प्रवचन की परिपाटी धीरे धीरे लुप्त हो रही थी, और ग्रन्थ-प्रणयन की बढ रही थी।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन कल्प-सूत्रो (जैसे '**पैङ्गी कल्प.**' यहाँ '**पिङ्गेन प्रोक्त**' यही अर्थ किया जाता है, न कि '**पिङ्गेन कृत**' यह अर्थ, देखो पाणिनि ४।३।१०५) और अन्य निबन्धो मे भी, ग्रन्थकर्ता के नाम के साथ में रहने पर भी, प्रोक्तार्थ में ही प्रत्यय किया जाता है, '**कृते ग्रन्थे**' इस अर्थ में नही। यह बात पिछले काल के **न्याय-सूत्र, मीमासा-सूत्र** आदि के विषय में नही है। वे अपने ग्रन्थकारो द्वारा 'प्रोक्त' नही, किन्तु 'कृत' ही समझे जाते है। इसका कारण यही है कि ये ग्रन्थ उस समय के वने हुए है, जवकि चरणो आदि की परम्परा वहुत कुछ शिथिल या लुप्त-प्राय हो गयी थी। चरणो तथा उनकी परिषदो के दिनो में, जिनको तुलना वहुत-कुछ आधुनिक 'रेज़िडेंशल यूनिवर्सिटीज़' से की जा सकती है, गुरु अपनी शिष्य-मण्डली के सामने, परम्परा-गत प्रणाली के अनुसार, विद्या-प्रवचन ही किया करते थे, और ग्रन्थ-प्रणयन होता भी था, तो स्वय गुरु द्वारा या शिष्यो द्वारा गौण रीति से ही किया जाता था।

यहाँ प्रसगवश एक और वात पर भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। शुद्ध-प्रवचन-काल के वाङ्मय के लिए **'श्रुति'** शब्द का प्रयोग किया जाता है, और उसके पीछे के सूत्र-ग्रन्थ **'स्मृति'** समझे जाते हैं। विद्वानो से यह छिपा नही है कि धर्म-सूत्रो के समान ही **पाणिनि** आदि के अन्य सूत्र-ग्रन्थो के लिए भी प्राचीन ग्रन्थकार 'स्मृति' शब्द का प्रयोग करते हैं।

इस 'श्रुति' 'स्मृति' के व्यवहार-भेद का कारण अनेक विद्वान् और ही वतलाते हैं। पर हमारी सम्मति में तो इसका कारण स्पष्टतया यही है कि शुद्ध-प्रवचन-काल में तत्कालीन वाङ्मय के लिखित रूप में न होने से श्रवण और प्रवचन की मौखिक परम्परा द्वारा ही वह शिष्य-प्रशिष्यो मे रक्षित रहता था। इसीलिये इस को 'श्रुति' नाम से कहा जाता है। प्राचीन साहित्य में इसी कारण **'इति शुश्रुम'** (=ऐसा सुनते हैं) प्राय आता है। लिखित ग्रन्थो के न होने के कारण और केवल श्रवण की परम्परा द्वारा रक्षित होने से इस वाङ्मय में कितना अश शब्दत किस ऋषि या आचार्य का है, यह ठीक-ठीक नही कहा जा सकता था। प्राय इसीलिये इस वाङ्मय को हमारे धार्मिक ग्रन्थो में 'अपौरुषेय' तक कहा है।[1]

प्रवचन और ग्रन्थ-प्रणयन के मिश्रित काल मे जो कुछ सुना जाता था, वह पीछे से किसी लिखित आधार की सहायता से 'स्मरण' किया जाता था। इसलिये इसको **'श्रुति'** न कह कर **'स्मृति'** कहने लगे। लेख द्वारा प्रवचन-कर्ता का कथन ठीक-ठीक सुरक्षित किया जा सकता है। इसलिये नि सन्देह रूप में उसको व्यक्ति-विशेष के साथ सवद्ध कर सकते हैं। इसी कारण इस काल के ग्रन्थ स्पष्टतया 'पौरुषेय' हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त मिश्रित काल में भी, पुरानी परिपाटी के अनुसार, ये ग्रन्थ वहुत अश तक परिपदो की ही सपत्ति समझे जाते थे। इसका अर्थ यह है कि आवश्यकता के अनुसार उक्त ग्रन्थो में धीरे-धीरे परिपदो द्वारा परिवर्तन किये जा सकते थे।

इस समय के ग्रन्थो मे यह वात प्राय देखी जाती है कि उनके मूलरूप के साथ क्रमश कुछ नया अश भी वढता रहा है। **ऋग्वेद-प्रातिशाख्य** आदि ग्रन्थो

---
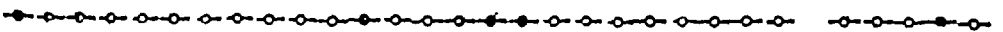
१ पिछले काल तक—वेद को लिखना नही चाहिए—यह विचारधारा चली आयी थी। "वेदविक्रयिणश्चैव वेदाना चैव लेखका। वेदाना दूपकाश्चैव ते वै निरयगामिन ॥" इस प्रकार वेद-लेखन की निन्दा के वचन प्राय. मिलते हैं।

मे स्पष्टतया पीछे से बढाये हुए अश उपलब्ध है। धर्मसूत्रो में भी, कई के विषय मे, विद्वानो की ऐसी ही सम्मति है। कही कही यह बढाया हुआ अश प्राचीन मूल अश से विरुद्ध भी दिखलायी देता है। कही-कही भाव के भेद के साथ-साथ शैली का भेद भी स्पष्ट है। इन कारणो से यह अतिरिक्त अश स्पष्टतया मूल-ग्रन्थ-कर्ता का तो हो नही सकता। ऐसी अवस्था में प्रश्न होता है कि 'ऐसा क्यो कर हुआ ?'

हमारी समझ में इसका उत्तर यही है कि या तो भिन्न-भिन्न चरणो की परिषदो द्वारा या उस-उस आचार्य की परिषदन्तर्गत शिष्य-परम्परा द्वारा ही उन ग्रन्थो को समयानुकूल या सपूर्णाङ्ग बनाने के लिए अतिरिक्त अश उनमें जोड दिये जाते थे।

इसका प्रारम्भिक प्रकार यही रहा होगा कि या तो नई बात परिशिष्ट के रूप मे ग्रन्थो मे जोड दी जाती थी, जिसको कालान्तर में ग्रन्थ का भाग ही समझ लिया जाता था (**निरुक्त** आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थो में ऐसे परिशिष्ट पाये जाते है), या यह हो सकता है कि अतिरिक्त अश टीका-टिप्पणी के रूप मे मूल-ग्रन्थ मे ही लिख दिया जाता था, और धीरे-धीरे वह ग्रन्थ का भाग बन जाता था। उदाहरणार्थ, **ऋग्वेद-प्रातिशाख्य** में ११वाँ पटल दशम पटल की विस्तृत व्याख्या-जैसा ही है। स्पष्टतया वह पीछे से बढ़ाया गया है। इसी ग्रन्थ में तीसरे पटल का अन्तिम श्लोक और दूसरे पटलो के अनेक श्लोक स्पष्टतया पीछे से जोडे हुए है। अनेक टिप्पणियाँ किस प्रकार मूल-ग्रन्थ मे समिलित हो जाती है, इसके आधुनिक उदाहरण हस्त-लिखित पोथियो में प्राय मिलते है। जिनको ऐसी पोथियो से काम पडा है, वे जानते है कि एक पोथी के किनारो की टिप्पणियाँ (marginal notes) उस के आधार पर प्रतिलिपि की हुई दूसरी पोथी में किस प्रकार मूल में सम्मिलित कर ली जाती है।

यह भी हो सकता है कि मूल-ग्रन्थ समय समय पर परिषदो द्वारा वस्तुत प्रतिसस्कृत या 'रिवाइज़्ड' किये जाते थे। ये नवीन सस्करण परिषदो द्वारा 'प्रकाशित' किये जाते थे। ऐसा होने पर भी इन नवीन परिवर्तित सस्करणो पर मूल ग्रन्थ-कर्ता (या प्रवक्ता) का ही नाम रहता था। दूसरे शब्दो मे, यदि हम परिषदो को उन दिनो की 'यूनिवर्सिटीज़' समझें, तो इन सस्करणो को 'यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन्स' कह सकते है।

प्रतिसस्कर्ता या सपादक, चाहे परिषद् के रूप में, चाहे एक शिष्य के रूप में, मूल-ग्रन्थ में परिवर्तन करने में काफी स्वतंत्रता से काम ले सकता था। इस का विशेष विचार हम आगे चल कर करेंगे। हमारे विचार में इस स्वतंत्रता से

यहाँ तक काम लिया जाता था कि मूल-ग्रन्थ के रूप को ही प्रतिसंस्कर्ता बिल्कुल बदल सकता था। **शङ्ख-स्मृति** आदि अनेक ग्रन्थ, जो प्रारम्भ में सूत्ररूप में (गद्य में) थे, पीछे से पद्य में कर दिये गये। यह इस स्वतंत्रता का ही परिणाम था। इस पर भी ये रूपान्तरित ग्रन्थ प्राय मूल-ग्रन्थ-कर्ता के ही नाम से प्रसिद्ध रहे।

मूल-ग्रन्थ-कर्ता के शब्दो के साथ प्रतिसंस्कर्ताओं की इतनी स्वतत्रता की प्रवृत्ति कैसे चल पड़ी? इसका कारण, हमारे विचार में, शुद्ध प्रवचन-काल से ही मिल सकता है। हम कह चुके हैं कि उस समय, आधुनिक 'लेक्चरो' के समान, प्रवचन शब्दश· सुरक्षित नही किये जा सकते थे। उनके भाव की ही रक्षा हो सकती थी। यही प्रवृत्ति दूसरे मिश्रित काल में भी बनी रही। इसी परम्परागत प्रवृत्ति के कारण उक्त स्वतत्रता मूल-ग्रन्थ के साथ बाद को भी ली जाती रही।

ऐसा भी हो सकता है कि प्रवक्ता या प्रवचन-कर्ता के प्रवचनो को लेख-बद्ध, उसी समय या बाद को, उसके शिष्य करते रहे हो।

जैसा ऊपर कहा है, **बृहद्देवता** आदि ग्रन्थो में उनके प्रसिद्ध ग्रन्थकारो के नाम और मत प्रमाणरूप से प्रथम-पुरुष और परोक्ष-भूतकाल मे उद्धृत किये गये हैं। यही नहीं, **बृहद्देवता** में उसके ग्रन्थ-कर्ता **शौनक** के शिष्य **आश्वलायन** का भी मत उद्धृत किया गया है (देखो बृह० दे० ४।१३९—"**अस्माकमुत्तमं सूर्यं स्तौतीत्याहाश्वलायन**")। यही बात वेदान्तसूत्रो में भी पायी जाती है।

इस असगति का समाधान अनेक लोग अनेक तरह से करते हैं। उदाहरणार्थ, **बौधायनधर्मसूत्र** (३।५।८) मे **बौधायन** के ही मत का उल्लेख देखकर उसका टीकाकार कहता है—

"बौधायनसंशब्दनाद् अस्य शिष्योऽस्य ग्रन्थकर्तेति गम्यते।"

अर्थात्, 'बौधायन' के उल्लेख से जान पडता है कि उन का शिष्य इसका ग्रन्थकर्ता है।

एक और टीकाकार ऐसे ही प्रसग में कहता है—

"प्रायेण ग्रन्थकाराः स्वमतं परापदेशेन ब्रुवते।"

अर्थात्, ग्रन्थकार अपने मत को प्राय. प्रथम-पुरुष में कहते है।

हम तो यही समझते हैं कि इस असगति का भी समाधान वही है, जो ग्रन्थो में परिवर्तन और परिवृद्धि आदि का है। अर्थात्, उन दिनो परिषदो के प्रभाव से ही, चाहे साक्षात् परिषद् द्वारा, चाहे परिषदन्तर्गत उस आचार्य के शिष्यो द्वारा, मूल-ग्रन्थ सस्कृत या प्रतिसस्कृत होते थे। ऐसा मान लेने से उक्त असगति का समाधान सरलतया हो जाता है।

ऊपर शाखाओ, चरणो और परिषदो का उल्लख हमने किया है। इसलिए इनके स्वरूप आदि के विषय में यहाँ कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है।

शाखा, चरण और परिषद्

ऊपर दिये हुए निरुक्त के वचन के अनुसार पहले ऋषियो द्वारा मन्त्र प्रकाशित हुए, और फिर उन्होने उपदेश द्वारा उनको दूसरो को सिखलाया। प्रारम्भ में भिन्न-भिन्न ऋषि-कुलो में अपने पूर्वजो से प्राप्त मन्त्रो की रक्षा इसी प्रकार की गयी। कालान्तर में समस्त मन्त्रो को इकट्ठा करके वैदिक सहिता या सहिताओ का रूप दिया गया। धीरे-धीरे आर्यों के दैशिक विस्तार के कारण भिन्न-भिन्न वैदिक 'शाखाओ' की उत्पत्ति हुई। देश-भेद (और काल-भेद) से मूल-सहिता या सहिताओ में अनिवार्य रूप से होने वाला अध्ययन--(या पाठ-) भेद ही शाखा-भेद का कारण था। अध्ययन-भेद से शाखाओ के भेद का (तु० "अध्ययनभेदाच्छाखाभेद.") तथा देश-भेद से शाखाओ की व्यवस्थिति (तु० "देशभेदेन शाखानां व्यवस्थानम्") का सिद्धान्त परम्परा से सर्व-मान्य चला आया है। धीरे-धीरे वैदिक सहिताओं के सहकारी ब्राह्मणादि-साहित्य में भी वैसा ही भेद हो गया।[1]

इन शाखाओ के अध्येतृवर्ग 'चरण' कहलाते थे।[2]

मूल में इन चरणो की विद्वत्सभाओ या विद्यासभाओ को ही 'परिषद्' समझना चाहिए।

मनुस्मृति में धर्म-निर्णयार्थ परिषदो का वर्णन इस प्रकार किया है—

दशावरा वा परिषद् य धर्म परिकल्पयेत्।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत्॥
त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः।
त्रयश्चाश्रमिण. पूर्वे परिषत्स्याद् दशावरा॥

---

१ तु "स्वाध्यायैकदेशो मन्त्रब्राह्मणात्मक शाखेत्युच्यते। तयोर्मन्त्रब्राह्मणयोरन्यतरभेदेन वेदेऽवान्तरशाखाभेद. स्यादिति चेत्। सत्यम्।" (महादेवकृत हिरण्यकेशिभाष्य)। तथा "प्रवचनभेदात्प्रतिवेद भिन्ना भूयस्य शाखा" (प्रस्थान-भेद)।

२ तु० "चरण शाखाध्येता" (पाणिनि ४।१।६३ पर तत्त्वबोधिनी), "चरणशब्द शाखाविशेषाध्ययनपरैकतापन्नजनसघवाची" (मालतीमाधव नाटक पर जगद्धर की टीका)। "चरणशब्द. शाखाध्यायिषु रूढ" (आपस्तम्बधर्मसूत्रटीका)

ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥
(मनु० १२।११०-११२)

अर्थात्, 'दशावरा' परिषद् अथवा 'त्र्यवरा' परिषद् जिस धर्म की परिकल्पना करे, उस धर्म से नहीं हटना चाहिए। त्रैविद्य, हैतुक, तर्की, नैरुक्त, धर्मपाठक, और पहले तीनों आश्रमो वाले—ये मिलकर दशावरा परिषद् होती है। ऋग्वेद-ज्ञाता, यजुर्वेद-ज्ञाता और सामवेद-ज्ञाता, ये मिलकर त्र्यवरा परिषद् बनती है। ये परिषदे धर्म-विषयक सशयो के निर्णय के लिए होती हैं।

ऊपर के श्लोकों से स्पष्ट है कि एक समय ऐसा था, जब भारतवर्ष में परिषदो की परिपाटी प्रचलित थी। यह माना कि यहाँ केवल धर्म-विषयक निर्णयो के लिए ही परिषद् का वर्णन है, परन्तु अध्यनाध्यापन की परम्परा में भी 'परिषद्', 'पार्षद' आदि शब्दो के पाये जाने से यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि जैसे दूसरे विषयों में सर्वसाधारण के हित के लिए सामूहिक प्रश्नो के निर्णयार्थ परिषदें होती थी, इसी प्रकार विद्या-परिषदें[1] भी होती थीं। निरुक्त के "पद-प्रकृतीनि सर्वचरणाना पार्षदानि"[2] (नि० १।१७) इस वाक्य से, तथा ऐसे ही अन्य प्रमाणो से उस काल में चरणो से सवन्ध रखने वाली परिषदो की सिद्धि होती है।

चरणो के अनुयायियो या 'मेवरो' का इन परिषदो के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता था। परिषद् का कर्तव्य था कि वह अपने चरण से सवद्ध विद्या-परम्परा या वाङ्मय की पूर्णतया रक्षा करे और उसकी उन्नति करे। अपने सभापति-स्थानीय आचार्य (या कुलपति) या किसी सदस्य द्वारा प्रोक्त, प्रचारित विद्या या प्रणीत ग्रन्थ की वह सरक्षिका होती थी। यही कारण प्रतीत होता है, जिससे अपने किसी सदस्य के ग्रन्थ को वढाने या परिवर्तित करने का पूर्ण अधिकार परिषद् को होता था।

---
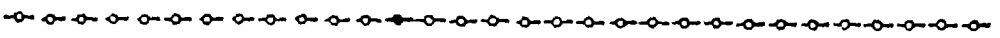
१ उदाहरणार्थ, बृहदारण्यकोपनिषद् (६।२।१) में "श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः पञ्चालाना परिषदमाजगाम" इस प्रकार एक विद्या-परिषद् का उल्लेख है। इन परिषदो मे कैसे विचार होता था, इसका एक अच्छा उदाहरण चरक-सहिता, सूत्र-स्थान, अध्याय २५ और २६ मे मिलता है।

२ इनकी व्याख्या में दुर्गाचार्य शब्दत चरण-सवन्धी परिषद् (तु० "स्वचरण-परिषदि") का उल्लेख करते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि चरणो और शाखाओ के समान ये सब परिषदें वैदिक अध्ययनाध्यापन की ही परम्परा से सबद्ध न होती थीं। हमारा विचार है कि समस्त धार्मिक साहित्य—जैसे पुराण और धर्मशास्त्र—की देख-भाल भी कुछ परिषदे ही करती थीं। पुराणो मे नैमिषारण्य आदि मे ऋषियो की परिषदो का वर्णन मिलता है। इन परिषदो का किसी वैदिक चरण या शाखा-विशेष से सबन्ध नहीं होता था। इसीलिए वैदिक चरणो आदि की परम्परा के ढीले पड जाने पर भी परिषदो द्वारा पुराणो आदि मे रूपान्तरण या प्रतिसस्करण किये जाते रहे। यदि इन प्रतिसस्करणो में परिषदों का हाथ न होता, तो इनको सर्वमान्यता का पद प्राप्त होना अत्यन्त कठिन था।

पुराणो और धर्मशास्त्रो के ऐसे प्रतिसस्करण समय-समय पर होते रहे है, इसके अनेकानेक प्रमाण दिये जा सकते है। हमारे विचार मे मनुस्मृति आदि के प्रतिसस्करण या शख आदि की गद्यात्मक स्मृतियो के पद्यात्मक प्रतिसस्करण ऐसी ही परिषदो द्वारा किये गये होगे। इसीलिए ऐसे प्रतिसस्करणो के साथ किन्हीं व्यक्ति-विशेषो के नाम नहीं लगे हुए है।

शुद्ध ग्रन्थ-प्रणयन-काल

काल-क्रम से देश की राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियो के बदल जाने से वैदिक चरणो से सबन्ध रखनेवाली परिषदो का लोप होने लगा। इसी समय सस्कृत-साहित्य मे एक प्रकार से वैज्ञानिक युग का प्रारम्भ हुआ। वैदिक परिषदो के दिनो में उनके साहित्य का दायरा वेद की परिधि से सकुचित था। उस साहित्य का सबन्ध मुख्यत वेद से था। दूसरे शब्दो में, वेद-वेदाग ही उनके अध्ययनाध्यापन के विषय थे। परन्तु अब विद्वान् लोगो की दृष्टि अति व्यापक और विस्तृत होने लगी। जहाँ पहले विभिन्न शाखाओ से सबन्ध रखने वाले '**प्रातिशाख्य**' जैसे ग्रन्थ लिखे जाते थे, वहाँ अब पाणिनीय-व्याकरण जैसे वैज्ञानिक तथा **सर्ववेद-साधारण** ग्रन्थ लिखे जाने लगे। जहाँ '**प्रातिशाख्य**' जैसे ग्रन्थो का सबन्ध वेद की शाखाविशेषो से ही था, वहाँ **पाणिनीय अष्टाध्यायी** प्रधानतया, वैदिक भाषा के लिए नही, किन्तु लौकिक सस्कृत के लिए लिखी गयी। पाणिनि की दृष्टि स्पष्टतया किसी भी परिषत्कालीन ग्रन्थ से व्यापकतर है।[1]

---

१ दे० महाभाष्य (६।३।१४)—"सर्ववेदपारिषद हीद शास्त्रम्। तत्र नैक पन्था शक्य आस्थातुम्।" इसी की व्याख्या करते हुए कैयट कहते है—"प्रातिशाख्यसद्भावेऽपि सर्ववेदसाधारणेनानेन शब्दाना प्रतिपादन क्रियते।"

यह वस्तुत 'शुद्ध ग्रन्थ-प्रणयन-काल' का प्रारम्भ था। एकस्थानीय[1] परिषदों से सबन्ध रखनेवाले चरणो के लिए विद्या-प्रवचन एक आवश्यक और महत्त्व की प्रथा थी। आस-पास मे रहनेवाले (=अन्तेवासी) शिष्यो के लिए आचार्य का प्रवचन ही पर्याप्त था। अब अतिव्यापक दृष्टि से लिखे गये ग्रन्थो का क्षेत्र देश-व्यापी हो गया। इसी कारण प्रवचन से ग्रन्थ-प्रणयन का महत्त्व कहीं अधिक होने लगा। अन्यान्य कारणो के साथ-साथ बौद्ध आदि प्रतिद्वन्द्वियो के सघर्ष से भी सकुचित वैदिक परिषदो की प्रथा के ह्रास में सहायता अवश्य मिली होगी। इसी कारण से कदाचित् विद्वानो मे वैज्ञानिक और व्यापकतर दृष्टि के पैदा होने मे भी सहायता मिली होगी।

शुद्ध ग्रन्थ-प्रणयन की प्रथा के चल पडने पर ग्रन्थो पर ग्रन्थ-कर्ताओं के नाम की मुहर लगने लगी। धर्मशास्त्र और पुराणो को छोड कर, जिनकी देख-भाल, हमारे विचार में, कदाचित् अब भी धर्म-परिषदों के हाथ में थी, अन्य ग्रन्थो में इस समय के बाद प्राचीन परिषत्कालीन ग्रन्थो के समान परिवर्तन या प्रतिसस्करण की चाल उठ गयी। इसीलिए इस समय के बाद के ग्रन्थो में अधिकतर परिवर्तन नहीं देखे जाते। यदि उनका प्रतिसस्करण हुआ भी, तो प्रतिसस्कर्ता का नाम भी साथ में दिया जाने लगा। इसका एक उत्तम उदाहरण चरक-संहिता से मिलता है। अग्निवेश द्वारा 'प्रोक्त' आयुर्वेद-शास्त्र का सस्करण या प्रतिसस्करण चरक ने किया, इसमें पीछे से कुछ अश दृढबल ने बढाया; यह स्पष्टतया सिद्धि-स्थान, अध्याय १२ में अकित मिलता है।

संस्कर्ता या प्रतिसंस्कर्ता

ऊपर हमने अनेक बार 'सस्करण' या 'प्रतिसस्करण' का उल्लेख किया है। इसका प्रकार क्या था, इसका स्पष्ट वर्णन, जैसा हमने ऊपर कहा है, चरक-सहिता में मिलता है। वह यह है—

चरक-सहिता के उपसहार में निम्नस्थ श्लोक आते है—

> इत्यध्यायशत विंशमात्रेयमुनिवाङ्मयम् ।
> हितार्थं प्राणिना प्रोक्तमग्निवेशेन धीमता ॥७४॥

---

1 दे० "आचार्य सपरिषत्क भोजयेत्" (गोभिल-गृह्य-सूत्र) का भाष्य "सह परिषदा शिष्यगणेन वर्तत इति सपरिषत्क.। तम्।" ऐसे प्रमाणो से परिषदो की एकस्थानीयता स्पष्ट है।

विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यतिविस्तरम् ।
सस्कर्ता कुरुते तन्त्र पुराणं च पुनर्नवम् ॥७६॥
अतस्तन्त्रोत्तममिदं चरकेणातिबुद्धिना ।
संस्कृतं... ... . ॥७७॥

अर्थात्, आत्रेय मुनि द्वारा प्राप्त इस एकसौ-बीस अध्याय वाले वाङमय को प्राणियो के हित के लिए बुद्धिमान् अग्निवेश ने सूत्रित या ग्रन्थबद्ध करके शिष्यो को पढाया। इस उत्तम तन्त्र का सस्करण (या प्रतिसस्करण) अतिबुद्धिमान् चरक ने किया।

संस्कर्ता (या प्रतिसस्कर्ता) का काम यही होता है कि वह संक्षेप से कही हुई बात को विस्तार करके स्पष्ट कर दे, और अतिविस्तृत अश को सक्षिप्त कर दे। इस प्रकार सस्कर्ता एक पुराने ग्रन्थ को पुनः नवीन कर देता है।

चरक के स्थानो के अन्त मे ये शब्द आते है—

अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसस्कृते ।

अर्थात्, अग्निवेश इस शास्त्र (तन्त्र) के बनाने वाले है, और चरक प्रतिसस्कर्ता है।

इसी ग्रन्थ के सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय मे इस शास्त्र का अग्निवेश तक का भी इतिहास दिया है। इस प्रसग में उस को भी यहाँ देना उचित प्रतीत होता है।

इन्द्र ने भरद्वाज महर्षि को आयुर्वेद का उपदेश दिया। भरद्वाज ने उसे अन्य ऋषियों को दिया। तव

अथ मैत्रीपर पुण्यमायुर्वेद पुनर्वसु ।
शिष्येभ्यो दत्तवान् षड्भ्य सर्वभूतानुकम्पया ॥२८॥
अग्निवेशश्च भेलश्च जतूकर्ण पराशर ।
हारीत क्षारपाणिश्च जगृहुस्तन्मुनेर्वच. ॥२९॥
बुद्धेर्विशेषस्तत्रासीन्नोपदेशान्तर मुने ।
तन्त्रप्रणेता प्रथममग्निवेशो यतोऽभवत् ॥३०॥
अथ भेलादयश्चक्रु स्व स्व तन्त्रं, कृतानि च ।
श्रावयामासुरात्रेय सर्षिसघ सुमेधम ॥३१॥
श्रुत्वा सूत्रणमर्थानामृषयः पुण्यकर्मणाम् ।
यथावत् सूत्रितमिति प्रहृष्टास्तेऽनुमेनिरे ॥३२॥

अर्थात्, तब मैत्री रखने वाले पुनर्वसु (आत्रेय) ने सब जीवो पर कृपा के कारण पवित्र आयुर्वेद को अपने छ. शिष्यो को दिया। मुनि के वचन को अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि ने ग्रहण किया। अपनी बुद्धि के वैशिष्ट्य के कारण, न कि इसलिए कि उनको गुरु ने कोई विशेष उपदेश दिया था, अग्निवेश ने सब से प्रथम इस तन्त्र का प्रणयन किया। उस के अनन्तर भेल आदि ने भी अपने-अपने तन्त्र बनाये। उन मेधावियो ने अपने प्रणीत तन्त्रो को ऋषिसमाज (या परिषद्) में बैठे हुए आत्रेय को सुनाया। उन पवित्र कर्म करने वालो द्वारा 'अर्थ' (=सुने हुए प्रतिपाद्य विषय) के 'सूत्रण' (=ग्रन्थ रूप में ग्रथन) को सुन कर प्रसन्न ऋषि-समाज (या परिषद्) ने "आपने ठीक-ठीक सूत्रित किया है" यह कहते हुए अपनी अनुमति दी।

ऊपर के सदर्भ से स्पष्ट है कि प्रारम्भ में अनेक पीढियो तक प्रवचन द्वारा ही इस शास्त्र की परम्परा चलती रही। पीछे से अग्निवेश आदि ने इसे ग्रन्थ-बद्ध किया। इस समय ऋषियो की परिषद् को सुनाकर इसके लिए उन की अनुमति प्राप्त की गयी। कालान्तर मे इसी पुराने शास्त्र को प्रतिसस्करण द्वारा चरक ने पुन नया कर दिया। इसकी पूर्ति चिरकाल के पश्चात् दृढबल ने की, यह हम ऊपर कह चुके है।

इसी प्रकार के प्रतिसस्करण या 'रेविजन' के अनेक उदाहरण सस्कृत-साहित्य से दिये जा सकते है। एक उदाहरण ऋग्वेद-प्रातिशाख्य की एक टीका से मिलता है। विष्णुमित्र अपनी वृत्ति के आरम्भ में कहता है—

> लेख्यदोषनिवृत्त्यर्थं विस्तरार्थं क्वचित् क्वचित्।
> ज्ञातार्थपाठनार्थं च योज्यते सा मया पुन.॥

अर्थात्, लिखने की भूलो को मिटाने के लिए, कही कही विस्तार के लिए, और ज्ञात अर्थ को पढाने के लिए मैं (इस वृत्ति को) पुन ठीक (अर्थात् प्रति-सस्कृत) करने लगा हूँ।

प्रतिसस्करण के विषय मे ऊपर जो कुछ कहा है, उसकी यदि हम आजकल की परिपाटी से तुलना करें, तो यही कहना होगा कि जहाँ आजकल एक सपादक किसी प्राचीन (या नवीन) ग्रन्थ का सपादन करते हुए अनेक पाद-टिप्पणी आदि से उसे पूर्णाङ्ग कर देता है और साथ ही उस ग्रन्थ के मूल-स्वरूप की रक्षा करता है, अपनी पाद-टिप्पणियो आदि को उसमे नही मिला देता, वहाँ प्राचीन समय में एक प्रतिसस्कर्ता अपनी टिप्पणियो आदि को मूल-ग्रन्थ में ही मिला देता था। साथ ही उनके सपादन या सस्करण में कही अधिक स्वतत्रता से काम लेता था।

उपसंहार

सस्कृत-साहित्य की कुछ समस्याओ का समाधान करते हुए ऊपर हमने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि सस्कृत-साहित्य में ग्रन्थ-निर्माण की परिपाटी का इतिहास क्या है। ग्रन्थ-निर्माण के सबन्ध में भी प्रवक्ता, ग्रन्थकर्ता, सस्कर्ता या प्रतिसस्कर्ता आदि के भेद को समझ लेने से तथा एतद्विषयक आधुनिक परिपाटियो के साथ प्राचीन प्रथा की तुलना करने से अनेक कठिनाइयो का सरलता से समाधान हो जाता है। सस्कृत-साहित्य के क्रमिक इतिहास को लिखने वाले के लिए इन बातो को समझने की कितनी अधिक उपयोगिता है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं है।

इसी सबन्ध में और भी अनेक उपयोगी विचार उठते हैं, जैसे, सहिताकार, प्राचीन काल में ग्रन्थ-प्रचार के कुछ विचित्र उपाय, ग्रन्थ-निर्माण में चोरी, ग्रन्थ-निर्माण और साम्प्रदायिकता, खिल और प्रक्षेप, ग्रन्थो में प्राचीन ग्रन्थो के उद्धरण, आदि, आदि। इन पर विचार करना उपयोगी होने के साथ साथ मनोरञ्जक भी होगा। इन पर हम फिर कभी क्रमशः विचार करना चाहते हैं।

—o—

द्वितीय परिशिष्ट

(ख)

वेदों का वास्तविक स्वरूप

अथवा

वेदों के महान् आदर्श

'भद्रं नो अपि वातय मन'

(ऋग्० १०।२०।१)

माननीय विद्वद्गण तथा प्रिय ब्रह्मचारियो,

इस सुप्रसिद्ध गुरुकुल विश्वविद्यालय की स्वर्ण-जयन्ती के शुभ अवसर पर **वेद-सम्मेलन** के सभापति-पद के लिए जो मुझे निमन्त्रित किया गया है उसके लिए मैं इस समारम्भ के संयोजक महानुभावों का आभारी हूँ।

वेद और वैदिक वाङ्मय अतीव विस्तृत होने के साथ-साथ अत्यन्त गम्भीर भी है। मैं उसका न तो पारावारविद् विद्वान् हूँ, न उसके कर्तव्यपथ का सफल यात्री हूँ। तो भी, वेद से मुझे अपने जीवन में सदा प्रकाश और प्रेरणा प्राप्त होती रही है, वैदिक आदर्शों और भावनाओं में मुझे अगाध श्रद्धा है, और चिरकाल से मैं वैदिक साहित्य का अनुशीलन करता रहा हूँ। मेरी दृढ धारणा है कि न

---

१ गुरुकुल विश्व-विद्यालय, कांगड़ी, के स्वर्ण-जयन्ती-महोत्सव (मार्च १९५०) पर वेद-सम्मेलन के सभापति-पद से दिया गया ग्रन्थकार का भाषण।

केवल भारतीय सस्कृति के अभ्युत्थान के लिए, किन्तु समस्त मानव-समाज के कल्याण के लिए भी, वैदिक आदर्शो और उदात्त भावनाओ की आवश्यकता है। इसी लिए उक्त निमन्त्रण को स्वीकार करना मैंने अपना कर्तव्य समझा।

वेद और आचार्य दयानन्द

आज ससार मे यह असभव है कि वेद के विषय मे कोई गम्भीर विचार किया जाए और उसमे, शताब्दियो क्या सहस्राब्दियो में, वेदो के अद्वितीय विद्वान् आचार्य स्वामी दयानन्द का विशेष उल्लेख न हो। तो भी, वहुत कम लोग हैं जो वेद के विषय मे आचार्य दयानन्द की अनोखी देन को वास्तव मे समझते हैं। इसलिए वेद के विषय मे कुछ भी कहने के प्रथम, वेद-विषयक आधुनिक परिस्थिति को समझने के उद्देश्य से, उस परिस्थिति के लाने वालो में प्रमुख स्थान रखनेवाले उन आचार्य के कार्य की पृष्ठभूमि का यहाँ निर्देश करना हम आवश्यक समझते हैं।

इसमें किस को सन्देह हो सकता है कि चिरन्तन काल से वेद भारतीय संस्कृति के प्रकाशस्तम्भ रहे हैं। भारतीय समाज के सगठन और उसकी जीवन-चर्या के नियमन और व्यवस्थापन के साथ-साथ उसकी आध्यात्मिक तथा अन्य उदात्त भावनाओ की प्रेरणा में भी वेद का प्रमुख स्थान रहा है।

व्यवस्थितार्यमर्याद कृतवर्णाश्रमस्थिति।
त्रय्या हि रक्षितो लोक प्रसीदति न सीदति॥

(अर्थशास्त्र १।३)

इस प्रकार आचार्य कौटिल्य ने स्पष्टतया सामाजिक व्यवस्था द्वारा वेद के लोक कल्याणकारी प्रभाव का उल्लेख किया है।

वेदो से हमारी जाति को समय-समय पर ओज और वल प्राप्त होता रहा है।

भारत के महापुरुषो के जीवनो मे जो लोकोत्तर महत्ता पायी जाती है उसमें साक्षात् या असाक्षात् रूप से देश के वातावरण में व्याप्त वैदिक उदात्त भावनाओ का स्पष्ट प्रभाव दिखायी देता है। इसी प्रभाव से प्रेरित होकर भारतीय सस्कृति ने एक वार इतिहास मे मानव-समाज को, न केवल विशाल भारत के क्षेत्र मे, किन्तु देशान्तरो मे भी, सच्ची शान्ति, आध्यात्मिक भावना, सहिष्णुता और प्रेम का सन्देश दिया था।

सक्षेप में, वेद वास्तव मे भारतीय सस्कृति के अक्षय्य निधि हैं और उनके कारण भारतीय संस्कृति संसार में अजर और अमर है।

उपर्युक्त मौलिक कारणो से ही वेद की महिमा तथा वेदाध्ययन की कर्तव्यता को वर्णन करनेवाले वचनो से हमारे शास्त्र भरे पड़े हैं, जैसे

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् । (मनुस्मृति २।६)

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥
(मनु० २।७)

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यं चाप्रमेयञ्च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥
(मनु० १२।९४)

अर्थात्, वेद धर्म का मूल है, वेद सर्वज्ञान से समन्वित है, और वेद सनातन से सबका पथप्रदर्शक रहा है, इत्यादि प्रकार से वेद की महिमा का वर्णन शास्त्रो मे पाया जाता है।

वेदाध्ययन की कर्तव्यता के विषय मे भी—

वेद कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ।
(मनु० २।१६५)

वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ।
(मनु० २।१६६)

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥
(मनु० २।१६८)

शूद्रेण हि समस्तावद् यावद् वेदे न जायते ।
(मनु० २।१७२)

अर्थात्, द्विज का यह कर्तव्य है कि वह समस्त वेद को पढे और उसके रहस्य को जाने। वेद का अभ्यास ब्राह्मण का सबसे बडा तप है। जो द्विज वेद को पढे विना अन्य विषयों में श्रम करता है वह जीता हुआ ही शीघ्र अपने वंश के सहित शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार द्विज के लिए वेदाध्ययन परम आवश्यक बतलाया गया है। यही नही, व्याकरण, निरुक्त आदि वेदाङ्गो का[1] और मीमासा आदि उपाङ्ग कहे

---

[1] दे०—"रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्" (महाभाष्य, पस्पशाह्निक)। 'अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते" (निरुक्त १।१५)। इत्यादि।

केवल भारतीय सस्कृति के अभ्युत्थान के लिए, किन्तु समस्त मानव-समाज के कल्याण के लिए भी, वैदिक आदर्शों और उदात्त भावनाओ की आवश्यकता है। इसी लिए उक्त निमन्त्रण को स्वीकार करना मैंने अपना कर्तव्य समझा।

वेद और आचार्य दयानन्द

आज ससार मे यह असभव है कि वेद के विषय मे कोई गम्भीर विचार किया जाए और उसमे, शताब्दियो क्या सहस्राब्दियो मे, वेदो के अद्वितीय विद्वान् आचार्य स्वामी दयानन्द का विशेष उल्लेख न हो। तो भी, वहुत कम लोग है जो वेद के विषय में आचार्य दयानन्द की अनोखी देन को वास्तव मे समझते है। इसलिए वेद के विषय मे कुछ भी कहने के प्रथम, वेद-विषयक आधुनिक परिस्थिति को समझने के उद्देश्य से, उस परिस्थिति के लाने वालो में प्रमुख स्थान रखनेवाले उन आचार्य के कार्य की पृष्ठभूमि का यहाँ निर्देश करना हम आवश्यक समझते है।

इसमें किस को सन्देह हो सकता है कि चिरन्तन काल से वेद भारतीय संस्कृति के प्रकाशस्तम्भ रहे है। भारतीय समाज के सगठन और उसकी जीवन-चर्या के नियमन और व्यवस्थापन के साथ-साथ उसकी आध्यात्मिक तथा अन्य उदात्त भावनाओ की प्रेरणा में भी वेद का प्रमुख स्थान रहा है।

व्यवस्थितार्यमर्याद कृतवर्णाश्रमस्थिति।
त्रय्या हि रक्षितो लोक. प्रसीदति न सीदति॥

(अर्थशास्त्र १।३)

इस प्रकार आचार्य कौटिल्य ने स्पष्टतया सामाजिक व्यवस्था द्वारा वेद के लोक कल्याणकारी प्रभाव का उल्लेख किया है।

वेदो से हमारी जाति को समय-समय पर ओज और वल प्राप्त होता रहा है।

भारत के महापुरुषो के जीवनो मे जो लोकोत्तर महत्ता पायी जाती है उसमें साक्षात् या असाक्षात् रूप से देश के वातावरण मे व्याप्त वैदिक उदात्त भावनाओ का स्पष्ट प्रभाव दिखायी देता है। इसी प्रभाव से प्रेरित होकर भारतीय सस्कृति ने एक वार इतिहास मे मानव-समाज को, न केवल विशाल भारत के क्षेत्र में, किन्तु देशान्तरो मे भी, सच्ची शान्ति, आध्यात्मिक भावना, सहिष्णुता और प्रेम का सन्देश दिया था।

सक्षेप में, वेद वास्तव मे भारतीय सस्कृति के अक्षय्य निधि है और उनके कारण भारतीय सस्कृति संसार में अजर और अमर है।

गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस, भारतवर्ष की सर्व-प्रमुख संस्कृत-संस्था है। उसकी परीक्षाएँ देश मे सर्वमान्य हैं। पिछले वर्षों मे उसकी परीक्षाओ में १४००० से १७००० तक छात्र बैठते रहे हैं। कहते हैं कि वह अब एक विश्वविद्यालय का रूप धारण करने जा रहा है। इस महान् संस्था के इतिहास पर दृष्टि डालने से भी हमारी चिरकालीन वेद-विषयक अक्षम्य अनास्था ही सिद्ध होती है।

उक्त कालेज की स्थापना सन् १७९१ ई० में वेदादि समस्त शास्त्रो के अध्ययनाध्यापन तथा अनुशीलन के उद्देश्य से उस समय की भारत की सरकार ने की थी। प्रारम्भ में केवल एक वेदाध्यापक रखा गया था। १८०० मे चारो वेदो के अध्यापन के लिए ४ वेदाध्यापक रखे गये। परन्तु छात्रो मे वेद के अध्ययन की ओर से साधारणतया और वेद के अर्थज्ञान की ओर मे सर्वथा उपेक्षा को देख कर अधिकारियो को शीघ्र ही वेदाध्यापन का प्रबन्ध व्यर्थ समझ कर कालेज से हटा देना पडा। इस लम्बे इतिहास मे लगभग १०० वर्षों के पश्चात् १९२२ से पुन केवल शुक्लयजुर्वेद के पढ़ाने का प्रबन्ध कालेज में किया गया। ऐसा करने पर भी, जहाँ अन्य विषयो में सहस्रो छात्र परीक्षा में बैठते हैं, वहाँ वेद (शुक्ल यजुर्वेद में) सहस्र पीछे ५ छात्र भी प्रायः परीक्षा नही देते। वेद के पाठ्य-क्रम की यह स्थिति है कि परम्परागत रूढि के अनुसार यद्यपि, अन्य विषयो की भाँति, वेद का भी पाठ्यक्रम १२ वर्षों का है, तो भी इतने काल में वैदिक संहिता मे केवल १४ अध्यायो का ही अर्थ परीक्षार्थी को पढाया जाता है। प्राचीन शास्त्रीय परम्परा द्वारा अभिमत षडंग वेदाध्ययन की परिपाटी की तो इस पाठ्यक्रम में प्रारम्भ मे ही नितरां उपेक्षा की जाती रही है।

इतनी बडी संस्था के इतिहास से और आजकल के समय मे भी उसके द्वारा जो वेद-विषयक अध्ययनाध्यापन मे नगण्य कार्य हो रहा है उससे हम सरलता से भारतवर्ष में उस समय की वेद के अध्ययनाध्यापन में घोर अनास्था और उपेक्षा का अनुमान लगा सकते हैं जब कि आचार्य दयानन्द ने सोते हुए देश मे वेदोद्धार के अपने महान् कार्य को प्रारम्भ किया था।

भारतवर्ष के इतिहास में अनेकानेक शताब्दियो के पश्चात् उन्होंने वेदो को अँधेरी कोठरी मे निकालकर जगत् के सामने ही न रखा, किन्तु यह भी बतलाया कि प्रत्येक आर्य (अर्थात् शिक्षित या द्विज) के लिए वेदो का पढना-पढाना परम कर्तव्य है। यही नही, उन्होंने ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका जैसी अद्भुत पुस्तक और वेदो के भाष्य लिखकर जो पथ-प्रदर्शन किया है वह सदा के लिए संसार की सपत्ति और हमारे लिए गर्व की वस्तु है।

जाने वाले शास्त्रो का तो प्रयोजन ही वेद की रक्षा, वेदार्थज्ञान की योग्यता का संपादन तथा वैदिक कर्मों का सुचारु रूप से अनुष्ठान आदि बतलाया गया है।

ऐसा होने पर भी, भारत के इतिहास मे एक समय ऐसा आया जब कि मोह और अज्ञान मे फँसकर भारत ने वेदो के महत्त्व और वास्तविक स्वरूप को भुला दिया। मानवसमाज के उत्थान और कल्याण की सार्वभौम प्रेरणाएँ वेदो मे निहित हैं—इस बात को भूल कर वह या तो उन की उपेक्षा ही कर बैठा या उनका उपयोग **"काचमल्येन विक्रीतो हन्त चिन्तामणिर्मया"** इस कहावत के अनुसार प्रायेण साधारण कामनाओ की प्राप्ति के लिए ही करने लगा।[1]

यह जानकर प्राय आश्चर्य होगा कि चिरकाल से ही, साधारण जनता की तो बात ही क्या, सस्कृत का अध्ययनाध्यापन करनेवाले लोगो में भी वेदो के पठन-पाठन की प्रवृत्ति लुप्तप्राय होने लगी थी। इस उपेक्षा के कारणो का निर्देश हम आगे करेंगे। इसमें सन्देह नही कि चिरकाल से भारतवर्ष में यह स्थिति आ गयी थी कि, वेदो के अर्थ-ज्ञान की तो बात ही क्या, वेदो के पाठ-मात्र की प्रवृत्ति भी केवल कुछ नाममात्र के वैदिक लोगो में ही परिमित हो गयी थी। ऐसी परिस्थिति में वैदिक कर्मकाण्ड प्राय नि शेष ही हो गया था; जो कुछ शेष था वह भी उन लोगो द्वारा कराया जाता था जो प्राय अर्थज्ञान से सर्वथा शून्य होते थे। वास्तव मे अपनी सस्कृति के रत्नभूत वेदो को हमने घर की एक अँधेरी कोठरी में फेक दिया था।

चिरकाल से वेद-विषयक अध्ययनाध्यापन की गिरती हुई दशा पिछली कुछ शताब्दियो मे तो अपनी चरम काष्ठा को पहुँच गयी थी। उसका प्राय. ठीक-ठीक अनुमान हम दो चार बातो से कर सकते है।

जिन लोगो का सपर्क प्राचीन हस्त-लिखित ग्रन्थो की शोध से रहा है वे जानते है कि, वैदिक कहे जाने वाले लोगो के घरो को छोड़कर, विभिन्न विषयो के प्राचीन सुप्रसिद्ध पण्डितो के भी वश में जहाँ कही सस्कृत की प्राचीन हस्त-लिखित पोथियाँ पायी जाती हैं उनमे प्रायेण वैदिक ग्रन्थो का, विशेषत वैदिक सहिताओ की पोथियो का, अभाव पाया जाता है। इससे यही सिद्ध होता है कि हमारे देश में अध्ययनाध्यापन की परम्परा में वेद की उपेक्षा चिरकाल से ही चली आ रही है।

---

१. इसी दृष्टि से गीता में वेदो के विषय में ऐसे वचन मिलते हैं:—*"एव त्रयीधर्म-मनुप्रपन्ना गतागत कामकामा लभन्ते।"* (गीता ९।२१)। *"यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानत ॥"* (गीता २।४६)।

गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस, भारतवर्ष की सर्व-प्रमुख संस्कृत-संस्था है। उसकी परीक्षाएँ देश मे सर्वमान्य हैं। पिछले वर्षों में उसकी परीक्षाओ में १४००० से १७००० तक छात्र बैठते रहे हैं। कहते हैं कि वह अब एक विश्वविद्यालय का रूप धारण करने जा रहा है। इस महान् संस्था के इतिहास पर दृष्टि डालने से भी हमारी चिरकालीन वेद-विषयक अक्षम्य अनास्था ही सिद्ध होती है।

उक्त कालेज की स्थापना सन् १७९१ ई० मे वेदादि समस्त शास्त्रो के अध्ययनाध्यापन तथा अनुशीलन के उद्देश्य से उस समय की भारत की सरकार ने की थी। प्रारम्भ में केवल एक वेदाध्यापक रखा गया था। १८०० में चारो वेदो के अध्यापन के लिए ४ वेदाध्यापक रखे गये। परन्तु छात्रो में वेद के अध्ययन की ओर से साधारणतया और वेद के अर्थज्ञान की ओर से सर्वथा उपेक्षा को देख कर अधिकारियो को शीघ्र ही वेदाध्यापन का प्रबन्ध व्यर्थ समझ कर कालेज से हटा देना पडा। इस लम्बे इतिहास मे लगभग १०० वर्षों के पश्चात् १९२२ से पुन केवल शुक्लयजुर्वेद के पढाने का प्रबन्ध कालेज में किया गया। ऐसा करने पर भी, जहाँ अन्य विषयो में सहस्रो छात्र परीक्षा में बैठते हैं, वहाँ वेद (शुक्ल यजुर्वेद मे) सहस्र पीछे ५ छात्र भी प्रायः परीक्षा नही देते। वेद के पाठ्य-क्रम की यह स्थिति है कि परम्परागत रूढि के अनुसार यद्यपि, अन्य विषयो की भाँति, वेद का भी पाठ्यक्रम १२ वर्षों का है, तो भी इतने काल मे वैदिक संहिता में केवल १४ अध्यायो का ही अर्थ परीक्षार्थी को पढाया जाता है। प्राचीन शास्त्रीय परम्परा द्वारा अभिमत सषडग वेदाध्ययन की परिपाटी की तो इस पाठ्यक्रम में प्रारम्भ से ही नितरा उपेक्षा की जाती रही है।

इतनी बडी संस्था के इतिहास से और आजकल के समय मे भी उसके द्वारा जो वेद-विषयक अध्ययनाध्यापन मे नगण्य कार्य हो रहा है उसे हम सरलता से भारतवर्ष में उस समय की वेद के अध्ययनाध्यापन में घोर अनास्था और उपेक्षा का अनुमान लगा सकते हैं जब कि आचार्य दयानन्द ने सोते हुए देश में वेदोद्धार के अपने महान् कार्य को प्रारम्भ किया था।

भारतवर्ष के इतिहास में अनेकानेक शताब्दियो के पश्चात् उन्होने वेदो को अँधेरी कोठरी से निकालकर जगत् के सामने ही न रखा, किन्तु यह भी बतलाया कि प्रत्येक आर्य (अर्थात् शिक्षित या द्विज) के लिए वेदो का पढना-पढाना परम कर्तव्य है। यही नही, उन्होने ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका जैसी अद्भुत पुस्तक और वेदो के भाष्य लिखकर जो पथ-प्रदर्शन किया है वह सदा के लिए संसार की संपत्ति और हमारे लिए गर्व की वस्तु है।

परन्तु वेद के विषय में आचार्य दयानन्द का सबसे बड़ा महत्त्व, हमारे मत में, इस बात में है कि उन्होने हमको 'वेद के मन्त्र केवल कर्मकाण्ड-स्वरूप यज्ञ के साधन हैं' (मन्त्राश्च कर्मकरणाः[1]) और अत एव 'उनका अर्थ ही नहीं होता अथवा उनके अर्थज्ञान की आवश्यकता नहीं है' (अनर्थका हि मन्त्राः[2]) इन कृत्रिम सिद्धान्तो से हटाकर, वेद को उसके मौलिक स्वरूप में, सार्वभौम और उदात्त मानवधर्म की प्रतिपादक पुस्तक के रूप में, देखने का फिर से वह मार्ग दिखलाया जो प्राय सहस्रो वर्षों से हमसे तिरोहित हो चुका था।

वेद और पाश्चात्य विद्वान्

इसमें सन्देह नही कि लगभग आचार्य दयानन्द के समय से या उनके कुछ पहले से ही पाश्चात्य विद्वानो का भी ध्यान वैदिक साहित्य की ओर जा चुका था और उन्होने उस विषय में अपना अनुसधान भी प्रारम्भ कर दिया था। वैदिक विद्वानो से छिपा नही है कि पाश्चात्य विद्वानो ने वैदिक साहित्य के विषय मे जो कार्य किया है वह कितना उपयोगी और महान् है। उसके लि वे हमारी भूरि-भूरि प्रशसा के पात्र हैं। परन्तु ऐसा होने पर भी उनके और आचार्य दयानन्द के वेद-विषयक कार्यों की तुलना नही हो सकती। दोनो की दृष्टि, पद्धति और उद्देश्यो मे इतना मौलिक अन्तर है कि दोनो को, तुलना के लिए आवश्यक, एक समान धरातल पर ही नही रखा जा सकता।

पाश्चात्य विद्वानो की दृष्टि, पद्धति और उद्देश्य उस वैज्ञानिक के समान हैं जो रसायन-शाला मे दुग्ध जैसे उपयोगी पदार्थों का केवल परीक्षणार्थ विश्लेपण कर डालता है, या एक मृत शरीर की चीर फाड करता है, या खुदाई से प्राप्त पुरातत्त्व-सम्बन्धी एक शिलालेख को पढने की चेष्टा करता है। वैज्ञानिक के लिए उन पदार्थों का अपने-अपने रूप में कोई मूल्य नही होता।

आचार्य दयानन्द के वेद के विषय मे दृष्टि, पद्धति और उद्देश्य ठीक इसके विपरीत थे। वेद उनके लिए कोरी उत्सुकता का विषय न होकर, ताज़े दूध, जीवित मनुष्य, अथवा एक मान्य पुस्तक की भाँति, अपना विशेप महत्त्व रखते थे। वास्तव में वे वेदो को, न केवल भारतीय समाज, अपितु मानव समाज के लिए एक पथ-प्रदर्शक अजर-अमर साहित्य समझते थे।

इसी मौलिक भेद के कारण दोनो के वेद-विपयक कार्यों की तुलना ही नही हो सकती। इसी लिए एक भारतीय के नाते हमारे लिए आचार्य दयानन्द

---

१ देखिए—आश्वलायन-श्रौत-सूत्र (१।१।२१)। २. देखिए—निरुक्त (१।१५)

का कार्य अनोखा मूल्य और महत्त्व रखता है। वेदो के विषय में आचार्य दयानन्द ने जो आँख हमको दी है उसकी महत्ता को शनै शनै देश समझेगा। उन्होंने केवल हमारा पथ-प्रदर्शन किया था। यह खेद की बात है कि हम अभी तक उस मार्ग पर अग्रसर नही हुए है। तो भी इसमें सन्देह नही कि आज भारत मे जो कुछ वैदिक साहित्य की ओर विद्वानो और जनता की प्रवृत्ति और रुचि दिखायी दे रही है उसमे वहुत वडा भाग आचार्य दयानन्द की प्रेरणा और प्रयत्न का है। निश्चय ही भारत की स्वतत्रता के पश्चात् भारतीय सस्कृति के पुनरुद्धार की देशव्यापी कामनाके साथ-साथ वेद और वैदिक साहित्यमे जनताकी प्रवृत्ति और रुचि भी वढनी चाहिए। इसलिए आज हम विशेषत. ऐतिहासिक पर्यवेक्षण द्वारा वेदो के वास्तविक स्वरूप और महत्त्वको दिखलाते हुए, भविष्य में उनके स्वाध्याय और अनुशीलन की दिशा तथा आवश्यकताओ को भी वतलाना चाहते है।

ऐतिहासिक पर्यवेक्षण

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥
(यजु० ३१।७)

"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः..." (वृहदारण्यकोपनिषद् २।४।१०)।

इस प्रकार वेद की अद्भुत महिमा के वचनो से सस्कृत साहित्य भरा पडा है। निश्चय ही वेद की परम्परा का इतिहास निश्चित 'इतिहासकाल' की ही वात नही है। साथ ही वेद के स्वरूप के विषय में, विशेषत अर्थ की दृष्टि से, अनेक प्रकार के मत प्राचीन ग्रन्थो में भी पाये जाते है। यदि केवल निरुक्त को ही ले लिया जाए, तो भी कम से कम **नैरुक्ता, याज्ञिका, ऐतिहासिका, आख्यानवादिन**—ये मत तो स्पष्ट रीति से वेद-मन्त्रो की व्याख्या के विषय में पाये जाते है। प्राय इन सव ही मतो को लेकर सस्कृत में वेद-विषयक साहित्य थोडा-वहुत पाया जाता है। वेद का स्वाध्याय करने वालो के मन में इन वादो को देखते हुए वडी उलझन पैदा हो जाती है। इसलिए इस ग्रन्थि को खोलना, न केवल वैदिक स्वाध्याय के लिए, किन्तु वेद की आधुनिक जगत् में उपयोगिता की दृष्टि से भी, अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए सवसे प्रथम हमारा कर्तव्य है कि हम वैदिक परम्परा के वास्तविक इतिहास को समझें।

हमारे मत में इनका सवसे अच्छा समाधान **निरुक्त** के निम्नलिखित वचन से होता है—

"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च।"

(निरुक्त १।२०)

इस उद्धरण में स्पष्टतया **वैदिक परम्परा की तीन अवस्थाओ** का वर्णन है। **प्रथम अवस्था मन्त्रो के साक्षात्कार की है।** जिन पर मन्त्रो का साक्षात्कार हुआ वे स्वय 'साक्षात्कृतधर्माण' थे। इसका अभिप्राय यही हो सकता है कि वेदो के मन्त्र उनके लिए केवल बौद्ध ज्ञान न थे, किन्तु उनके जीवन के साथ उनका एकात्मभाव था। अर्थात् अग्नि, वायु, आदित्य आदि देवताओ द्वारा प्रतिपालित ऋतरूप आधिदैविक धर्म और मनुष्य द्वारा अनुसरणीय सत्यरूप आध्यात्मिक धर्म के समन्वय का, या एकरूपता का, जो कि वैदिक मन्त्रो का परम प्रतिपाद्य विषय है, प्रत्यक्ष प्रदर्शन उन ऋषियो की जीवनचर्या में था। दूसरे शब्दो में, वेदो की उस प्रथम अवस्था में ऋषियो का जीवन ही वैदिक मन्त्रो की जीती जागती व्याख्या थी। हमारी समझ मे **मनुस्मृति** का

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥

(मनु० १।२३)

यह प्रसिद्ध श्लोक इसी अवस्था का वर्णन करता है।

इसके पश्चात् उन लोगो की परम्परा चली जिनको उन ऋषियो के उपदेश के सम्प्रदाय से मन्त्रो की प्राप्ति होती रही और उनके जीवन को भी ऋषियो के जीवन से प्रेरणा और वैदिक जीवन का आदर्श मिलता रहा। **यही वैदिक परम्परा की द्वितीय अवस्था थी।** शास्त्रो में वर्णित वास्तविक 'श्रुति' काल यही था।

यही उपर्युक्त दो अवस्थायें वास्तव में ऐसी थीं जब कि वैदिक आदर्शो का जीता जागता रूप, न केवल शाब्दिक परम्परा के रूप में, किन्तु जीवन में वस्तुत पायी जानेवाली वैदिक उदात्त भावनाओ के रूप में भी, जगत् में विद्यमान था। निश्चय ही उस दिव्य जीवन और अवस्था का ज्ञान हमें यदि हो सकता है तो केवल वेद के मन्त्रो से ही हो सकता है। उत्तर-कालीन साहित्य, चाहे वह कितना ही प्राचीन क्यो न हो, उस अवस्था को ठीक-ठीक अनुभव करने के लिये हमारा सहायक नही हो सकता।

यही वह समय था जब कि हमारे पूर्वज वास्तव में, अपने प्रतिदिन के जीवन में, प्रकृति-माता की गोद मे मानो बच्चो की तरह खेलते हुए, परमात्मा

के विभूति-रूप सूर्य, वायु, उषा आदि देवताओं के साथ मानो सखा-भाव से विचरते और बातचीत करते हुए

एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात् ।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति ॥
(ऋग्० १।१२४।३)

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥
(ऋग्० १।११५।१)

वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे ।
प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥
(ऋग्० १०।१८६।१)

ऐसे दिव्य गीतो को गाते थे ।

वास्तव में इसी युग की मन्द स्मृति को पुराणो मे मनुष्यो के बीच मे देवताओ के आने और वार्तालाप करने के रूप मे वर्णन किया है। यही वह समय था जिसको पुराणो आदि के साहित्य में सत्ययुग का नाम दिया गया है।

इसके पश्चात् वह समय आया जब कि वास्तविक जीवन-चर्या और मन्त्रो के आदर्शो मे विभिन्नता आ गयी और इसी कारण जीवन और आदर्शो की एकता से उपदेश मे जो प्रतिसङ्क्रमण या प्रतिफलन की सामर्थ्य होती है उसके नष्ट होने से उपदेश के प्रति लोगो की अनास्था होने लगी। इसी कारण इस अवस्था मे वैदिक मन्त्रो और उनके अर्थो की परम्परा को जारी रखने की दृष्टि से वेदाङ्गो की सृष्टि हुई।

यही वह अवस्था थी जब कि हमारी सम्मति मे उस विस्तृत वैदिक (श्रौत) कर्मकाण्ड का विस्तार और संग्रन्थन किया गया, जिसका वर्णन ब्राह्मण-ग्रन्थो और श्रौतसूत्रो में है। इसी बात का वर्णन

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यं-
स्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि ।
(मुण्डकोपनिषद् १।२।१)

(अर्थात्, मन्त्रो मे देखे गये कर्मो को ही पीछे से विस्तृत किया गया) इस उपनिषद्-वाक्य मे किया गया है।

इसी बात का आलंकारिक वर्णन श्रीमद्भागवत (स्कन्ध ११।५) में इस प्रकार मिलता है—

कृतं त्रेता द्वापर च कलिरित्येषु केशवः ।
नानावर्णविधाकारो नानैव विधिनेज्यते ।।
मनुष्यास्तु तदा शान्ता निर्वैराः सुहृदः समाः ।
यजन्ति तपसा देवं शमेन च दमेन च ।।

... ...

त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ चतुर्बाहुस्त्रिमेखलः ।
हिरण्यकेशस्त्रय्यात्मा स्रुक्स्रुवाद्युपलक्षणः ।।
तं तदा मनुजा देवं सर्वदेवमयं हरिम् ।
यजन्ति विद्यया त्रय्या धर्मिष्ठा ब्रह्मवादिनः ।।

इस वर्णन में स्पष्टतया कर्मकाण्डात्मक यज्ञ के स्रुक्, स्रुवा आदि उपकरणो का वर्णन सत्ययुग के अनन्तर त्रेतायुग में किया गया है।

वैदिक कर्मकाण्ड का विकास और ह्रास

यो तो धार्मिक कर्मकाण्ड की भावना मनुष्य में स्वाभाविक है। जैसे एक बच्चा भी प्रकृति के सुन्दर दृश्यो को देखकर अपने उल्लास को दबाने में अशक्त होकर उछलने कूदने लगता है, इसी प्रकार मनुष्य भी प्राकृतिक देवताओं के सपर्क में एक अद्भुत उल्लास से प्रभावित होकर बाह्य चेष्टा द्वारा उसको अभिव्यक्त करना चाहता है। इसी आधार पर विभिन्न कर्मकाण्डो का विकास हुआ है। इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति के सहारे विभिन्न जातियो मे, साधारण जनो के आकर्षण और मनोरञ्जन की दृष्टि से, विभिन्न आदर्शों को मूर्त्त या ऐन्द्रियक रूप देने के लिए समय-समय पर विभिन्न कर्मकाण्डो का विकास होता रहता है।

मनुष्य समाज की यह एक सार्वकालिक प्रवृत्ति है, और इसकी आवश्यकता भी है, पर शनै-शनै कर्मकाण्ड मे वह अवस्था आ जाती है जब कि वह जटिल होने लगता है और उसके सचालन के लिए समाज में एक विशिष्ट पुरोहित-वर्ग की आवश्यकता होने लगती है। प्रारम्भ में पुरोहित-वर्ग समाज में से ही बनने के कारण नियन्त्रित होने के साथ साथ सयत भी होता है।

पर कुछ काल के अनन्तर कर्मकाण्ड के विकास में कलियुग की अवस्था आने लगती है। इसका दुष्प्रभाव उभयतोमुखी होता है।

एक ओर तो जनता में आलस्य और अकर्मण्यता की भावना के साथ-साथ यह विचार उत्पन्न हो जाता है कि उसका उपास्य देव उससे दूर और उसकी पहुँच से बाहर है। वह पुरोहितवर्ग का सहारा ढूंढने लगती है और अन्त में अपनी कर्तव्यता का सारा भार पुरोहितवर्ग पर छोडकर धर्म में वकालत या प्रातिनिध्य के सिद्धान्त को मानने लगती है। इससे उसकी रही सही नैतिकता भी समाप्त हो जाती है।

दूसरी ओर पुरोहित लोग, जो प्रारम्भ में अर्थत पुर.+हित अर्थात् नेता का काम करते हैं, शनैःशनैः जनता को अपने स्वार्थ के लिए दुहने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझने लगते हैं। इस अवस्था में कर्मकाण्ड दिन दूना रात चौगुना बढने लगता है। क्योंकि पुरोहितवर्ग का हित इसी में होता है कि, वकीलों के पञ्जे में फँसे मुवक्किलों की तरह, जनता साधारण से साधारण बात के लिए उस पर आश्रित होकर उस के लाभ का साधन बने।

ससार की विभिन्न जातियों के इतिहास मे कर्मकाण्ड के विकास के (जो कि क्रमश अपकास का ही रूप धारण कर लेता है) इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। भारतवर्ष में भी वैदिक कर्मकाण्ड का विकास इसी प्रकार हुआ था।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में ही कर्मकाण्ड की उक्त प्रवृत्ति का उल्लेख स्पष्ट शब्दों में मिलता है, जैसे—

"यथा ह वा इद निषादा वा सेऽगा वा पापकृतो वा वित्तवन्तं पुरुषमरण्ये गृहीत्वा कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति, एवमेव त ऋत्विजो यजमानं कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति यमनेवंविदो याजयन्ति"।

(ऐतरेयब्राह्मण ८।११)

(नेऽगा =चौरा । कर्तमन्वस्य=गर्ते प्रक्षिप्येत्यर्थ)।

अर्थात् यज्ञ के वास्तविक स्वरूप को न जानकर जो ऋत्विज् कर्मकाण्ड कराते हैं वे वास्तव में यजमान को लूटने वाले लुटेरे होते हैं।

इसी प्रकार **ऐतरेय-ब्राह्मण** (३।४६) में ऐसे ऋत्विजों की निन्दा है जो लोभ भय या अनाचार के वशीभूत होकर यज्ञ कराते हैं।

सब से भयानक स्थल ब्राह्मणादि ग्रन्थों के वे हैं जहाँ यह बतलाया है कि ऋत्विज् यदि चाहे तो अपने ही यजमान को विभिन्न प्रकार की हानि कैसे पहुँचा सकता है। उदाहरणार्थ, **ऐतरेय--ब्राह्मण** के अध्याय ११ खण्ड ४ में विस्तार से बतलाया है कि होता यदि चाहे तो यजमान को अपने मन्त्रों के पाठ में गड़बड़ करके अनेक प्रकार की हानि पहुँचा सकता है, यहाँ तक कि उसको अन्धा कर सकता है या उसको मार भी सकता है। उदाहरणार्थ ऐ० ब्रा० के निम्नस्थ वचन को देखिए—'**यं कामयेत प्राणेनैनं व्यर्धयानीति वायव्यमस्य लुब्धं शंसेदृचं वा पदं**

(३) अधियज्ञ दृष्टि

उक्त कर्मकाण्ड की अन्तिम अवस्था में यज्ञ की प्रक्रिया को ही एक यन्त्र (मशीन) की स्थानीय मानकर तत्तद् याग आदि को ही समष्टिरूप से **अपूर्व** का उत्पादक माना जाने लगा था। इस दृष्टि मे तत्तद् देवता की स्वतन्त्र सत्ता को भी, उसके द्वारा बाधा के भय से, न मानकर **'मन्त्रमयी देवता'** इस मीमासा के सिद्धान्त का मानना आवश्यक हो गया था।

इसी अधियज्ञ दृष्टि के कारण वस्तुत **"अनर्थका हि मन्त्राः"**, **"ब्राह्मणा (ऋत्विग्रूपाः) वै भूमिदेवा"**[1] ऐसे सिद्धान्तो की शनै-शनै प्रवृत्ति हुई। **महाभाष्य** का **"वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति। वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः"** (पस्पशाह्निक) यह कथन भी वास्तव मे उसी परिस्थिति का द्योतक है। इसी दृष्टि के दुरुपयोग के कारण 'वैदिक कर्मकाण्ड बढते-बढते जनता के ऊपर भारभूत हो गया, उस मे वैदिक भावनाओ की मौलिक नैतिकता का आधार भी प्राय नही रहा, और इसी लिए अन्त मे जनता से वह उठ गया। यही समय था जब कि नैतिकता-प्रधान जैन और बौद्ध धर्मों का उदय भारतवर्ष में हुआ।

आधुनिक हिन्दुधर्म मे शुष्क कर्मकाण्ड मे कृतकृत्यता की भावना का मूल वैदिक कर्मकाण्ड के विकास की यही अन्तिम अधियज्ञ दृष्टि है।

वेदों के महान् आदर्श

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रायेण शुष्क और आदर्शहीन याज्ञिक कर्मकाण्ड की धारा के प्रवाह मे बहते हुए हम वेद के वास्तविक आदर्शों और भावनाओ से बहुत दूर पहुँच गये है, लगभग ऐसे रेगिस्तान में जहाँ वह धारा ही सूखने को आगयी है। वेदो का हमारे जातीय जीवन से प्राय कोई सबध नहीं रह गया है। हमारे देश मे प्रायेण वैदिकता यदि कुछ शेष है तो केवल इस रूप में कि यदा कदाचित् समाज में विवाह आदि के अवसर पर कुछ वेद-मन्त्र, शुद्ध या अशुद्ध, किसी पुरोहित द्वारा पढ दिये जाते है—जिन मन्त्रो के अर्थों को अधिकतर न तो पढने वाला और न सुनने वाले ही समझते है।

देखना यह है कि हमको, हमारे देश को और ससार को वास्तव में वेदो की उपयोगिता या आवश्यकता है भी या नहीं। यदि वास्तव मे नही है, तो हमारे

१ देखिए—"द्वाया पै देवा देवा अहैव देवा अथ ब्राह्मणा शुश्रुवासोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः।" (शतपथब्राह्मण ४।३।४।४)

पूर्वजो ने प्रागैतिहासिक काल से उनकी परम्परा की रक्षा ऐसे प्रकार से, महान् कष्टो को झेलकर भी क्यो की, जिसका दूसरा उदाहरण ससार मे अन्यत्र नहीं मिलता ? और ऋषि, मुनि, आचार्यों ने, जिनकी वास्तविक महत्ता के कारण ससार उनका आज भी समान करता है, उनके बराबर गीत क्यो गाये है ?

यह स्पष्ट है कि वैदिक कर्मकाण्ड की उच्छिन्नप्राय परम्परा के आधार पर वेदो की उपयोगिता या महत्ता को हम ससार के सामने सिद्ध नहीं कर सकते। उसके द्वारा ही तो वैदिक परम्परा को धक्का लगा है, यहाँ तक कि उस कर्मकाण्ड ने ही अपने प्राचीन वैदिक रूप को छोड कर अब एक नया रूप धारण कर लिया है। इसलिए अब तो हमें वेद के विचारो और आदर्शो को ही कसौटी पर रख कर देखना चाहिये कि उनका मूल्य कितना है। वास्तव मे जैसे सूर्य के प्रकाश के लिए दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नही होती, इसी प्रकार वेद की महत्ता को सिद्ध करने के लिए वेद की ही सहायता लेनी चाहिये। इस लिए हम इसी आधार पर अपना परीक्षण प्रारम्भ करते हैं।

वैदिक देवतावाद

वेद को पढते ही सबसे प्रथम समस्या जो पढने वाले के सामने उपस्थित होती है वह तत्तद्-देवता को लेकर स्तुति की है। आपातत यही प्रतीत होता है कि वह बहुदेवतावाद के सिद्धान्त पर आश्रित है। पर गम्भीर अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि किन्ही अर्थो में तत्तद्देवता का विचारकृत अपना व्यक्तित्व होने पर भी वह अन्यस्थानीय तथा अन्यान्य कर्म करने वाले देवताओ के साथ एकसूत्रता मे अनुस्यूत है। स्पष्टत उनका मूलरूप अध्यात्म है, जिसकी कार्मिक दृष्टि से विभिन्न प्रतीति को ही तत्तद्देवता का नाम दिया गया है। वेद के "तदेवाग्निस्तदादित्य" (यजु० ३२।१) आदि मन्त्र तथा गीता का विभूतिवाद इसी सिद्धान्त की व्याख्या करते है।

वैदिक देवता-वाद का लक्ष्य यही है कि विश्वप्रपञ्च की प्रत्येक विभूति मे उसके द्वारा उस परमतत्त्व का साक्षात्कार किया जावे जिसका योगी लोग बडी तपस्या और साधना से अपने अन्दर साक्षात्कार करना चाहते है, पर कर पाते है या नही, यह सदिग्ध है।

वैदिक देवतावाद प्राकृतिक दैवी शक्तियो के साथ मनुष्य-जीवन के सामीप्य की ही नही, तादात्म्य की भी, आवश्यकता को बतलाता है। वास्तव मे आज के जगत् की यह एक अत्यन्त आवश्यकता है, जब कि यन्त्रो और वैज्ञानिक आविष्कारो के प्रभाव ने हमारा जीवन प्रकृति और स्वाभाविकता से बहुत दूर होता जा रहा है। वानप्रस्थाश्रम, तीर्थों की यात्रा, मुनियो के आश्रम, तथा गुरुकुलो

की परम्परा का स्मरण रखने वाली भारतीय सस्कृति का सदा से उक्त सदेश मानव-जाति के लिए रहा है। आज ससार को इसकी और भी अधिक आवश्यकता है।

एक बात यहाँ कह देना आवश्यक है। आज-कल वेद के व्याख्याता अग्नि, इन्द्र आदि वैदिक देवताओ के स्वरूप की व्याख्या प्रकाशमान ईश्वर, ऐश्वर्यशाली परमेश्वर इत्यादि प्रकार से ही कर देना पर्याप्त समझते हैं। पर क्या इनका प्रयोग वेद में विशेषण रूप से ही है? ऐसा तो नहीं प्रतीत होता। तत्तद् देवताओ के लिए निश्चित रूप से विभिन्न स्थिर नाम देने का अभिप्राय उन के स्थिर निश्चित स्वरूप से अवश्य होना चाहिये।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥

(गीता १५।१४)

गीता के इस वचन से इसी बात का कुछ सकेत मिलता है। इसलिए हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकतर वैदिक देवताओ के विशिष्ट मौलिक स्वरूप को समझने की अपेक्षणीय चेष्टा अभी तक नहीं की गयी है। **अश्विनौ, त्वष्टा, पूषा, नराशंसः, मित्रः** आदि ऐसे ही नाम हैं। इस सबध में तत्तद् देवताओ के विशिष्ट वर्णनो के गभीर अध्ययन की आवश्यकता है।

ऋत और सत्य

उदात्त वैदिक भावनाओ का मौलिक आधार ऋत और सत्य का सिद्धान्त है। जिस प्रकार वैदिक देवता-वाद का लक्ष्य एकसूत्रीय परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार है, इसी प्रकार ऋत और सत्य के सिद्धान्त का अभिप्राय सारे विश्व-प्रपञ्च में व्याप्त उसके नैतिक आधार से है। इस आधार के दो सिरे या रूप हैं। वाह्य जगत् की सारी प्रक्रिया विभिन्न प्राकृतिक नियमो के अधीन चल रही है। परन्तु उन सारे नियमो में परस्पर विरोध न होकर एकरूपता या ऐक्य विद्यमान है। इसी को **ऋत** कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन के प्रेरक जो भी नैतिक आदर्श हैं उन सबका आधार सत्य है। अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति सच्चा रहना, यही वास्तविक धर्म है। परन्तु वैदिक आदर्श, इससे भी आगे बढकर, ऋत और सत्य को एक ही मौलिक तथ्य के दो रूप मानता है। इसके अनुसार मनुष्य का कल्याण प्राकृतिक नियमों और आत्मिक नियमो में परस्पर अभिन्नता को समझते हुए उसके साथ अपनी एकरूपता के अनुभव में ही है।

ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति ।

(ऋग्० ४।२३।८)

सा मा सत्योक्तिः परि पातु विश्वतः ।

(ऋग्० १०।३७।२)

इत्यादि मन्त्रो मे ऋत और सत्य की ही महिमा का वर्णन है।

मनुष्य अपने प्रति सच्चा रहे और प्राकृतिक नियमो का भी पालन करे इससे अधिक कल्याणकारी उपदेश मनुष्य के लिए क्या हो सकता है?

वैदिक उदात्त भावनाएँ

वेदों का अद्वितीय वैशिष्ट्य और महत्ता इस बात में है कि वे एक अत्यन्त ऊँचे, अत्यन्त विशाल और अत्यन्त व्यापक स्तर पर मनुष्य को बिठाकर उपदेश देते हैं। उनकी दृष्टि यावद् विश्वप्रपञ्च मे व्याप्त है।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा
येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।

(यजु० ३२।६)

ऋतञ्च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत

(ऋग्० १०।१९०।१)

तथा

सर्वं तद्राजा वरुणो वि चष्टे
यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात् ।

(अथर्व० ४।१६।५)

के अनुसार परमात्मा अखिल विश्व-प्रपञ्च मे व्याप्त हो कर मनुष्य के बाहर और भीतर, सर्वत्र, सब का शाश्वत नियमो द्वारा सचालन कर रहे है। ऐसे अत्यन्त महत्त्व के सिद्धान्तो की पृष्ठभूमि मे वैदिक आदर्शों और भावनाओ का उदात्त और उदार होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि वेद को हम विश्व-बन्धुत्व, विश्व-शान्ति, समष्टि-भावना, भद्र-भावना, आशावाद, निर्भयता, श्रद्धा, सामञ्जस्य के महान् आदर्शों और उदात्त भावनाओ से ओत-प्रोत पाते है, जैसा कि सक्षेप मे हम नीचे दिखाते हैं —

विश्वबन्धुत्व और विश्वशान्ति

वेद मे

> मित्रस्याह चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
> मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे"
>
> (यजु० ३६।१८)
>
> पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः
>
> (ऋग्० ६।७५।१४)
>
> यॉंश्च पश्यामि यॉंश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि।
>
> (अथर्व० १७।१।७)

जैसे विश्वबन्धुत्व, और

> शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्र प्रदिशो भवन्तु।
>
> (ऋग्० ७।३५।८)

जैसे विश्वशान्ति के भाव भरे पडे है।

समष्टि-भावना

वैदिक प्रार्थनाओ की एक विशेषता यह है कि वे प्राय बहुवचन में होती है।

> "धियो यो नः प्रचोदयात्"
> "यद् भद्रं तन्न आसुव"
> "अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्"

इत्यादि इत्यादि मन्त्रो मे बहुवचनो मे ही प्रार्थनायें की गयी है। यह सात्त्विक प्रवृत्ति वर्तमान हिन्दुधर्म तथा हिन्दुसमाज की वैयक्तिक भावनाओ के सर्वथा विपरीत है। किसी भी समाज की उन्नति तथा रक्षा के लिए यह समष्टि-भावना कितनी आवश्यक है इसको सिद्ध करने की आवश्यकता नही है।

भद्र-भावना

मनुष्य स्वभाव से सुख के लोभ और दु ख के भय से किसी काम में प्रवृत्त या उससे निवृत्त होता है। परन्तु वास्तविक धर्म की भावना में इस सुख-दु ख की भावना का कोई स्थान नही होता। उसमे तो सुख और दु ख के ध्यान को नितरा छोडकर (**सुखदु खे समे कृत्वा**) विशुद्ध कर्तव्य-बुद्धि से ही काम करना होता है। यही वास्तविक भद्र-भावना या कल्याण-भावना है। जैसे एक फूल का सौन्दर्य और सुगन्ध, किसी बाह्य कारण से न होकर, उसके स्वरूप का अङ्ग

है [illegible] है [illegible] के पवित्र का [illegible] होकर कर्तव्यपालन उसके [illegible] का [illegible] होते हैं; उनके जीवन का सार्थक्य, जीवन की [illegible] ही [illegible] होते हैं।

"भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः", "यद् भद्रं तन्न आ सुव", "भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि", "भद्रं नो अपि वातय मनः", "भद्रं भद्रं न आ भर"

इत्यादि अनेक वेदमन्त्र भद्रभावना से ओतप्रोत हैं।

आशावाद

वैदिक धर्म की एक मुख्य विशेषता उसका आशावाद है। हमारा वैदिक साहित्य आशावाद के ओजपूर्ण भावों से परिपूर्ण है।

'ओजोऽस्योजो मयि धेहि', "अदीनाः स्याम शरदः शतम्", "मदेम शतहिमाः सुवीराः", 'कृधी न ऊर्ध्वान् चरथाय जीवसे", "विश्वदानी सुमनसः स्याम", 'अस्माकं सन्त्वाशिषः", "पूषेम शरदः शतम्"

जैसी प्रार्थनाये आशावाद की ही समुज्ज्वल प्रतीक हैं।

इनके अतिरिक्त, सौमनस्य, निर्भयता, वीरता, श्रद्धा आदि की उदात्त भावनाएँ वेदों की अद्वितीय विशेषता हैं।

आश्चर्य तो यह है कि सहस्राब्दियों से वेदों की इस परमोत्कृष्ट विशेषता की हमारी जाति बराबर उपेक्षा करती रही। बड़े बड़े वेदभाष्यकारों का भी ध्यान इस ओर नहीं गया। तभी तो गीता जैसे तात्त्विक ग्रन्थ में भी "यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः" (गीता २।४२) ऐसे शब्दों में वेदों का स्मरण किया गया है। स्पष्टतया यह सारा दुष्प्रभाव वेद को कर्मकाण्ड का साधनमात्र मानने वाले वैदिक कर्मकाण्डियों के विचारों का ही था, जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं। यदि ऐसा न होता, यदि वेद के इस उदात्त स्वरूप को जनता के सामने रखा गया होता, तो कदाचित् जैन बौद्ध जैसे नैतिकताप्रधान सम्प्रदायों का प्रारम्भ और विकास उनके वर्तमान रूप में न होता। निःसन्देह **आचार्य दयानन्द** का बहुत बड़ा काम वेद की इस विशेषता की ओर संसार का ध्यान दिलाना था।

वेद पर सर्वसाधारण का अधिकार

जब तक वेदों को केवल वैदिक कर्मकाण्ड का साधन (मन्त्राः कर्मकरणाः) माना जाता रहा, यह स्वाभाविक बात थी कि उन पर जनता का अधिकार न हो और उनको केवल विशिष्ट लोगों के लिए ही सीमित रखा जाए। [illegible]

है। भाषा और व्याकरण दोनो की दृष्टि से हमारा काम प्राय नगण्य ही है। वेदो की भाषा पिछली सस्कृत से पर्याप्त रूप मे भिन्न है, यह छिपा नहीं है। उस प्राचीनतम भाषा का व्याकरण, उसके शब्द, शब्दो के प्रयोग, और मुहावरे भी पिछली सस्कृत से बहुत कुछ भिन्न है। इन सब का व्यवस्थित अध्ययन और अनुशीलन अभी तक किया ही नही गया है। इनमें प्राय स्वेच्छाचारिता से काम ले लिया जाता है।

पाणिनि-व्याकरण मे, यद्यपि उसको वेदाङ्ग कहा जाता है, वैदिक व्याकरण का केवल प्रासङ्गिक रूपेण प्रतिपादन किया गया है। इसी लिए वह **'बहुल छन्दसि'** और **'छन्दसि व्यत्ययो बहुलम्'** इस प्रकार के नियमाभासो से भरा पडा है। 'बहुलम्' का अर्थ राजनीतिक शब्दावली में 'अराजकता' ही है। पर किसी भाषा मे, विशेषकर वैदिक भाषा मे, अराजकता हो नही सकती। इसलिए इस विषय में हमें अभी बडा कार्य करना है। पाश्चात्य विद्वानो ने इस विषय में बडा कार्य किया है। उससे भी हमें सधन्यवाद सहायता लेनी आवश्यक है।

वैदिक भाषा में भी अनेकानेक शब्दो और वाक्यखण्डो का प्रयोग मुहावरे के रूप में विशेष अर्थ रखता है, इस पर भी विद्वानो को बहुत कार्य करना है। **बृहदारण्यकोपनिषद्** (३।७।१) मे याज्ञवल्क्य के प्रति विचारप्रसङ्ग मे कहा गया है **"मूर्धा ते विपतिष्यति"**। इसका शाब्दिक अर्थ, जो प्राय किया जाता है, स्पष्टत असगत है। पर 'तुम्हारा अपमान होगा' यह लाक्षणिक अर्थ बिल्कुल सगत बैठता है। ऐसे ही प्रयोग वेदमन्त्रो में भी है। उनकी ठीक-ठीक व्याख्या अपेक्षित है।

इसी प्रकार **निघण्टु** और **निरुक्त** में भी जिनकी अत्यन्त उपयोगिता वेदाध्ययन में होती है अनेकानेक स्थल और विषय ऐसे है जिनके विशेष मनन और अनुशीलन की आवश्यकता है।

ब्राह्मणादिग्रन्थो का प्राचीन वैदिक साहित्य, यदि उसका व्यवस्थित ढग से गम्भीर अनुशीलन किया जाए तो, वेदो के अर्थ में बहुत सहायक हो सकता है। परन्तु इस विषय में हमने कितना कार्य किया है यह कहने की बात नही है।

इसी प्रकार बहुत बडा वैदिक साहित्य टीका आदि के रूप में अभी तक अमुद्रित और अप्रकाशित पडा है। उसके विषय में भी हमारी अभी तक उदासीनता ही है।

कहने का अभिप्राय यह है कि वेद का नाम रटते रटते, इस नवीन जागरण के युग में भी, बहुत दिन हो गये। अभी तक तो हमने विदेशियो ने भी जितना काम वेद के विषय मे किया है उसका भी दशमाश नही किया है, यद्यपि हमारा उत्तरदायित्व इस विषय में उनकी अपेक्षा अनेक गुना अधिक है।

स्पष्टत देश में ऐसी एक महान् सस्था की आवश्यकता है जो, वेदो के महत्त्व के अनुरूप, अपनी पूरी शक्ति से, वैदिक वाङ्मय के ही स्वाध्याय अनुशीलन और अनुसन्धान के साथ साथ, वैदिक आदर्शों और उदात्त भावनाओ के वास्तविक स्वरूप को लोक के सामने रखने का पूरा प्रयत्न कर सके।

अन्त में हम वेद के ही शब्दो में अपने भाषण को समाप्त करते है —

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं
ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम् ।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभि-
र्देवानामवसे हुवे ॥

(अथर्व० ६।१०८।२)

॥ ओ शम् ॥

—— ० ——

द्वितीय परिशिष्ट

(ग)

[वैदिक कर्मकाण्ड की दृष्टि से यजुर्वेद का विशेष महत्त्व है। उसी के आधार पर वैदिक धारा के प्रारम्भ और उत्कर्ष के दिनो में वैदिक कर्मकाण्ड के मौलिक स्वरूप और प्रेरणाओं को दिखाने का इस लेख में प्रयत्न किया गया है।]

यजुर्वेद तथा वैदिक कर्मकाण्ड[1]

इसमें किसको सन्देह हो सकता है कि भारतीय सस्कृति की सूत्रात्मा के एक होनेपर भी तथा उसकी प्रगति की धारा के चिरन्तर काल से अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में आने पर भी, गङ्गा की धारा की तरह उसमें अनेकानेक सास्कृतिक उपधाराओ का समय-भेद से समावेश होता रहा है। कालान्तर में वे उपधाराएँ उसी मूलधारा में अपृथक् रूप से मिलकर एक होती रही है। उन विभिन्न उपधाराओ ने, सतत प्रगतिशील मूलधारा के साथ विरोधभाव न रखकर, अन्त में पूरकता के रूप में उसको समृद्ध ही बनाया है। यही कारण है कि शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध, सिक्ख आदि सम्प्रदायो तथा ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग आदि मार्गों के भेदो से भारतीय सस्कृति छिन्न-भिन्न न होकर और भी पुष्ट तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विभिन्न रुचि और स्वभाव के मनुष्यो के अनुकूल बनकर एक विस्तृत व्यापक सार्वभौम मानवधर्म के रूप में आज हमारे सामने विद्यमान है।

---

१. ग्रन्थकार का यह लेख प्रथम वार "श्रीवेंकटेश्वर-समाचार", बम्बई, के सन् १९५१ के विशेषाक मे प्रकाशित हुआ था।

भारतीय सस्कृति के विकास मे अनेक सास्कृतिक उपधाराओ के योग के रहने पर भी, उसके प्रधान स्वरूप के निर्धारण मे वैदिक विचारधारा का नि-सन्देह अत्यधिक भाग रहा है।

उसमे **"यतः प्रवृत्तिर्भूताना येन सर्वमिद ततम्"** (भगवद्गीता १८।४६) के अनुसार सारे विश्व-प्रपच के विभिन्न व्यापारो और दृश्यो मे एकसूत्रात्मकता को वतलाने वाली, **"तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत."** (यजु० ४०।७) के अनुसार समस्त प्राणियो मे एकात्मदर्शन करानेवाली और **"रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययो"** (गीता ७।८) के अनुसार वाह्य जगत् तथा आभ्यन्तर जगत् मे परस्पर अविरोधात्मक अद्वैत या ऐक्य को दर्शानेवाली जो आध्यात्मिकता पायी जाती है,या अन्वकार पर प्रकाश की, मृत्यु पर अमृतत्व की और असत्य पर सत्य की विजय का जो अविचल आशावाद या आत्मविश्वास पाया जाता है और अन्त मे **"जयेम स युधि स्पृधः"** (ऋग्० १।८।३) या **"अहमिन्द्रो न परा जिग्ये"** (ऋग्० १०।४८।५) के अनुसार विरुद्ध परिस्थितियो में न टूटनेवाला, पराजित न होनेवाला जो लचीलापन विद्यमान है, वह सब वहुत कुछ वैदिक विचारधारा की ही देन है।

सहस्रो वर्षों के व्यतीत होनेपर वह आज भी वैदिक सस्कृति के रङ्ग मे रगी हुई है। यहा तक कि आज भी भारतीय आर्य (हिंदू) धर्म मे धार्मिक कृत्यो और सस्कारो मे वैदिक मन्त्रो का प्रयोग किया जाता है। आज भी विवाह की वही पद्धति है, जो सहस्रो वर्ष पूर्व पूर्व भारत में प्रचलित थी। वैदिक कर्मकाण्ड की व्यापकता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि ऐसे धार्मिक सम्प्रदायो में भी, जो अपने को वैदिक परम्परा से पृथक् समझते है, विवाह आदि सस्कार वहुत कुछ वैदिक परम्परा के अनुसार ही होते आ रहे है।

वैदिक कर्मकाण्ड का प्रधान उपस्तम्भ यजुर्वेद ही है। अत. यजुर्वेद के विषय मे ही आज हम अपने विचार पाठको के सामने रखना चाहते है।

वैदिक साहित्य में यजुर्वेद का महत्त्व

समस्त वैदिक साहित्य में यजुर्वेद अपना विशिष्ट स्थान रखता है। मनुष्य-जीवन के विकास की ज्ञान, कर्म और उपासना ये तीन सीढ़िया है। इनमें कर्म की सीढ़ी या कर्मकाण्ड का प्रतिपादन विशेषत यजुर्वेद ही करता है। यद्यपि वैदिक कर्मकाण्ड मे अन्य वेद भी अपना-अपना स्थान रखते है, तो भी उसका प्रधान आधार यजुर्वेद ही कहा जा सकता है। सुप्रसिद्ध वैदिक ग्रन्थ निरुक्त मे ऋग्वेद आदि से सबध रखनेवाले ऋत्विजो का वर्णन करते हुए कहा है—

"यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकः। अध्वर्युः। अध्वर्युरध्वरयुः। अध्वरं युनक्ति। अध्वरस्य नेता।" (निरुक्त १।८)

इसका अभिप्राय यही है कि यज्ञ की सारी इतिकर्तव्यता को यजुर्वेद ही बतलाता है। इसीलिए यजुर्वेद से सम्बन्ध रखनेवाले ऋत्विक् 'अध्वर्यु' को सारे 'यज्ञ का चलाने वाला' या 'यज्ञ का नेता' कहा जाता है।[1]

यजुर्वेद का साहित्य

वैदिक साहित्य की परिभाषा के अनुसार यजु सहिता और उसका ब्राह्मण-भाग—दोनो को यजुर्वेद कहा जाता है। पर यहा हम केवल सहिता-भाग को ही लेकर विचार करना चाहते है। सहिता की दृष्टि से भी यजुर्वेद का साहित्य अत्यन्त विस्तृत रहा है। अन्य वेदो की तरह यजुर्वेद की भी अनेकानेक शाखाएँ थीं। पर आजकल कृष्ण-यजुवद और शुक्ल-यजुर्वेद नाम से दो प्रकार के ही यजुर्वेद प्रसिद्ध है। इन दोनो मे प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से शुक्ल यजुर्वेद का ही प्राधान्य है। उसी को आधार मानकर हम अपने विषय का प्रतिपादन करेगे।

यजुर्वेद का प्रतिपाद्य विषय

वैदिक मन्त्रो की व्याख्या के तीन परम्परागत सम्प्रदाय प्रसिद्ध है। निरुक्त आदि प्राचीन वैदिक ग्रन्थो के आधार पर ऐसा कहा जाता है कि प्राय प्रत्येक मन्त्र की व्याख्या आधिभौतिक, आधिदैविक (या अधियज्ञ या याज्ञिक) और आध्यात्मिक दृष्टि से की जा सकती है। वास्तव मे मनुष्य के मानसिक विकास के साथ साथ प्रकृति के प्रत्येक व्यापार मे उपर्युक्त तीनो दृष्टियो का क्रमश आविर्भाव होना स्वभाविक होता है। ऐसा होने पर भी यजुर्वेद की व्याख्या प्राय अधियज्ञ दृष्टि से ही प्राचीन भाष्यकारो ने की है।

'यजु' शब्द पर विचार करने से भी इसी बात की पुष्टि होती है। 'यजु' और 'यज्ञ' दोनो शब्दो का सबध एक ही 'यज' धातु से है। निरुक्त में कहा है—"यजुर्यजते." (नि० ७।१२)। दुर्गाचार्य इसकी व्याख्या करते हुए कहते है—"तेन हि विशेषत इज्यते"। अर्थात् 'यजु' को 'यजु' इसीलिए कहा जाता है, क्योकि उसीसे विशेपत यज्ञ किया जाता है।

---

१. तु०—"आनुपूर्व्या कर्मणां स्वरूपं यजुर्वेदे समाम्नातम्। तत्र तत्र विशेषापेक्षायामपेक्षिता याज्यापुरोनुवाक्यादय ऋग्वेदे समाम्नायन्ते। स्तोत्रादीनि तु सामवेदे। तथा सति भित्तिस्थानीयो यजुर्वेद, चित्रस्थानीयावितरौ। तस्मात् कर्मसु यजुर्वेदस्य प्राधान्यम्।" (सायणकृत काण्वसहिताभाष्य की उपक्रमणिका)।

यजुर्वेद के मन्त्रो का अवान्तर-क्रम भी अधिकतर याज्ञिक परम्परा के आधार पर दर्शपूर्णमासेष्टि, पिण्डपितृयज्ञ, अग्न्याधेय आदि याज्ञिक कर्मों के क्रम के अनुसार ही रखा गया है। केवल दो-तीन अध्यायो को, विशेषकर अन्तिम ४० वें अध्याय का सबंध साक्षात् कर्मकाण्ड से न होकर उपनिषत्काण्ड या आत्मज्ञान से है। शतपथ-ब्राह्मण तथा उवट आदि प्राचीन टीकाकारो का भी यही मत है।

उपर्युक्त कारणो से यही कहना युक्ति-युक्त प्रतीत होता है कि यजुर्वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय अधियज्ञ ही है, और अन्त मे अधियज्ञदृष्टि द्वारा ही परमात्म-दर्शन या परम पद की प्राप्ति का वह प्रतिपादन करता है।

अधियज्ञ-दृष्टि का स्वरूप और विकास

अधियज्ञ या याज्ञिक दृष्टि को ठीक-ठीक समझने के लिए वैदिक कर्मकाण्ड के विकास को समझने की आवश्यकता है। जैसा ऊपर कहा है, 'यज्ञ' और 'यजु' दोनो शब्दो का विकास **'यज देवपूजा-सगतिकरण-दानेषु'** इस धातु से हुआ है। वास्तव में देखा जाए तो देव-पूजा, सगतिकरण और दान इन तीन अर्थों मे याज्ञिक दृष्टि या वैदिक कर्मकाण्ड के विकास का पूरा इतिहास आ जाता है।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

(यजु० ३२।१)

(अर्थात्, अग्नि, आदित्य, वायु आदि विभिन्न देवता उसी एक परमात्म-तत्त्व की विभूतियाँ हैं), अथवा **"माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते"** (निरुक्त ७।४) (अर्थात्, एक ही परमात्मा की अनेक रूपो मे स्तुति की जाती है), इत्यादि वचनो के अनुसार समस्त विश्व के सचालक परमात्मा की ही विभिन्न विभूतियो को वैदिक धर्म की परिभाषा में तत्तद् देवता के नाम से पुकारा जाता था। उन्ही अग्नि, आदित्य, इन्द्र, वरुण आदि **देवताओ की पूजा**, स्तुति या गुणगान, यही यज्ञ या वैदिक कर्मकाण्ड का प्रारम्भिक स्वरूप था।

उन्हीं देवताओ के साथ **संगतिकरण** या सान्निध्य की भावना से, अन्य कर्मकाण्डो के समान ही, याज्ञिक कर्मकाण्ड का विकास प्रारम्भ हुआ। मनुष्य अपने आराध्य देवता की केवल स्तुति से ही सन्तुष्ट न होकर, इष्ट-मित्रादि के समान ही, स्वभावत उसका आवाहन, सान्निध्य या साक्षात्कार भी चाहता है।

आवाहन के अनन्तर अपने आराध्य का विभिन्न पदार्थों द्वारा सत्कार किया जाता है। यही दान है। यही **"इदमग्नये इद न मम"** की भावना का मूल है। यही **'त्वदीय वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'** की भावना है। इसी भावना के

आधार पर अधियज्ञ दृष्टि या याज्ञिक कर्मकाण्ड का अन्ततः विकास हुआ था ।

वैदिक देवताओं का स्वरूप

वैदिक कर्मकाण्ड की मौलिक प्रेरणा को समझने के लिए वैदिक देवताओ के स्वरुप को कुछ अधिक स्पष्टता से समझ लेना चाहिए । ऊपर कहा है कि वास्तव मे परमात्मा की विभिन्न विभूतियो को ही तत्तद्देवता के नाम से पुकारा जाता था। पर जहाँ तक वैदिक कर्मकाण्ड का सबध है ये विभिन्न देवता, व्यावहारिक दृष्टि मे, अपनी-अपनी स्वतन्त्र या पृथक् सत्ता रखते हुए माने जाते थे। प्राकृतिक कार्यों का सचालन करनेवाली इन दैवी शक्तियो की प्रात्यक्षिक पृथक् सत्ता किससे छिपी है ? तो भी वैदिक देवताओ की सारी प्रवृत्तिया समस्त जगत् के कल्याणार्थ, उसके कार्यों के सचालनार्थ ही है। ये परस्पर केवल अविरोध भाव से ही नही, अपितु परस्परोन्नायक भाव से कार्य करते हुए चराचर जगत् के नैतिक (या आभ्यन्तर) तथा भौतिक (या बाह्य) शाश्वत नियमो के अनुसार 'सत्य' और 'ऋत' का पालन करते हुए ही अपना-अपना कार्य करते है । **"देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते"** (ऋग्वेद १०।१९१।२) (अर्थात्, दैवी शक्तिया परस्परोन्नायक या सामञ्जस्य के भाव से ही अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करती है), **"सत्यं वै देवाः"**, **"ऋतज्ञाः"** इत्यादि वैदिक वचनो का यही अभिप्राय है । वैदिक देवता स्वभाव से ही प्रकाश-स्वरुप अर्थात् सब प्रकार के भ्रम, अज्ञान,या मोह से परे है ।

वैदिक धर्माचरण का लक्ष्य

वैदिक देवताओ के कल्याणोन्मुख उत्कृष्ट आदर्श-स्वरुप को ध्यान मे रखकर ही स्वभावत मरणधर्मा,अनृत और अज्ञान से अभिभूत, लघु स्वार्थो और आपातरमणीय ऐन्द्रियिक प्रवृत्तिया से प्रेरित होकर पारस्परिक सघर्ष के भावो से पराभूत, दुर्बल मनुष्य, अपने को दैवी सम्पत्ति से समन्वित करने की अभिलाषा से, मानो अपने को देवतुल्य बनाने के लिए, या आधुनिक परिभाषा में, समष्टि के साथ सामञ्जस्य की स्थापना द्वारा अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के उद्देश्य से ही, वैदिक धर्माचरण मे प्रवृत्त होता था ।

इसी मौलिक उद्देश्य के आधार पर स्वभाव से अशान्त और चञ्चलचित्त मनुष्य को दान्त, शान्त, सयत और दृढव्रती बनाने की दृष्टि मे अत्यन्त कठिन अनुशासन, नियमन और सयम के भावो मे ओतप्रोत वैदिक कर्मकाण्ड की नींव हमारे पूर्वजो ने डाली थी । उसमें यजमान, यजमान-पत्नी और अनेक ऋत्विज्, सत्यभाषण, इन्द्रियसयम आदि कठिन व्रतो का पालन करते हुए, विस्तृत और

जटिल कर्मकाण्ड को बडी सावधानता के साथ सम्पादन करते थे । बडे-से-बडे 'ड्रामा' या 'म्यूजिकल कान्सर्ट' से भी अधिक परस्पर सहयोग की आवश्यकता वैदिक कर्मकाण्ड मे होती थी ।

वैदिक-धर्मी के लिए उसका सारा जीवन अपने पूर्ण विकासरूपी अभीष्ट पद की प्राप्ति के लिए एक लम्बी यात्रा के समान था । लम्बी यात्रा में जैसे मोटर-यात्री के लिए प्रत्येक मोड पर सावधानता की आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार प्रायेण वर्ष के पर्वों पर ही दर्श-पूर्णमासादि वैदिक कर्मों का विधान किया गया था । **"ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते"** (गोपथब्राह्मण) (अर्थात्, ऋतुओ की सन्धियो के अवसर पर ही व्याधियो का प्रकोप होता है) तथा **"स्वस्ति संवत्सरस्य पारमशीमहि"** (अर्थात्, हम जीवन की यात्रा में कुशल-क्षेम के साथ जीवन के प्रत्येक वर्ष को पार करते चले) इत्यादि वचनो से स्पष्टतया यही प्रतीत होता है ।

वैदिक धर्मी के लिए जीवन की यात्रा का लक्ष्य यही है कि वह उन्नति-विरोधी भावनाओ और शक्तियो पर विजय प्राप्त करता हुआ आत्मा का उत्तरोत्तर विकास करे । **"उद्वय तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्"** (यजु० २०।२१) (अर्थात्, अज्ञान से प्रकाश की ओर वढते हुए हम अपने को उत्तरोत्तर समुन्नत करे) आदि वैदिक वचनो का यही अभिप्राय है । इस प्रकार उत्तरोत्तर समुन्नति करते हुए आत्मा के पूर्ण विकास का लक्ष्य ही वास्तव में 'स्वर्ग' है, वही 'स्वाराज्य' या 'अमृतत्व' है। इसी को वैदिक मन्त्रों मे 'ज्योतिर्मय लोक' कहा गया है ।

इसलिए वैदिक धर्माचरण के लक्ष्य को हृदयगम करने के लिए निम्न-लिखित मौलिक सत्यो को मानना आवश्यक हो जाता है——

(१) मनुष्य स्वभाव मे अपूर्ण, दुर्बल-चित्त और लघु स्वार्थो से ग्रस्त है ।

(२) दैवी शक्तियो या देवताओ का स्वरूप इसके विपरीत है ।

(३) मनुष्य के जीवन का लक्ष्य होना चाहिए कि वह अपनी दुर्बलताओ और अपूर्णताओ पर विजय प्राप्त करता हुआ दैवी सम्पत्ति के सम्पादनार्थ ही अपने पूर्ण विकास के लिए सतत प्रयत्नशील रहे ।

(४) सारे विश्व-प्रपञ्च की सञ्चालिका उस महाशक्ति या महानात्मा की, जिसकी विभूतियां ही विभिन्न देवता है, लीला का एकमात्र अभिप्राय प्राणिमात्र और विशेषतः मनुष्य के पूर्ण विकास में है और लौकिक बाह्य और आभ्यन्तर (=भौतिक और आध्यात्मिक) सृष्टि के मूल में ऋत और सत्य का साम्राज्य है ।

वैदिक उदात्त भावनाएं

वैदिक धर्माचरण के उपर्युक्त मौलिक आधारो के कारण ही, अन्य वेदो के समान, यजुर्वेद भी, जिसका स्पष्टत वैदिक कर्मकाण्ड से घनिष्ठ सम्बन्ध है, ऐसी उदात्त भावनाओ से ओत-प्रोत है, जो ससार के किसी भी अन्य वाङमय या सस्कृति की दृष्टि से अत्यन्त अभूतपूर्व है। ससार के नीरस-प्राय अन्य कर्मकाण्डो मे तो ऐसे उदात्त विचार प्राय देखने को भी नहीं मिलेंगे। यहाँ हम उन्ही उदात्त भावनाओ का केवल दिग्दर्शन ही कराना चाहते है।

समष्टि-भावना

आधुनिक हिन्दूधर्म में उसका केन्द्र-बिन्दु बहुत कुछ व्यक्ति-परक है। मनुष्य समाज से भागकर केवल अपनी ही भलाई को, धर्म के क्षेत्र में भी, सोचता है। इसके विरुद्ध, वैदिक प्रार्थनाओ की, जिन से यजुर्वेद भरा पडा है, सब से पहली विशेषता उनकी समष्टिरूपता में है। इसीलिए वे प्राय बहुवचन में ही होती है। उदाहरणार्थ —

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव ॥

(यजु० ३०।३)

अर्थात्, हे देव सवित! जो हमारे लिए वास्तविक कल्याण है उसे हम सब को प्राप्त कराइये।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

(यजु० ३।३५)

अर्थात्, सबके प्रेरक सवितृ-देव के उस प्रसिद्ध वरणीय तेज स्वरूप का हम सब ध्यान करते है जो हमारी बुद्धियो को प्रेरणा प्रदान करे। इत्यादि प्रार्थनाओ में बहुवचनो के प्रयोग से स्वभावत. वैयक्तिक स्वार्थों मे लिप्त मनुष्य के सामने समष्टि-भावना का उच्च आदर्श रखा गया है। आज की सघर्ष-प्रधान भावनाओ के वातावरण मे यह समष्टि-भावना (=दूसरो के साथ में ही अपने हित के सम्पादन की भावना) कितना महत्व रखती है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं है।

आशावाद की भावना

मनुष्य के जीवन को सबसे अधिक नीचे गिरानेवाली भावना निराशावाद की भावना है। निराशावाद से अभिभूत मनुष्य जीवन की किसी समस्या को सुलझाने में असमर्थ होता है। इसीलिए इसका बडा भारी महत्व है कि वैदिक

धर्माचरण का सम्पूर्ण आधार ही आशावाद पर है। इसका सिद्धान्त यही है कि मनुष्य को अपने जीवन में उत्तरोत्तर उन्नति का ही लक्ष्य रखना चाहिए। और उत्साहपूर्वक समस्त विघ्नबाधाओं पर विजय प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए। उदाहरणार्थ —

अदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् (यजु० ३६।२४)

अर्थात्, हम जीवन भर दैन्यभाव से अपने को दूर रखें।

अमृतत्वमशीय (यजु० ७।४५)

अर्थात्, मैं अमृतत्व को प्राप्त करूँ।

वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवे दिवे वाममस्मभ्यꣳ सावीः।

(यजु० ८।६)

अर्थात्, हे सवितृदेव! आप आज, कल, प्रतिदिन हमें स्पृहणीय सुख प्राप्त कराइए।

वर्चस्वानहं मनुष्येषु भूयासम् (यजु० ८।३८)

अर्थात्, मैं मनुष्यों के बीच में वर्चस्वी तेजस्वी होकर जीवन व्यतीत करूँ।

भद्र-भावना

विभिन्न धर्मों के कर्मकाण्डों का सम्बन्ध प्रायः मनुष्यों की छोटी-छोटी कामनाओं की पूर्ति से हुआ करता है। परन्तु वैदिक धर्माचरण की यह विशेषता है कि उसमें प्रायः सुखात्मक कामनाओं से ऊपर उठकर मानवता के नाते से मनुष्य के लिए जो वास्तविक कल्याण, भद्र या अच्छाई है उसके लिए बार-बार प्रार्थनाएँ आती हैं। "यद् भद्रं तन्न आ सुव" (यजु० ३०।३) (अर्थात्, भगवन्! हमारे लिए कल्याण को प्राप्त कराइए)। "भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः" (यजु० २५।२१) (अर्थात्, हे यजनीय देवताओ! हम कानों से भद्र को सुनें और आँखों से भद्र ही देखें) इत्यादि प्रार्थनाएँ भद्र-भावना की ही उदाहरण हैं।

इसी प्रकार विश्वबन्धुत्व की भावना, निष्पाप होने की भावना, इत्यादि प्रकार की उदात्त भावनाओं से परिपूर्ण प्रार्थनाएँ, अन्य वेदों के समान ही, कर्मकाण्ड-प्रधान यजुर्वेद में भी पायी जाती हैं।

यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, उपनिषत्काण्ड से सम्बन्ध रखता है। इसी में गीता के सुप्रसिद्ध कर्मयोग का बीज-रूप से उपदेश देनेवाला यह मन्त्र है —

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।

(यजु० ४०।२)

अर्थात्, मनुष्य को चाहिए कि वह अपने कर्तव्य कर्मों को करता हुआ ही जीने की इच्छा करे। उसका कल्याण इसी मे है। कर्मबन्धन से बचने का यही उपाय है।

इसी अध्याय मे—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ।।

(यजु० ४०।७)

(अर्थात्, जो सब भूतो को अपने से अभिन्न समझता है उसके लिए शोक और मोह का प्रश्न ही नहीं उठता) इस प्रकार समस्त भूतो मे एकात्मदर्शन द्वारा शोक, मोह आदि समस्त मनोविकारो को दूर करके मनुष्य-जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति का उपदेश है।

उपसंहार

इस प्रकार वैदिक सस्कृति के सार्वदेशिक और सार्वकालिक महत्त्व का सम्पादन करने वाली उदात्त भावनाओ से प्रेरित होकर विश्वभावन भगवान् को लक्ष्य करके वैदिक कर्मकाण्ड को करता हुआ मनुष्य उत्तरोत्तर श्रेय-मार्ग पर अग्रसर होता हुआ परमपद को प्राप्त कर सकता है। वैदिक कर्मकाण्ड का यही गूढ रहस्य है। यजुर्वेद का यही प्रधान प्रतिपाद्य विषय है।

।। ओ ख ब्रह्म ।।

——:o——

द्वितीय परिशिष्ट

(घ)

[वैदिकधारा की कुछ उदात्त भावनाओं तथा जीवन-प्रद संदेशों को इस दीक्षान्त-भाषण[1] में दिखाने का यत्न किया गया है ।]

वेदों के जीवनप्रद संदेश

कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे

(ऋग्० १।३६।१४)

प्रधानमहोदय, देवियो तथा सज्जनो !

इस पवित्र अवसर पर दीक्षान्त-भाषण देने के लिए जो मुझे निमन्त्रित किया गया है उसके लिए मैं आप का आभारी हूँ। इन दिनों अपने कार्य के आधिक्य से, अवकाश के न रहने पर भी, इस संस्था से अपने निजी सम्बन्ध के नाते से स्नेहवश तथा मित्रों के अनुरोध से मुझे इस कार्यभार को स्वीकार करना ही पड़ा।

प्रिय स्नातकवर्ग !

यह अवसर आप के जीवन में अत्यन्त विशेष महत्त्व रखता है। "अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि" इत्यादि मन्त्रों द्वारा दीर्घायुष्य, बल, वर्चस् और तेजस् की प्राप्ति के लिए, जीवन के प्रथमकाल में, जिस कठिन व्रत को आपने

---

1 २७ दिसम्बर, १९४३ को गुरुकुल वृन्दावन के ३९ वें महोत्सव पर दिया गया ग्रन्थकार का दीक्षान्त-भाषण।

ग्रहण किया था उसकी समाप्ति पर आज आप **'तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः'** (ऋग्० ३।८।४) इसके अनुसार गुरुओ के आशीर्वाद के साथ गुरुगृह से बिदा ले रहे हैं। गुरुकुल के तपस्या, सयम, भ्रातृभाव और अकृत्रिम स्नेह के आदर्श वातावरण मे रहते हुए आप आर्यधर्म की दीक्षा से दीक्षित हुए हैं। नये जगत् मे प्रवेश करने पर आपका यह कर्तव्य होगा कि आप उसी आर्यधर्म के सदेश से, शब्दो द्वारा नही, किन्तु उदाहरण द्वारा भारतीय समाज मे नये जीवन के सचार का यथाशक्य प्रयत्न करें।

पर जिस नये जगत् में आप प्रवेश करने जा रहे हैं वह उस जगत् की अपेक्षा जिसमे आप अब तक रहे हैं कही अधिक विशाल, विसण्ठुल, विषम और कण्टकाकीर्ण है। आपकी जीवनयात्रा की कठिन परीक्षा का वह स्थान होगा। पर ध्यान रखिए कि जिस महान् आर्यधर्म के सिद्धान्तो और आदर्शों की शिक्षा आपने पायी है उसको व्यावहारिक रूप देकर चरितार्थ करने में ही इस नवीन जीवन का उपयोग और साफल्य है।

इस नये जीवन का सब से पहला सदेश आशावाद है।

आशावाद तथा निराशावाद

यह कौन नही जानता कि आर्यधर्म या वैदिक धर्म का मौलिक सिद्धान्त आशावाद है। वैदिक-साहित्य आशावाद के सिद्धान्त से ओतप्रोत है।

कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे

(ऋग्० १।३६।१४)

भगवन्! जीवनयात्रा में हमें समुन्नत कीजिए।

भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि

(ऋग्० १०।३७।६)

कल्याणमय जीवन व्यतीत करते हुए हम वृद्धावस्था को प्राप्त हो।

विश्वदानीं सुमनस. स्याम पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्

(ऋग्० ६।५२।५)

हम सदा प्रसन्नचित्त रहते हुए चिरकाल पर्यन्त उदीयमान सूर्य के दर्शन करे।

पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्।
बुध्येम शरदः शतम्। रोहेम शरदः शतम्।
पूषेम शरद· शतम्। भवेम शरदः शतम्।
भूयेम शरद· शतम्। भूयसीः शरदः शतात्।

(अथर्व० १९।६७।१-८)

अर्थात्, हम सौ और सौ से भी अधिक वर्षों तक देखें, जीवन-यात्रा करें, ज्ञानसपादन करें, उत्तरोत्तर उन्नति को प्राप्त करें, पुष्टि को और दृढता को प्राप्त करें, तथा अपने को समृद्धि, ऐश्वर्य और गुणो से भूषित करें।

मनुष्यजीवन में एक नई स्फूर्ति, नई विद्युत् का सचार करने वाले इस प्रकार के प्राणसजीवन वचनो से वैदिकसाहित्य भरा पडा है।

वैदिक सिद्धान्तो के अनुसार मनुष्य का सबसे प्रथम कर्तव्य, ईश्वर-प्रदत्त शक्तियो का परस्पर सामञ्जस्येन विकास द्वारा अपने जीवन की सर्वाङ्गीण सपूर्णता ही है। विश्ववन्धु भगवान् का रचा हुआ यह ससार हमारी उस सर्वाङ्गीण समुन्नति का बाधक न होकर साधक ही है। इसी लिए एक आर्य के लिए यह जीवन, ग्लानि का विषय न होकर, प्रार्थना का विषय है। यह उदात्त भावना प्रकृति के नियमो के अनुसार जीवन व्यतीत करने वाले एक निष्पाप तथा स्वच्छहृदय व्यक्ति की ही हो सकती है।

इसके विपरीत, जिस समाज में आप प्रवेश करने जा रहे हैं वह शताब्दियो से अन्धकार और अवनति के गर्त में पडा हुआ निराशावाद के सिद्धान्तो से परिप्लुत हो रहा है। उन सिद्धान्तो या अप-सिद्धान्तो के अनुसार यह ससार मिथ्या है, स्वप्नवत् है, असार है, एक सराय के तुल्य है, उसमें हमारी स्थिति एक डूबते हुए व्यक्ति जैसी है, मानो ईश्वर ने उसे जेलरूप में ही हमारे लिए बनाया है। ऐसे ही निराशामय सिद्धान्तो ने भारतीय समाज को चिरकाल से निष्प्राण, नि सत्त्व और निस्तेज बना रखा है। उक्त सिद्धान्तो से प्रभावित लोगो ने ही रौरवादि नरको की कल्पनाएँ की है। "मै मूरख खल कामी", "नैया मेरी पार लगाओ" जैसी दयनीय प्रार्थनाएँ उसी विचार-धारा की प्रतीक है।

आर्यधर्म का सबसे पहला सदेश यह होना चाहिए कि हम इस प्राणघातक निराशावाद को समाज से निर्मूल करके वैदिक उदात्त भावनाओ से उसे भरपूर कर दें, और

> ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु वयं त्वेन्धानास्तन्व पुषेम ।
> मह्य नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम ॥
>
> (ऋग्० १०।१२८।१)

जैसी वैदिक प्रार्थनाओ के अनुसार, समाज के नवयुवक ही नही, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख यह आदर्श रखें कि हम अपनी उन्नति की समस्त बाधक शक्तियो और प्रवृत्तियो पर विजय प्राप्त करने के लिए ही उत्पन्न हुए हैं। जिस दिशा में भी हम उद्योग करेंगे हमको विजयलक्ष्मी प्राप्त होगी। हम अमृत

परमात्मा के पुत्र हैं। हम अपने जीवन को प्रकाशमय अतएव सत्यमय बनाते हुए दूसरो के जीवन को भी प्रकाशमय बनाएँगे।

प्रगतिवाद तथा रूढिवाद

भारतीय समाज की सर्वाङ्गीण उन्नति और पूर्ण विकास में सबसे अत्यन्त बाधक प्रवृत्ति उसका रूढिवाद है। इसकी उत्पत्ति और पुष्टि उन्ही कारणो से हुई है जिन्होने निराशावाद को जन्म दिया था। जिस व्यक्ति या समाज की उन्नति और विकास के मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं, वह स्वभावत निराशावाद तथा आत्म-अविश्वास का शिकार होकर, उस अन्धे की तरह जो इस भय से कि पैर उठाते ही शायद कुएँ मे न गिर पडूँ अपने स्थान पर ही रहना पसन्द करता है, रूढिवाद के ग्राह से ग्रस्त हो जाता है। इसके विपरीत जिस व्यक्ति या समाज के सामने उन्नति के मार्ग खुले रहते हैं और आशा का प्रकाश होता है और इसी लिए जो आत्मविश्वास रखता है वह स्वभावत प्रगतिशील होता है। एक आँख रखनेवाला व्यक्ति प्रकाश के रहते हुए आत्म-विश्वास के साथ जहाँ चाहता है जा सकता है। इसीलिए जहाँ प्रगतिवाद प्रकाश का तथा आशामय और विश्वासमय जीवन का द्योतक है, वहाँ रूढिवाद अन्धकार तथा निराश और आत्म-विश्वासहीन जीवन का प्रतीक है। दूसरे शब्दो में, जहाँ रूढिवाद समाज की ऐसी स्थिति को बतलाता है जो पृथ्वी के गर्भ मे रक्षित शिला के रूप को प्राप्त वृक्षादि के टुकडे के समान निश्चेष्ट और जीवनरहित है, वहाँ प्रगतिवाद जीवनी क्रिया से सम्पन्न एक सचेष्ट प्राणी का परिचायक है।

यही रूढिवाद भारतीय समाज की सबसे बडी समस्या है। नाना रूपो में यह समाज को, पैरो मे पडी बेडियो की तरह, आगे बढने से रोकता है। इसका दुष्प्रभाव अत्यन्त सूक्ष्म और अदृश्य रीति से, भयानक राजयक्ष्मा के कीटाणुओ की तरह, हमारे समाज मे प्रविष्ट हो उसे जीर्ण-शीर्ण करने के लिए सद्य तत्पर रहता है।

जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे इसकी प्रवृत्ति देखने मे आती है। शब्दो के अर्थ के विषय मे यही रूढिवाद हमको उनके अन्तस्तल तक पहुँचने मे रोकता है और प्राय मानसिक पाखण्ड या छद्म का पोषक बन जाता है। यही मनुष्य के अपने निम्न स्वार्थों और प्रवृत्तियो से प्रेरित कामो के वास्तविक स्वरूप को छिपाकर जनता को धोखा देने के लिए परदे का काम करता है। भक्ति, तप, दान, दया, यज्ञ, स्वर्ग, वर्ण, श्रद्धा जैसे शब्दो की दुर्दशा या दुष्प्रयोग का मूल कारण शब्दविषयक रूढिवाद ही तो है। भगवद्गीता मे यज्ञ, तप, दान आदि का जो सात्विक, राजस और तामस भेद दिखलाया है, वह इसी शब्दगत रूढिवाद को दूर करने की चेष्टा है। आचार्य स्वामी दयानन्द की **आर्योद्देश्य-रत्न-माला,**

जिसके महत्त्व को प्राय बहुत कम लोग समझते है, वास्तव में इसी शब्दगत रूढिवाद के खण्डन का प्रयत्न है।

उपर्युक्त रूढिवादमूलक मानसिक पाखण्ड या छद्म के ही कारण अनेक उद्भट विद्वान् भी प्राचीन ग्रन्थो के अर्थ को स्वसिद्धान्तानुकूल्येन दिखलाने की चेष्टा भारतीय इतिहास के विभिन्नकालो में करते रहे है और यह प्रवृत्ति अब भी देश में जारी है। उक्त कारण से ही देश मे समय-समय पर महापुरुषो द्वारा, सुधार और प्रगति के उद्देश्य से, प्रचालित अनेकानेक आन्दोलन और सप्रदाय अपने प्रधान लक्ष्य से च्युत होकर रूढिवाद की दल-दल में फँसकर नष्ट हो गये। यह बात प्राचीन तथा सामयिक इतिहास के प्रेमियो से छिपी नही है। रूढिवादियो का यह स्वभाव है कि वे, जैसे परभोजी पौधे अन्य पौधो को नष्ट कर देते है, उसी प्रकार प्रगतिशील आन्दोलनो को हथियाकर उनको निष्प्राण तथा नि सत्त्व बना देते है, और ऐसा करने में वे समाज में आदृत शब्दो तथा भावनाओ के रूप में परम्परागत रूढियो का पूरा उपयोग अदृश्यरूप से करते है।

रूढिवाद की उक्त घातक अदृश्य प्रवृत्तियो से अपने को तथा अपने समाज को बचाने के लिए ऐकान्तिक सत्यनिष्ठा, आत्मपरीक्षण, तथा अमूढबुद्धि के सतत प्रयोग की आवश्यकता है। मानसिक छद्म या पाखण्ड करने वाले वञ्चको के लिए ही वेदो में 'द्वयाविन' शब्द का प्रयोग किया गया है और उनकी घोर निन्दा की गयी है।

निरुक्तपरिशिष्ट में **"मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एत तर्कमृषि प्रायच्छन्"** (=ऋषियो की परम्परा के इस जगत् से नष्ट होने पर देवताओ ने मनुष्यो से कहा कि आगे को तर्क ही आपके लिए ऋषियो का स्थानापन्न होगा) इस प्रकार बतलाये गये **'तर्क एव ऋषि'** के सिद्धान्त का उपयोग, दूसरो के खण्डन मे नही, किन्तु आत्मपरीक्षण मे करना चाहिए।

ऐकान्तिक शब्दप्रमाणपरता या परम्परागत अन्धभक्ति का ही नाम रूढिवाद है और वह सर्वत प्रथम बुद्धि की जडता का द्योतक है।

इसके विरुद्ध, वेदो में **"भद्राद्भि श्रेय प्रेहि"** (तैत्तिरीयसहिता १।२।३।३) (अर्थात्, हे भगवन् आप हमको उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर पद को प्राप्त कराइये), **"कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे"** (ऋग्० १।३६।१४) (अर्थात्, हे भगवन् हम को जीवन-यात्रा मे उन्नत और प्रगतिशील बनाइये), इत्यादि मन्त्रो द्वारा प्रगतिवाद का ही गुणगान किया गया है। वेदो द्वारा गीयमान आशावाद भी वास्तव मे प्रगतिवाद का ही रूपान्तर है। वह जीवन का मुख्य लक्षण है।

परमात्मा के पुत्र है। हम अपने जीवन को प्रकाशमय अतएव सत्यमय बनाते हुए दूसरो के जीवन को भी प्रकाशमय बनाएँगे।

प्रगतिवाद तथा रूढिवाद

भारतीय समाज की सर्वाङ्गीण उन्नति और पूर्ण विकास मे सबसे अत्यन्त बाधक प्रवृत्ति उसका रूढिवाद है। इसकी उत्पत्ति और पुष्टि उन्ही कारणो से हुई है जिन्होने निराशावाद को जन्म दिया था। जिस व्यक्ति या समाज की उन्नति और विकास के मार्ग अवरुद्ध हो जाते है, वह स्वभावत निराशावाद तथा आत्म-अविश्वास का शिकार होकर, उस अन्धे की तरह जो इस भय से कि पैर उठाते ही शायद कुएँ मे न गिर पडूँ अपने स्थान पर ही रहना पसन्द करता है, रूढिवाद के ग्राह से ग्रस्त हो जाता है। इसके विपरीत जिस व्यक्ति या समाज के सामने उन्नति के मार्ग खुले रहते है और आशा का प्रकाश होता है और इसी लिए जो आत्मविश्वास रखता है वह स्वभावत प्रगतिशील होता है। एक आँख रखनेवाला व्यक्ति प्रकाश के रहते हुए आत्म-विश्वास के साथ जहाँ चाहता है जा सकता है। इसीलिए जहाँ प्रगतिवाद प्रकाश का तथा आशामय और विश्वासमय जीवन का द्योतक है, वहाँ रूढिवाद अन्धकार तथा निराश और आत्म-विश्वासहीन जीवन का प्रतीक है। दूसरे शब्दो में, जहाँ रूढिवाद समाज की ऐसी स्थिति को बतलाता है जो पृथ्वी के गर्भ मे रक्षित शिला के रूप को प्राप्त वृक्षादि के टुकडे के समान निश्चेष्ट और जीवनरहित है, वहाँ प्रगतिवाद जीवनी क्रिया से सम्पन्न एक सचेष्ट प्राणी का परिचायक है।

यही रूढिवाद भारतीय समाज की सबसे बडी समस्या है। नाना रूपो में यह समाज को, पैरो मे पडी बेडियो की तरह, आगे बढने से रोकता है। इसका दुष्प्रभाव अत्यन्त सूक्ष्म और अदृश्य रीति से, भयानक राजयक्ष्मा के कीटाणुओ की तरह, हमारे समाज मे प्रविष्ट हो उसे जीर्ण-शीर्ण करने के लिए सद्य तत्पर रहता है।

जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे इसकी प्रवृत्ति देखने मे आती है। शब्दो के अर्थ के विषय मे यही रूढिवाद हमको उनके अन्तस्तल तक पहुँचने मे रोकता है और प्राय मानसिक पाखण्ड या छद्म का पोषक बन जाता है। यही मनुष्य के अपने निम्न स्वार्थो और प्रवृत्तियो से प्रेरित कामो के वास्तविक स्वरूप को छिपाकर जनता को धोखा देने के लिए परदे का काम करता है। भक्ति, तप, दान, दया, यज्ञ, स्वर्ग, वर्ण, श्रद्धा जैसे शब्दो की दुर्दशा या दुष्प्रयोग का मूल कारण शब्दविषयक रूढिवाद ही तो है। भगवद्गीता मे यज्ञ, तप, दान आदि का जो सात्विक, राजस और तामस भेद दिखलाया है, वह इसी शब्दगत रूढिवाद को दूर करने की चेष्टा है। आचार्य स्वामी दयानन्द की **आर्योद्देश्य-रत्न-माला,**

जिसके महत्त्व को प्राय बहुत कम लोग समझते हैं, वास्तव में उसी [illegible] रूढिवाद के खण्डन का प्रयत्न है।

उपर्युक्त रूढिवादमूलक मानसिक पाखण्ड या छद्म के ही कारण अनेक उद्भट विद्वान् भी प्राचीन ग्रन्थों के अर्थ को स्वसिद्धान्तानुकूल निकालने की चेष्टा भारतीय इतिहास के विभिन्नकालों में करते रहे है और यह प्रवृत्ति अब भी देश में जारी है। उक्त कारण से ही देश मे समय-समय पर महापुरुषो द्वारा, सुधार और प्रगति के उद्देश्य से, प्रचालित अनेकानेक आन्दोलन और सम्प्रदाय अपने प्रधान लक्ष्य से च्युत होकर रूढिवाद की दलदल में फँसकर नष्ट हो गये। यह बात प्राचीन तथा सामयिक इतिहास के प्रेमियो से छिपी नहीं है। रूढिवादियों का यह स्वभाव है कि वे, जैसे परभोजी पौधे अन्य पौधो को नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार प्रगतिशील आन्दोलनो को हथियाकर उनको निष्प्राण तथा निःसत्त्व बना देते है, और ऐसा करने में वे समाज में आदृत शब्दो तथा भावनाओं के रूप में परम्परागत रूढियो का पूरा उपयोग अदृश्यरूप से करते है।

रूढिवाद की उक्त घातक अदृश्य प्रवृत्तियो से अपने को तथा अपने समाज को बचाने के लिए ऐकान्तिक सत्यनिष्ठा, आत्मपरीक्षण, तथा असूढबुद्धि के सतत प्रयोग की आवश्यकता है। मानसिक छद्म या पाखण्ड करने वाले वञ्चकों के लिए ही वेदों में 'द्वयाविन' शब्द का प्रयोग किया गया है और उनकी घोर निन्दा की गयी है।

निरुक्तपरिशिष्ट में **"मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एत तर्कमृषि प्रायच्छन्"** (=ऋषियो की परम्परा के इस जगत् से नष्ट होने पर देवताओ ने मनुष्यों से कहा कि आगे को तर्क ही आपके लिए ऋषियो का स्थानापन्न होगा) इस प्रकार बतलाये गये **'तर्क एव ऋषि'** के सिद्धान्त का उपयोग, दूसरो के खण्डन में नही, किन्तु आत्मपरीक्षण में करना चाहिए।

ऐकान्तिक शब्दप्रमाणपरता या परम्परागत अन्धभक्ति का ही नाम रूढिवाद है और वह सर्वत प्रथम बुद्धि की जडता का द्योतक है।

इसके विरुद्ध, वेदो में **"भद्राद्भि श्रेय प्रेहि"** (तैत्तिरीयसहिता १।२।३।३) (अर्थात्, हे भगवन् आप हमको उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर पद को प्राप्त कराइये), **"कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे"** (ऋग्० १।३६।१४) (अर्थात्, हे भगवन् हम को जीवन-यात्रा में उन्नत और प्रगतिशील बनाइये), इत्यादि मन्त्रो द्वारा प्रगतिवाद का ही गुणगान गिया गया है। वेदो द्वारा गीयमान आशावाद भी वास्तव में प्रगतिवाद का ही रूपान्तर है। वह जीवन का मुख्य लक्षण है।

नवीन जगत् मे प्रवेश करने पर आपका कर्तव्य होना चाहिए कि आप सर्वदा 'तर्क एव ऋषि' की सहायता से तात्त्विकदृष्ट्या आत्मपरीक्षण करके देखते रहे कि कही आप स्वय ही रूढिवाद के शिकार होकर अपनी शिक्षा-दीक्षा के साथ प्रवञ्चना तो नहीं कर रहे है। इस प्रकार प्रगतिवाद तथा आशावाद के आधार पर आर्यधर्म के आदर्शो के अनुसार, आपको नवीन समाज के निर्माण के लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

हम वैदिक धर्म को सनातन तथा सार्वभौम धर्म समझते है। पर जिस समाज से हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध है उसका उस धर्म के आदर्श पर नवीन निर्माण किये बिना हम उस धर्म की सार्वभौमता सिद्ध नही कर सकते। अपने घर को गन्दा रखते हुए हम सफाई की शिक्षा दूसरो को कैसे दे सकते है?

हम अतीत के गीत चिरकाल से गा रहे है। अब समय है कि भविष्य के गीत गाये जाएँ। वास्तविकदृष्ट्या आदर्श भविष्य मे रहता है, न कि अतीत में। अतीत का गीत-गान सम्भव है हमारे जीवन की निश्चेष्ट तथा मन्द गति में कोई परिवर्तन न करे, पर भविष्य का गीत-गान हमारे जीवन को स्फूर्तिमय बनाये बिना नही रह सकता। **"परिमितं वै भूतम्" "अपरिमितं भव्यम्"** (ऐतरेय-ब्राह्मण ४।६), अर्थात्, अतीत परिमित, पर भविष्य अपरिमित होता है—यह कथन नितरा सत्य है। वास्तव मे अतीत का महत्त्व वहीं तक है जहाँ तक वह हमारे भविष्य के निर्माण मे सहायक हो सकता है।

श्रेय और प्रेय मार्गों का रहस्य भी इसी सिद्धान्त मे निहित है। जहाँ प्रेय मार्ग का सम्बन्ध हमारे जीवन की अतीतकालीन भावनाओ से है, वहाँ श्रेय मार्ग का सम्बन्ध आदर्श से है। वास्तविक उन्नति का रहस्य दोनो के समन्वय तथा सामञ्जस्य में है।

मानवता का सम्मान तथा गौरव

आर्यधर्म या वैदिकधर्म को हम सनातन तथा सार्वभौम मानवधर्म समझते है। इसी लिए इसको विभिन्न तत्तत्कालीन वा तत्तद्देशीय सप्रदायो या मतो के साथ एक तुला में नही रखा जा सकता। हमारा यह विश्वास केवल भावना-मूलक ही नही है, इसका आधार ठोस कारणो पर है। पर सनातन सार्वभौम मानवधर्म की कसौटी यही हो सकती है कि उसमे मानवता के उत्कृष्ट पद के लिए पूरे सम्मान और गौरव का, और उसके प्रति शुद्ध न्याय तथा सत्य के व्यवहार का स्थान हो। हमारे प्राचीन साहित्य मे इसी तथ्य को **'आनृशंस्यम्'** इस पद से प्रकट किया गया है।

पर खेद का विषय है कि मानवता के प्रति सम्मान और गौरव के भावो के साथ-साथ, इस पद का प्रयोग भी प्राय हमारे वर्तमान समाज से लुप्त हो गया है।

यथेमा वाच कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ।।
(यजु० २६।२)

सं गच्छध्व स वदध्व स वो मनांसि जानताम् ।
(ऋग्० १०।१९१।२)

समानो मन्त्र' समिति समानी समान मनः सह चित्तमेषाम् ।।
(ऋग्० १०।१९१।३)

जैसी उदात्त वैदिक भावनाओ का स्थान आजकल व्यक्तिगत तथा वर्गगत स्वार्थों के परम्परागत पारस्परिक सघर्ष ने ले लिया है। इस सघर्ष से जीर्ण-शीर्ण भारतीय समाज और भी विषाक्त हो गया है।

धर्म की ओट में और उसके नाम पर निम्न स्वार्थों के साधन मे हमारी तत्परता ने वैदिकधर्माभिमानी समाज को मानवता के सम्मान तथा गौरव के महान् लक्ष्य से विमुख कर दिया है। इसी कारण से प्राय. हमारे कथन और व्यवहार में सामञ्जस्य नही है। आर्य-धर्म की दीक्षा से दीक्षित आप स्नातको का यह कर्तव्य है कि समाज से इस विसवादिनी प्रवृत्ति को दूर करें और समाज को इस योग्य वनाएँ कि उससे सवन्ध रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ईश्वर-प्रदत्त शक्तियो के पूर्ण विकास का पूरा अवसर प्राप्त हो और वह अपने उचित आत्मसम्मान की रक्षा कर सके। ऐसा होने पर ही समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उसके अङ्ग होने का वास्तविक गर्व हो सकता है और वह समाज की सबलता का साधक वन सकता है।

मानवता के समान और गौरव के उपर्युक्त सिद्धान्त को निश्छल हृदय से माने विना, और अपने को वडा समझ कर दलित समाज के सिर पर केवल मिथ्या आश्वासन का हाथ रख कर, या उसके कान में ओकार-रहित या ओकार-सहित मन्त्रो को फूंक कर, और इस प्रकार दलितोद्धार को भी अपने पुजवाने का साधन वनाकर, हम उस समाज को न उठा सकते है, न अपना सकते हैं, उसको रुष्ट भले ही करदें। दलित समाज को अपनाने में हमारी असफलता का यही मुख्य कारण है। यह ध्रुव सत्य है कि उपर्युक्त सिद्धान्त को निश्छल

हृदय से माने बिना हम न तो आर्यधर्म की सार्वभौमता सिद्ध कर सकते है और न अपने समाज का भला कर सकते है।

ईश्वर के शाश्वत नियमो के साथ कोई मिथ्या व्यवहार करे और दण्डित न हो यह कभी नहीं हो सकता !
प्रिय स्नातकगण !

सत्य सनातन आर्यधर्म के प्राणप्रद सन्देश के उपर्युक्त मौलिक सिद्धान्तो को मनसा, वाचा, कर्मणा अपनाये बिना और उनके आधार पर भारतीय समाज का पुन. निर्माण किये विना हम उसके प्रकाशमान स्वरूप को जगत् के सामने प्रकट नही कर सकते। इन सिद्धान्तो को अपनाने की हमे नूतन दृढ प्रतिज्ञा इन शब्दो मे करनी चाहिए —

ओं "ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ।
ध्रुवासः पर्वता इमे" ध्रुवाः स्याम व्रते वयम् ।।

आशावाद के जलसिञ्चन से, प्रगतिवाद के प्रकाश में, आत्मसमीक्षण सत्य-निष्ठा तथा मानवता के लिए सम्मान द्वारा सेवा किया गया ही भारतीय नवीन समाज का पौधा दृढमूल होकर पुष्पित और फलित हो सकता है।

वैदिक साहित्य का पुनरुद्धार

उपर्युक्त सिद्धान्तो और आदर्शो को समाज के हृदयंगम करने का सबसे मुख्य साधन वैदिक साहित्य का पुनरुद्धार और सर्वसाधारण में उसका प्रचार ही है। निराशावाद तथा आदर्शहीनता के वातावरण में निर्मित साहित्य ने हमारी समाज को अकर्मण्य, उत्साहहीन, म्लानमुख तथा दीन बना रखा है। आशावाद के प्राणसजीवन रस से परिप्लुत वैदिक साहित्य ही उक्त अनार्यजुष्ट अस्वर्ग्य और अकीर्तिकर अवस्था से उस समाज का उद्धार कर सकता है।

पर वैदिक साहित्य का उद्धार वेदो की महिमा के गीत गाने से ही नहीं हो सकता। तपस्वी, त्यागी, प्रतिभाशाली, दृढनिष्ठ, सशितव्रत विद्वान् ही इस कार्य को कर सकते है। इस दिशा में अभी तक हमारा प्रयत्न नगण्य ही है। इससे वडी आत्म-प्रवञ्चना क्या हो सकती है !

हमारा ध्येय तो यह होना चाहिए कि जिस प्रकार आधुनिक शिक्षित समाज की बातो मे भी पाश्चात्य-शिक्षा का प्रभाव झलकता है, उससे कही अधिक हमारा समाज आबाल-वृद्ध, आपामर-प्राज्ञ, आराज-रक प्राणसजीवनी वैदिक विचार-धारा से प्रभावित हो, और उसके द्वारा उसके जीवन में एक अदृष्टपूर्व नई ज्योति का, नई प्रेरणा का, नये परिस्पन्दन का स्पष्ट चमत्कार दिखायी दे।

द्वितीय परिशिष्ट

(ङ)

[गीता ने यज्ञ, कर्म, सन्यास जैसे विषयो का जो तात्त्विक विवेचन किया है वह बहुत कुछ वैदिकधारा के मौलिक सिद्धान्तो से मिलता है । गीता का स्वय कहना है —

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ।।
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।

(गीता ४।१-३)

'कल्पना' (दिसम्बर, १९५३) से उद्धृत ग्रन्थकार के इस लेख मे उक्त दृष्टि से ही कुछ विचार किया गया है ।]

भगवद्गीता का एक असाम्प्रदायिक अध्ययन

'भारतीय सस्कृति की विचार-धारा का लक्ष्य' शीर्षक अपने पिछले लेख मे ('कल्पना', अगस्त, १९५३, पृष्ठ ६२०,), साप्रदायिक पारिभाषिकता के दुष्प्रभाव को दिखाते हुए, हमने असाप्रदायिक दृष्टिकोण से अपने प्राचीन उत्कृष्ट साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता पर बल दिया था। भारतीय सस्कृति की प्रगति की पृष्ठभूमि मे उन ग्रन्थो के वास्तविक स्वरूप और महत्त्व को इसी प्रकार समझा जा सकता है ।

साम्प्रदायिकता की परिधि और तन्मूलक रूढिवाद की अन्ध प्रवृत्ति ने हमारे देश के अनेकानेक अनर्घ ग्रन्थ-रत्नो के प्रकाश को चिरकाल से सीमित कर रखा है, यह किससे छिपा है !

साम्प्रदायिक रूढिवाद के अतिरिक्त, हमारा 'ब्राह्मण', 'पुराण' जैसा साहित्य ऐसी अर्थवादात्मक[1] पारिभाषिक शैली मे लिखा हुआ है कि उनके बाह्य आवरण को छिन्न-भिन्न करके उसके साराश या वास्तविक रहस्य तक पहुँचना पण्डितो के लिए भी अत्यन्त दुष्कर हो रहा है । बडे-बडे विद्वान् भी प्राय रहस्यार्थ को न समझ कर, उसके बाह्य-आवरण-रूप शाब्दिक अर्थ को ही वास्तविक अर्थ मान लेते है। इसी कारण, उदाहरणार्थ, तात्त्विक दृष्टि से विचार करने वाला साख्य-दर्शन जिस तत्त्व को 'महत्तत्त्व' या 'बुद्धितत्त्व' कहता है, उसी को, पुरुषविध उपाख्यान शैली को लेकर चलने वाले पुराण 'ब्रह्मा' कहते है[2], यह बात बहुत कम विद्वानो के मन मे बैठेगी ।

वास्तव मे एक ऐसे ग्रन्थ की अत्यन्त आवश्यकता है, जिसमे भारतीय प्राचीन वाङ्मय की विभिन्न पारिभाषिक शैलियो का तात्त्विक दृष्टि से विवेचन और स्पष्टीकरण किया जाए । यदि सम्भव हुआ, तो फिर कभी हम दो-चार लेखो में इसका विचार करेगे ।

आज इस लेख मे ऊपर की दृष्टियो को सामने रख कर भगवद्गीता के एक असाप्रदायिक अध्ययन को हम विद्वान् पाठको के सामने रखना चाहते है ।

भगवद्गीता का स्वरूप और उपयोग

गीता भारतवर्ष की अक्षय निधि है। भारतीय सस्कृति की आत्मा का, समस्त मानव-समाज के कल्याण के लिए, वह एक अनर्घ उपहार है । परन्तु इसम सन्देह ही है कि उसके वास्तविक स्वरूप, सन्देश और महत्त्व को ठीक-ठीक समझा गया है और उसका पूर्णतया सदुपयोग हमने किया है । ऐसी दशा म उसके कल्याणप्रद सन्देश को भारत के बाहर भेजने में हमारा प्रयत्न सर्वथा नगण्य ही रहा है, यह कोई आश्चर्य की बात नही है । इसका प्रधान कारण यही है कि अभी तक गीता प्रायेण साम्प्रदायिक आवरण के अन्दर ही रही है। अभी तक तो भारतवर्ष की ही अहिन्दू जनता उसको केवल हिंदुओ की (या वैष्णवो की) एक धार्मिक पुस्तक समझती है । चाहिए तो यह था कि

---

१ तु० "स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवाद." (न्यायसूत्र २।१।६४)।

२. तु० "मनो महान् मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वर. । प्रज्ञा चितिः स्मृतिः सविद् विपुरं (=ल) चोच्यते बुधैः ।।" (वायुपुराण ४।२५) ।

आज वह समस्त ससार मे कर्तव्याकर्तव्य (कर्म या नीति) के सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्त के प्रतिपादक एक वैज्ञानिक ग्रन्थ के रूप मे विभिन्न विश्वविद्यालयो में पढायी जाती। हमारा विश्वास है कि एक दिन ऐसा अवश्य आएगा। यह तभी होगा, जब कि हम उसे साम्प्रदायिक पारिभाषिकता के आवरण से बाहर निकाल सकेंगे।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि गीता के स्वरूप के विषय में अनेकानेक मत और धारणाएँ चिरकाल से ही भारतवर्ष में रहीं है। भिन्न-भिन्न मतो को लेकर जितने भाष्य और टीकाएँ गीता पर लिखी गयी है, उतनी कदाचित् ही किसी अन्य ग्रन्थ पर होगी। प्राय प्रत्येक सप्रदाय के आचार्यों और विद्वानो ने गीता के अभिप्राय को अपने-अपने अनुकूल दिखाने का प्रयत्न किया है। इससे जहाँ एक ओर गीता का सर्वसम्मत महत्त्व स्पष्ट होता है, वहाँ साथ ही एक तटस्थ जिज्ञासु के सामने जटिल समस्या गीता के स्वाध्याय में दिखायी देती है।

हमारी समझ में इस समस्या का समाधान बहुत अशो में गीता की पृष्ठ-भूमि या ऐतिहासिक भित्ति को समझ लेने से स्वंत हो जाता है। यह समझना कि गीता जैसे महत्त्व के ग्रन्थ की ऐतिहासिक भित्ति, तात्कालिक सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था न होकर, केवल अर्जुन की युद्धक्षेत्र की सशयात्मकता ही थी, अपने को धोखा ही देना है। ससार के किसी भी महत्त्व के ग्रन्थ की ऐतिहासिक भित्ति केवल एक-घटना-मूलक नही मानी जाती। इसलिए गीता के अपने विचारो के वैशिष्ट्य और सामञ्जस्य को समझने के लिए, तात्कालिक समाजगत प्रवृत्तियो को समझना आवश्यक है। उन प्रवृत्तियो का स्वरूप गीता के अध्ययन से ही स्पष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ, गीता के नीचे दिये वचनो को लीजिए

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिता. ॥
आत्मसभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नाम यज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ (१६।१४,१५, १७)
यामिमां पुष्पिता वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिन ॥
कामात्मान स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुला भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ (२।४२-४३)

अर्थात्, मै शक्तिशाली हूँ, समर्थ, सुखी, कुलीन और ऐश्वर्यवान् हूँ, मेरे जैसा और कौन है ? इस प्रकार धन और मान के मद से समन्वित, अभिमान में चूर लोग ही प्राय यज्ञो में प्रवृत्त होते है। तात्विक ज्ञान से शून्य मनुष्य

ही नाना प्रकार के भोगो और ऐश्वर्यों के प्रलोभन से कर्मकाण्डबहुल यज्ञो के प्रतिपादक, श्रुति-मधुर वैदिक वचनो में अनुरक्त देखे जाते है ।

> अशास्त्रविहित घोर तप्यन्ते ये तपो जना ।
> दम्भाहकारसंयुक्ता· कामरागबलान्विताः ॥
> कर्षयन्तः शरीरस्थ भूतग्राममचेतस· ।
> मा चैवान्तःशरीरस्थ तान् विद्धयासुरनिश्चयान् ॥(१७।५-६)

अर्थात्, दम्भ और अहकार से युक्त, नाना प्रकार की कामनाओं से प्रेरित, आसुरी प्रवृत्ति के लोग ही अशास्त्रीय, घोर शारीरिक तपों में प्रवृत्त होते है । वे केवल अपने शरीर को ही कष्ट नही देते, अपितु अपने अन्दर वास करने वाले आत्मा को भी पीडा देते है ।

> न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
> न च सन्यसनादेव सिद्धि समधिगच्छति ॥
> नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
> कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
> कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
> इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचार. स उच्यते ॥ (३।४-६)
> काम्याना कर्मणां न्यासं संन्यास कवयो विदुः ।
> सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ (१८।२)

अर्थात्, कर्मों के न करने से ही मनुष्य नैष्कर्म्य को नही पा लेता है। केवल सन्यास से सिद्धि नही मिल जाती है, क्योकि, मनुष्य प्रयत्न करने पर भी, क्षण भर के लिए भी, बिना कर्म के नही रह सकता । केवल बाहर से कर्म न करते हुए, जो मनुष्य मन से ऐन्द्रियक वासनाओ में डूबा रहता है, वह मिथ्याचारी कहाता है । वास्तव में कामना-प्रधान कर्मो के छोडने को ही **सन्यास** कहते है और कर्तव्य कर्मों के फलो में आसक्ति को छोडना ही सच्चा **त्याग** है ।

गीता के इन वचनो से स्पष्ट है कि गीता के उपदेश का तात्कालिक विशिष्ट कारण जहाँ एक ओर उस समय समाज मे फैली हुई **अत्यधिक कर्मकाण्ड की प्रवृत्ति** थी, वहाँ दूसरी ओर या तो सारे कर्मकाण्ड का तिरस्कार करने वाली **संन्यास की प्रवृत्ति** या घोर शारीरिक कष्ट के रूप में **तप की प्रवृत्ति** थी ।

इसमें सन्देह नही कि ये प्रवृत्तियाँ स्वाभाविकता के आधार पर अपनी-अपनी सीमा के अन्दर मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति में सहायक हो सकती है, पर यह भी ससार के विभिन्न धर्मों के इतिहास से सिद्ध है कि रजोगुण तथा तमोगुण से अभिभूत मनुष्यो के हाथ में आकर, अविवेक, स्वार्थ-बुद्धि,

था, देश में तपस्वि-नामधारियो की थी, जो तरह-तरह की घोर शारीरिक यातनाओ को स्वेच्छया सहने मे ही अपनी कृतकृत्यता समझते थे[1]।

उक्त तीनो प्रकार की प्रवृत्तियो के कारण उत्साह साहस तथा पराक्रम की भावनाओ से ओत-प्रोत, जीवित आर्यजाति में आदर्शहीन, कर्तव्याकर्तव्य-विवेक-शून्य, अनेक मूढ-ग्राहो से अभिभूत, निष्प्रभ, अकर्मण्य तथा मृतप्राय जाति के लक्षण दिखायी देने लगे थे। गीता के ऊपर दिये हुए वचनो से और उसकी सारी विचार-धारा से यह स्पष्ट है कि गीता का उदय देश और जाति को उक्त प्रवृत्तियो के दुष्प्रभाव से बचाने के लिए ही हुआ था। गीता के उपदेश का अभिप्राय यही था कि उक्त प्रवृत्तियो मे आदर्शहीनता के आ जाने से जो परस्पर विरोध आ गया था, उसको एक मौलिक आदर्श की दृष्टि से दूर करके सामञ्जस्य स्थापित किया जाए।

गीता का दुरुपयोग

पर ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत करके उक्त ऐतिहासिक भित्ति या पृष्ठ-भूमि को न समझने के कारण ही गीता का दुरुपयोग चिरकाल से होता रहा है। इसी कारण गीता के विषय में प्राय यह भावना देश मे चिरकाल से ही फैली हुई है कि वह साधु-सन्यासियो की पुस्तक है, वह ऐसा शास्त्र है, जिसका उपयोग, बूढो के लिए भले ही हो, सासारिक कार्यों में लगे हुए, गृहस्थो या नवयुवको के लिए नही हैं। यह मिथ्या-भावना मूढ और पण्डित, दोनो मे समान रूप से फैली हुई चली आ रही है। अभी कुछ वर्ष पूर्व गवर्नमेंट सस्कृत कालेज, बनारस, के सामान्य पाठ्यक्रम में गीता रखने का सस्कृत के अनेक पण्डितो ने विरोध इसी आधार पर किया था कि उसका कोई स्थान सर्वसाधारण के पाठ्यक्रम मे हो ही नहीं सकता।

यह कहना कठिन है कि गीता के विषय में उक्त मिथ्या-भावना प्रारम्भ में क्यो और कैसे प्रचलित हुई, तो भी यह तो निश्चय है कि इसका बहुत-कुछ उत्तरदायित्व जीवन के विषय में उदात्त और आशामय भावनाओ से शून्य, मध्य-

---

१. उदाहरणार्थ, **वाल्मीकि-रामायण** (३।६।२-६) में अश्मकुट्ट (=कुटे हुए कच्चे अन्न को खाने वाले), दन्तोलूखलिन् (=कच्चे अन्न को भी बिना कूटे खाने वाले), पत्राहार (=केवल पत्ते खाने वाले), अशय्य (=न सोने वाले), अनवकाशिक (=एक ही पैर पर खडे रहने वाले), आर्द्रपटवासस् (=गीले कपडे पहनने वाले) आदि घोर तपस्वियो का उल्लेख किया गया है।

दम्भ, मान, प्रमाद और आलस्य के कारण, ये ही प्रवृत्तिया शनै-शनै विकृत रूप धारण कर लिया करती है ।

भारतवर्ष के ही इतिहास मे यज्ञादि कर्मकाण्ड के प्रारम्भ और अतिरेक को लीजिए । यह कर्मकाण्ड, जो मूल मे मनुष्य-जीवन के यावत्कर्तव्य-कर्मो के प्रतीक रूप में था और समाज मे उदात्त भावनाओ का पोषक था, शनै-शनै यजमान और ऋत्विजो की निम्न वा आसुरी वासनाओ की तृप्ति के साधन, नीरस तथा निष्प्राण, शुष्क क्रियाकलाप मे परिवर्तित हो गया ।

उपनिषदो के निम्नलिखित प्रमाण इसी निष्प्राण, आदर्शहीन क्रिया-कलाप के प्रति उद्विग्नता को स्पष्टतया प्रकट करते है—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ।। (मुण्डकोपनिषद् १।२।७)
अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणा परियन्ति मूढा
अन्धनैव नीयमाना यथान्धा. ।। (कठोपनिपद् १।२।५)

अर्थात्, ये आदर्श-हीन यज्ञादि कर्मकाण्ड अदृढ नौका के समान है । अविवेकी लोग इनको ही जीवन का लक्ष्य बना कर, अपनी अन्ध वासनाओ के भँवर में ही पडे रहते है और आध्यात्मिक उन्नति के पद को नही प्राप्त कर सकते । मूढ लोग, अपने को पण्डित और बुद्धिमान् समझते हुए, पर वास्तव में अज्ञानवश आदर्शहीन क्रियाकलाप में फँसे हुए, आत्मिक उन्नति के सरल-सीधे मार्ग मे अग्रसर नही हो पाते है । वे मान, दम्भ, मोह के टेढे मार्ग में ही फँस कर अपने जीवन को नष्ट करते है । उनकी दशा वास्तव मे अन्धे के पीछे चलने वाले अन्धे के ही समान होती है ।

ऐसे ही आदर्शहीन क्रियाकलाप को लक्ष्य करके गीता के उपर्युक्त भाव प्रकट किये गये है ।

दूसरी ओर, अत्यधिक कर्मकाण्ड की उक्त प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया के रूप मे, देश में ज्ञान-काण्ड की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ था । यह प्रवृत्ति भी वढते-वढते कालान्तर मे, अतिमात्रता के कारण, शुष्क ज्ञान के रूप में आकर प्रमाद, आलस्य तथा अकर्मण्यता में परिवर्तित हो गयी ।

इसी प्रकार, तीसरी प्रवृत्ति, जिसका प्रभाव भी सामान्य जनता पर काफी

था, देश मे तपस्वि-नामधारियो की थी, जो तरह-तरह की घोर शारीरिक यात-नाओ को स्वेच्छया सहने मे ही अपनी कृतकृत्यता समझते थे[1]।

उक्त तीनो प्रकार की प्रवृत्तियो के कारण उत्साह साहस तथा पराक्रम की भावनाओ से ओत-प्रोत, जीवित आर्यजाति में आदर्शहीन, कर्तव्याकर्तव्य-विवेक-शून्य, अनेक मूढ-ग्राहो से अभिभूत, निष्प्रभ, अकर्मण्य तथा मृतप्राय जाति के लक्षण दिखायी देने लगे थे। गीता के ऊपर दिये हुए वचनो से और उसकी सारी विचार-धारा से यह स्पष्ट है कि गीता का उदय देश और जाति को उक्त प्रवृत्तियो के दुष्प्रभाव से बचाने के लिए ही हुआ था। गीता के उपदेश का अभिप्राय यही था कि उक्त प्रवृत्तियो मे आदर्शहीनता के आ जाने से जो परस्पर विरोध आ गया था, उसको एक मौलिक आदर्श की दृष्टि से दूर करके साम-ञ्जस्य स्थापित किया जाए।

गीता का दुरुपयोग

पर ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत करके उक्त ऐतिहासिक भित्ति या पृष्ठ-भूमि को न समझने के कारण ही गीता का दुरुपयोग चिरकाल से होता रहा है। इसी कारण गीता के विषय में प्राय यह भावना देश में चिरकाल से ही फैली हुई है कि वह साधु-सन्यासियो की पुस्तक है, वह ऐसा शास्त्र है, जिसका उपयोग, बूढो के लिए भले ही हो, सासारिक कार्यों में लगे हुए, गृहस्थो या नवयुवको के लिए नही हैं। यह मिथ्या-भावना मूढ और पण्डित, दोनो में समान रूप से फैली हुई चली आ रही हैं। अभी कुछ वर्ष पूर्व गवर्नमेंट सस्कृत कालेज, बनारस, के सामान्य पाठ्यक्रम में गीता रखने का सस्कृत के अनेक पण्डितो ने विरोध इसी आधार पर किया था कि उसका कोई स्थान सर्वसाधारण के पाठ्यक्रम में हो ही नहीं सकता।

यह कहना कठिन है कि गीता के विषय में उक्त मिथ्या-भावना प्रारम्भ में क्यो और कैसे प्रचलित हुई, तो भी यह तो निश्चय है कि इसका बहुत-कुछ उत्तरदायित्व जीवन के विषय में उदात्त और आशामय भावनाओ से शून्य, मध्य-

---

१. उदाहरणार्थ, **वाल्मीकि-रामायण** (३।६।२-६) में अश्मकुट्ट (=कुटे हुए कच्चे अन्न को खाने वाले), दन्तोलूखलिन् (=कच्चे अन्न को भी बिना कूटे खाने वाले), पत्राहार (=केवल पत्ते खाने वाले), अशय्य (=न सोने वाले), अनवकाशिक (=एक ही पैर पर खडे रहने वाले), आर्द्रपटवासस् (=गीले कपडे पहनने वाले) आदि घोर तपस्वियो का उल्लेख किया गया है।

काल के उन भाष्यकारो और टीकाकारो पर है, जिन्होने गीता को वेदान्तशास्त्र के साथ बाँध दिया। परन्तु देखिए, स्वय गीता का उत्तर इस विषय में क्या है।

गीता के उपक्रम और उपसंहार

यह मानी हुई बात है कि किसी भी ग्रन्थ के वास्तविक तात्पर्य का निर्णय उसके उपक्रम (=प्रारम्भ) और उपसहार (=समाप्ति) से ही किया जाता है। **गीता का उपक्रम** शस्त्र-सज्जित युयुत्सु वीरो से भरे हुए युद्धक्षेत्र मे **'प्रवृत्ते शस्त्र-संपाते'** होता है। ऐसे अवसर पर विचार-सघर्ष मे लीन, विषाद के गर्त मे पडे हुए, किंकर्तव्य-विमूढ, सशयात्मा अर्जुन के प्रति भगवान् श्रीकृष्ण का सब से पहला वचन यह है—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ! ॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ ! नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ! ॥(२।२-३)

अर्थात्, हे अर्जुन ! इस अवसर पर आर्यों से निन्दित, आत्मा को गिराने वाली तथा अपयश की हेतु यह घबराहट तुम्हारे हृदय मे कहाँ से आ गयी ? तुम वीर हो, शत्रुओ का नाश करने वाले हो, हृदय की इस क्षुद्र दुर्बलता को छोडकर युद्ध के लिए खडे हो जाओ !

अब **गीता के उपसंहार** को लीजिए। गीता का अन्तिम श्लोक यह है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥(१८।७८)

इसमें सजय का यही कहना है कि मेरी धारणा है कि जहाँ विशुद्ध कर्तव्य-भावना के उपदेष्टा श्रीकृष्ण तथा धनुर्धारी वीर अर्जुन के सवादात्मक ढग गीता के उपदेश का अनुसरण किया जाएगा, वहाँ लक्ष्मी, विजय, ऐश्वर्य तथा सत्य से न डिगनेवाली नीति रहेगी। दूसरे शब्दो मे इसका यही अभिप्राय है कि गीता, जिसका उपदेश युद्धक्षेत्र में स्थित वीर अर्जुन को लक्ष्य करके किया गया है, श्री, विजय, भूति तथा सन्नीति का प्रतिपादक शास्त्र है। निश्चय ही इनका कोई स्थान वेदान्त-शास्त्र मे नही हो सकता, न कोई वेदान्त-शास्त्र का ग्रन्थ वेदान्त-के जिज्ञासु के सामने लक्ष्मी, विजय आदि को आदर्श-रूप मे रखेगा।

यह भी ध्यान मे रखने की बात है कि गीता के उपदेश का प्रभाव अर्जुन पर यह नही हुआ कि वह युद्ध मे मुँह मोड कर जगल मे जाकर तपस्या करता

या किसी देव-मन्दिर मे बैठ कर भगवान् की भक्ति और आराधना करता। उसका प्रभाव तो यही हुआ कि अर्जुन ने प्राणपण से युद्ध मे भाग लिया और शत्रुओ पर पूर्ण विजय प्राप्त की। गीता के समस्त उपदेश को सुनकर अर्जुन स्वय कहता है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥(१८।७३)

अर्थात्, हे अच्युत ! आपके उपदेश से मेरा सारा मोह और भ्रम दूर हो गया है । मै अब आपका कहना करूँगा और युद्ध में भाग लूँगा ।

इससे यह स्पष्ट है कि गीता केवल साधु-सन्यासी या बूढो का शास्त्र नही है, न वह कर्मभीरु, प्रमादी, आलसी या झूठे वैराग्य की ओट में अपने सासारिक कर्त्तव्यों से मुँह मोडने वालो का शास्त्र है।

प्रत्युत वह

ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु
वयं त्वेन्धानास्तन्व पुषेस ।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस्
त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम ॥ (ऋग्० १०।१२८।१)
इन्द्र त्वोतास आ वयं
वज्रं घना ददीमहि ।
जयेम सं युधि स्पृधः ॥ (ऋग्० १।८।३)

(अर्थात्, हे भगवन् ! हम वर्चस्वी, तेजस्वी तथा बलवान् बन कर, अपने शत्रुओ पर, अपनी उन्नति में बाधक शक्तियो पर विजय प्राप्त करे और समस्त दिशाएँ हमारे सामने नतमस्तक हो ! भगवन् ! आपकी रक्षा में हम समग्र उपकरणो से सन्नद्ध हो कर, विघ्न-बाधाओ पर विजय प्राप्त करते हुए, उन्नति-मार्ग मे अग्रसर होते रहे) ऐसी उदात्त प्रार्थनाओ को करने वाले, कर्मशील, सत्यनिष्ठ, विजयी लोगो का कर्मशास्त्र है ।

गीता का वास्तविक स्वरूप

गीता के वास्तविक स्वरूप और प्रतिपाद्य विषय को ठीक-ठीक समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि गीता किसी धर्म-विशेष या संप्रदाय-विशेष का प्रतिपादन नही करती, न वह किसी सम्प्रदाय का खण्डन या तिरस्कार ही करती है । वह तो कर्मविषयक मौलिक सत्य का प्रतिपादक शास्त्र है, और इसीलिए वह, हमारे मत में, सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक महत्त्व रखती है ।

मनुष्य की धार्मिक प्रवृत्तियो की समालोचना करते हुए, वह उनके लिए सच्चे आदर्श का प्रदर्शन भी करती है । **वास्तव में गीता को हम धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, या कर्तव्याकर्तव्यशास्त्र कह सकते हैं** । वह प्रत्येक धर्म-कर्म की कसौटी है, और इस प्रकार 'धर्मशास्त्रो का धर्मशास्त्र' है ।

हमारा तो ऐसा विचार है कि गीता मे, प्राचीनतम भारतीय रूपकोन्मुख प्रवृत्ति के अनुसार ही, महाभारतीय युद्धक्षेत्र मे अवस्थित अर्जुन और भगवान् वासुदेव के सवाद के व्याज से, सासारिक सघर्षमय जीवन के क्षेत्र मे उद्योगशील प्रत्येक व्यक्ति के लिए भगवान् कृष्ण द्वारा प्रदर्शित कर्तव्यपथ का वर्णन किया गया है ।

गीता जैसे शास्त्र के महत्त्व को हृदयगम करने के लिए हमे एक और सिद्धान्त को भी समझ लेना आवश्यक है। वह सिद्धान्त यह है कि आध्यात्मिक तथा दार्शनिक तत्त्वो के परिशीलन मे भाषा केवल परिभाषा का ही काम करती है । जैसे तत्तत्-शास्त्रो मे व्यवहार की सुविधा के लिए पारिभाषिक शब्दो की कल्पना कर ली जाती है, ऐसे ही आध्यात्मिक और दार्शनिक जगत् मे, समाज-गत शाब्दिक रूढियो का सहारा लेकर, तत्तत्-प्रमेयो का प्रतिपादन किया जाता है । इस प्रकार भाषा, तात्त्विक स्वरूप मे भेदक न हो कर, उस स्वरूप के विभिन्न पहलुओ को ही बताती है । इसलिए '**शब्दब्रह्मातिवर्तते**' के अनुसार भाषा के स्तर से ऊपर उठजाने वाले एक तत्त्वदर्शी स्थितप्रज्ञ की दृष्टि मे वेदान्त का 'ब्रह्म', नीतिशास्त्र का 'सत्य', बौद्ध-दर्शन का 'धर्म' या 'धम्म', मीमासादर्शन का 'कर्म', तन्त्र-शास्त्र का 'शक्ति', या स्वय गीताशास्त्र का 'अहम्' या 'वासुदेव' शब्द वास्तव मे एक ही मौलिक तत्त्व के प्रतिपादक हैं ।

मनुष्य की बनायी हुई भाषा, जो कि

> **"वाग् वै मनसो ह्रसीयसी। अपरिमिततरमिव हि मनः ।**
> **परिमिततरेव हि वाक् ।" (शतपथब्राह्मण १।४।४।७)**

(अर्थात्, निश्चय ही वाणी का पद मन या विचार से छोटा है । वाणी या भाषा की अपेक्षा मन या विचार का क्षेत्र कही अधिक विस्तृत है) इस श्रुति के अनुसार विचार को स्पष्ट करने का एक अपूर्ण साधन है, स्वत सिद्ध मूल-तत्त्व को बताने ही वाली (=प्रतिपादक) है, बनाने वाली (=उत्पादक) नही ।

उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार एक तत्त्वदर्शी विपश्चित् की दृष्टि, मनुष्य की निम्न वासनाओ को दबा कर उसकी उच्च आध्यात्मिक या नैतिक प्रवृत्तियो के प्रबोधन तथा पोषण के निमित्त विभिन्न धर्मो द्वारा प्रतिपादित, विभिन्न कर्मकाण्डो मे, विभिन्न देव-पूजा-पद्धतियो मे, या, अधिकारि-भेद या प्रवृत्तिभेद के कारण, विभिन्न शाब्दिक परिभाषाओ के आश्रय से मौलिक तत्त्व के प्रतिपादक विभिन्न दर्शन-(=दृष्टि) शास्त्रो मे भेद नही देखती ।

गीता के कर्म तथा यज्ञ का स्वरूप

गीता को हमने ऊपर कर्तव्याकर्तव्य-शास्त्र या कर्म-शास्त्र कहा है। उसका विशिष्ट प्रतिपाद्य विषय यही है कि मनुष्य को कर्म कर्तव्य-बुद्धि या अनासक्त बुद्धि से ही नही, अपितु ईश्वरार्पण-बुद्धि या भक्तिभावना से भी करना चाहिए।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः॥ (३।१९-२०)
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (९।२७)

अर्थात्, मनुष्य को अपना कर्तव्य-कर्म उसके फल मे अनासक्त हो कर करना चाहिए। इसी प्रकार वह अपने अभीष्ट चरम पद को प्राप्त कर सकता है। इसका अभिप्राय, दूसरे शब्दो मे, यही है कि मनुष्य अपने कर्तव्य-कर्म को करता हुआ, उसको समस्त जगत् की समष्टिरूप ईश्वर को अर्पण करने की बुद्धि से ही करे।

इस प्रकार अनासक्त बुद्धि तथा ईश्वरार्पण-बुद्धि से किये गये कर्म की महिमा गीता में भरी पडी है। साथ ही

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ (३।१०)
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥ (४।३१)

(अर्थात्, सृष्टि के प्रारम्भ में यज्ञ के साथ ही समस्त प्रजाओ को उत्पन्न करते ही प्रजापति ने कहा था कि यज्ञ ही तुम्हारी कामनाओ की पूर्ति करेगा और तुम्हारी सारी उन्नति का आधार यज्ञ होगा। यज्ञ द्वारा ही मनुष्य परिपूर्ण अवस्था को प्राप्त कर सकता है। उसके विना तो इस लोक में भी मनुष्य सुखी नही हो सकता।) इस प्रकार यज्ञ की भी महिमा का काफी गान किया गया है।

परन्तु गीता के सिद्धान्त को ठीक-ठीक समझने के लिए कर्म और यज्ञ के वास्तविक स्वरूप को जानना अत्यन्त आवश्यक है। शब्द-विषयक रूढिवाद के प्रभाव से तप, दान, दया, स्वर्ग, वर्ण, श्रद्धा—जैसे महत्त्व के शब्दो के समान, 'कर्म' और 'यज्ञ' शब्दो के अर्थ के विषय में भी हमारा समाज वास्तविकता से बहुत दूर चला गया है। हमारे धर्मशास्त्र भी इसके अपवाद नही है। रूढिमूलक इसी परम्परागत भ्रम को दूर करने के लिए गीता ने, अन्य कई शब्दो

की तरह, 'कर्म' और 'यज्ञ' शब्दो के भी वास्तविक अर्थों को दिखाने के लिए काफी प्रयत्न किया है। कर्म-विषय मे गीता ने कहा है --

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः। (४।१६)

अर्थात्, कर्म तथा अकर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने में कवियो या विद्वान् लोगो ने भी भूल की है।

सामान्य रूप से कर्म शब्द का अर्थ यज्ञादि कर्मकाण्ड या पूजा-पाठ आदि लिया जाता है। परन्तु जिस कर्म का विचार गीता करती है, उसमे तो जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, नागरिकता आदि के सासारिक सम्बन्धो से प्रेरित होकर, मनुष्य जितने भी काम करता है, वे सव सम्मिलित है। यज्ञादि कर्मकाण्ड तो केवल उसी व्यापक जीवन की तैयारी है, प्रतीक है। जैसे कुछ मिनिटो के शारीरिक व्यायाम का महत्त्व हमारे शरीर को सारे दैनिक कार्य के लिए स्वस्थ रखने में होता है, इसी तरह सारे कर्मकाण्ड का महत्त्व, मनुष्य की उच्च भावनाओ की पुष्टि द्वारा, उसके सारे जीवन की पवित्रता और सच्चरित्रता में है। जब कर्मकाण्ड या पूजापाठ मे यह भावना नही रहती, जब वह स्वय हमारा लक्ष्य बन जाता है, तव वह मान, दम्भ, पापण्ड, लोभ और परप्रतारणा के भावो से सचालित होकर, आदर्शहीन, जटिल क्रिया-कलाप के रूप मे, व्यक्तिगत तथा समाजगत उच्च भावनाओ तथा नैतिकता का पोपक होने के स्थान मे, उनका घातक बन जाता है। जनता समझने लगती है कि थोडे से पूजापाठ से ही मनुष्य को कृतकृत्यता मिल सकती है और उसके दिन-रात के अन्य कर्तव्यो का आध्यात्मिक जीवन से कोई सवध नहीं है। ऐसे ही आदर्शहीन यज्ञादि कर्मकाण्ड को गीता ने तामस और राजस कहा है और अनेक प्रकार से उसकी भर्त्सना की है।

गीता की दृष्टि से किसी भी काम का महत्त्व, चाहे वह लौकिक हो या धार्मिक, उस भावना पर निर्भर है, जिससे प्रेरित होकर मनुष्य उसे करता है। कर्म करने वाला चाहे वडा विद्वान् हो, पण्डित हो, ब्राह्मण हो, सम्पत्तिशाली हो, या साधारण-से-साधारण काम करने वाला शूद्र या हरिजन हो, दोनो के व्यक्तित्व का, ऊँच-नीच का, निर्णय गीता इसी दृष्टि से करेगी। हमारे पुराणादि साहित्य मे धर्मव्याध आदि की कथाओ का यही अभिप्राय है

यही दशा '**यज्ञ**' शब्द की है। उसके भी वास्तविक अर्थ को भूलकर, चिरकाल से हम सकुचित अर्थ मे उसका प्रयोग करने लगे है। यज्ञ का मौलिक अर्थ अग्नि मे आहुति डालना नही है। यह तो वास्तविक यज्ञ-भावना का केवल एक प्रतीक है। **यज्ञ का वास्तविक अर्थ अल्पज्ञ, स्वभावत. इन्द्रिय-परायण तथा स्वार्थसाधन में तत्पर मनुष्य का, अपनी निम्न-प्रवृत्तियो पर विजय पाने के लिए, जगत् की पोपक**

स्वभावतः परार्थ-प्रवृत्त दैवी शक्तियो या शक्ति के साथ अपना सम्पर्क स्थापित करना है। और यह सम्पर्क निःस्वार्थ लोकसेवा द्वारा ही स्थापित किया जा सकता है। इसी भाव को गीता ने

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।। (३।११)

इन शब्दो में वर्णन किया है। ऐतरेय-ब्राह्मण आदि ग्रन्थो मे इसी अर्थ मे **'भावना-यज्ञ'** शब्द का प्रयोग किया गया है। 'यज्ञ' शब्द की धातु 'यज देवपूजा-सगतिकरण-दानेषु' की देव-पूजा का वास्तविक अर्थ यही है। इसी प्रकार के यज्ञ द्वारा, गीता के मत मे, **"भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्"** (५।२९) के अनुसार, यज्ञ तथा तप के भोक्ता भगवान् की भक्ति या पूजा की जा सकती है। वास्तव मे गीता के अनुसार कर्त्तव्य-तथा ईश्वरापर्ण-बुद्धि से किया हुआ कर्म ही सच्चा यज्ञ है।

गीता की भक्ति

गीता में अत्यन्त महत्त्व का शब्द **'भक्ति'** है। परन्तु 'भक्ति' शब्द का जो प्रचलित अर्थ है, गीता की 'भक्ति' उससे नितरा भिन्न है। गीता के अनुसार **विश्व-प्रपञ्च को चलाने वाले, समस्त प्रेरणाओं के केन्द्र, समस्त व्यष्टियो के प्राण-रूप, यज्ञ तथा तप के उपभोक्ता अर्थात् सार्थक्य के सपादक, समष्टि-रूप मूलतत्त्व के साथ सामञ्जस्य के लिए** (जिसको साप्रदायिक परिभाषा मे 'सर्व-लोक-महेश्वर भगवान् की प्रीत्यर्थ' इन शब्दो में कहा जा सकता है) **कर्म करना ही सच्ची भक्ति है।**

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।। (गीता १८।४६)

इसके अनुसार मनुष्य-जीवन की सफलता का रहस्य कर्म द्वारा ईश्वर-भक्ति (अर्थात् व्यष्टि और समष्टि के सामञ्जस्य) मे है। यह ठीक भी है, क्योकि व्यक्ति के कर्त्तव्य की इतिश्री समष्टि के साथ उसके सामञ्जस्य मे ही है। इस प्रकार भक्तिवाद कर्त्तव्यबुद्धि या आदर्शवाद की ही पराकाष्ठा है। यह भक्तिवाद कर्त्तव्यबुद्धि की भावना में नवीन मधुररस का सचार करता है। इसमे दैन्य, आलस्य, प्रमाद या अकर्मण्यता के लिए स्थान नही है। न यह पुरुष को, प्रकृति के विरुद्ध, स्त्रीतुल्य आचरण करना सिखाता है, न अत्याचारी के अत्याचार को सहना। **"वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि"** के अनुसार इसमें नम्रता और शौर्य का अनोखा सामञ्जस्य है। गीता के भक्तिवाद की दृष्टि से स्व-कर्त्तव्य-पालन में

सर्वस्व की बलि देने वाले महाराणा प्रताप या गुरु गोविन्दसिंह वैसे ही भक्त हैं, जैसे गोस्वामी तुलसीदास या भक्त सूरदास।

गीता का भक्त आशा और आत्मविश्वास की प्रतिमूर्ति होता है। वह बड़े-बड़े संकटों से भी न घबड़ा कर उनका स्वागत करता है। उसकी मानसिक अवस्था का सुन्दर वर्णन गीता इस प्रकार करती है—

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ (२।३२)

सुखःदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ (२।३८)

वास्तव में गीता की प्रक्रिया के अनुसार, यज्ञ तप आदि की तरह, भक्ति के भी सात्विक, राजस और तामस, ये तीन भेद किये जा सकते हैं। हमारी समझ में यह भेद निम्नलिखित प्रकार से दर्शाया जा सकता है—

योऽन्तरात्मा जगत्साक्षी सृष्टवानिदमद्भुतम्।
कल्याणवुद्धया जीवानां तत्प्रसादाय केवलम्॥१॥

कर्तव्यमिति यत्कर्म क्रियते नियतात्मभिः।
सिद्धयसिद्धयोः समैर्भूत्वा भक्तिः सा सात्त्विकी मता॥२॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं समुत्साहः स्वकर्मसु।
श्रेयोऽभ्युदयसिद्धिश्च तस्याः फलमिहोच्यते॥३॥

सत्कारमानपूजार्थं प्रतार्य सकलं जगत्।
जीविकासाधनार्थं वा प्रेयोमार्गपरायणैः॥४॥
लोकेशस्य प्रसादार्थमेवमुद्दिश्य सर्वतः।
क्रियते यः समारम्भो भक्तिः सा राजसी मता॥५॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च समुद्वेगः स्वकर्मसु।
चित्तचञ्चलता चैव तस्याः फलमिहोच्यते॥६॥
समुत्सृज्य स्वकं कर्म सदालस्यपरायणैः।
कर्मण्यकर्म पश्यद्भिरकर्मणि च कर्म यत्॥७॥
नाम्नः संकीर्तनेनैव न तु कर्मसमाश्रयात्।
पूज्यते भगवान्नित्यं भक्तिः सा तामसी मता॥८॥
निरुद्यमा निरुत्साहा हीनसत्त्वपराक्रमाः।
अनार्यजुष्टमार्गस्था जायन्ते ता समाश्रिताः॥९॥

(रश्मिमाला ६५।१-९)

अर्थात्, जगत् के साक्षिभूत जिन अन्तरात्मा भगवान् ने यह अद्भुत सृष्टि जीवो के कल्याणार्थ की है, केवल उनकी प्रसन्नता के लिए, सिद्धि तथा असिद्धि को वरावर समझने वाले, सयतात्मा मनुष्य कर्तव्य-वुद्धि से जो काम करते है वही सात्त्विकी भक्ति है। उस भक्ति से मन की प्रसन्नता, सौम्यता, अपने कर्मों मे उत्साह और नि श्रेयस तथा अभ्युदय की सिद्धि, ये प्राप्त होते हैं।

केवल स्वार्थ-तत्पर लोगो द्वारा, 'ईश्वर की प्रसन्नता के लिए ही यह काम किया जा रहा है' प्रत्यक्षत ऐसी सर्वत्र घोषणा करके, अपने सत्कार मान और पूजा के लिए या जीविका-प्राप्ति के लिए, जगत् को धोखा देकर, जो कार्य किया जाता है, वह राजसी भक्ति कहलाती है। इस भक्ति से मनुष्य मे केवल दम्भ, दर्प, अभिमान, अपने कार्यो मे अशान्ति तथा चित्तचञ्चलता, इनकी ही वृद्धि होती है।

कर्म को अकर्म और अकर्म को कर्म समझने वाले आलसी लोगो द्वारा, अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा करके, केवल नाम के सकीर्तन से, न कि नि स्वार्थ कर्म द्वारा, भगवान् की पूजा करना तामसी भक्ति है। ऐसी भक्ति करने वाले, उद्यम, उत्साह तथा तेज और पराक्रम से विहीन हो कर, अनार्यसेवित मार्ग का अवलम्बन करते है।

आत्मपरीक्षण या अन्तरवेक्षण

ऊपर हमने कहा है कि गीता किसी सप्रदाय-विशेष की पुस्तक नही है, न वह किसी कर्मकाण्ड-विशेष का प्रतिपादन करती है। वह तो मनुष्यमात्र के सामने, चाहे वह किसी सप्रदाय या धर्म का अनुयायी हो, कर्म करने का उच्चतम आदर्श रखती है। साथ ही वह वतलाती है कि प्रत्येक कर्म को उसकी भावात्मिका भित्ति की दृष्टि से देखना चाहिए, क्योकि प्रत्येक धार्मिक या नैतिक कर्म का महत्त्व हमारे भावो पर निर्भर है। भाव-सशुद्धि को गीता ने मानस-तपो मे गिनाया है। इसके लिए आत्म-परीक्षण या अन्तरवेक्षण की अत्यन्त आवश्यकता है। यह अन्तरवेक्षण गीता की शिक्षा का एक वडा वैशिष्टय है।

यह अन्तरवेक्षण प्रकृतिसिद्ध सत्त्व, रजस्, तमस्, इन तीन गुणो के आधार पर ही किया जा सकता है। स्थूल रूप से कहा जा सकता है कि अविवेक, मोह, जडता, आलस्य तथा प्रमाद ये तमोगुण के लक्षण है, परम्परागत अन्ध-रूढियो तथा चिर-प्ररूढ अपनी ही वासनाओ की दासता रजोगुण का लक्षण है, और अपने प्रत्येक कार्य के परीक्षण मे सजग रहना, अमूढ रहना और प्रमाद तथा वासनाओ से असपृक्त, शुद्ध वौद्धिक दृष्टि को स्थिर रखना सत्त्वगुण की पहचान है। गीता ने स्वय, उदाहरण के रूप मे, श्रद्धा, यज्ञ, तप, दान आदि का सात्त्विक,

राजस, तामस भेद से त्रैविध्य दिखाया है। इसी कसौटी द्वारा हम अपने प्रत्येक कर्म का परीक्षण कर सकते हैं।

'**अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा**' के अनुसार अन्ध रूढियो के प्रभाव मे बहती हुई भारतीय जनता को आज प्राय प्रत्येक दिशा मे इस अन्तरवेक्षण की कितनी आवश्यकता है, यह कहने की बात नहीं है। हमारे दान, यज्ञ, तप तथा धर्म के नाम पर किये जाने वाले अन्य कार्य भी, सात्त्विक रूप से गिरकर, प्राय रिवाज, मान, दम्भ तथा अविवेक की वस्तु हो गये हैं। गीता की शिक्षा का पहला प्रभाव हम पर यह होना चाहिए कि हम अन्तरवेक्षण द्वारा अपने कामो की तथा अपनी रूढियो की गीता की कसौटी पर परीक्षा करना सीखे। इसी आत्म-परीक्षण के लिए गीता ने प्राय 'अमोह' शब्द का प्रयोग किया है। गीता का कहना है

गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्। (१५।५)

कठोपनिषद् ने इसी बात को अपने सुन्दर शब्दो में कहा है :

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।

अर्थात्, कोई धीर-वीर पुरुष ही, आत्मकल्याण को चाहता हुआ, आत्मपरीक्षण की ओर झुकता है।

गीता का आशावाद

भारतीय आर्य-धर्म की एक मुख्य विशेषता उसका आशावाद है। हमारा प्राचीन साहित्य, विशेष कर वैदिक साहित्य, आशावाद के ओजपूर्ण भावो से ओत-प्रोत है। जैसे—

ओजोऽस्योजो मयि धेहि।

(=परमात्मन् आप ओज स्वरूप हैं मुझे भी ओजस्वी बनाइए)।

अदीनाः स्याम शरदः शतम्।

(=हम जीवन मे कभी दीनता को धारण न करे)।

मदेम शतहिमाः सुवीराः।

(=हम वीर सन्तानो से युक्त होकर जीवनभर प्रसन्नता से रहे)।

कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे

(=भगवन्! आपके अनुग्रह मे हम उन्नत जीवन के लिए सदा सचेष्ट रहें)।

हमारी जाति के इस आशावाद का आधार जहाँ एक ओर आत्मविश्वास था, वहाँ दूसरी ओर जगन्नियन्ता भगवान् की सृष्टि मे, अत्यन्त व्यापक अर्थों में, सत्य का साम्राज्य है, इस विश्वास में था। "**असतो मा सद् गमय**" (=भगवन्! मुझे असत्य से सत्य की ओर ले चलिए), "**सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा**"

(=सत्याचरण द्वारा ही मनुष्य अपने सच्चे स्वरूप को पहचान सकता है), "सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्" (=सारा विश्व सत्य मे ही प्रतिष्ठित है), इन श्रुतियो से हमारे पूर्व-पुरुषो की गम्भीर तथा व्यापक सत्य-भावना स्पष्ट है ।

गीता में भी यही महान् आदर्श ओत-प्रोत है । गीता जहाँ एक ओर "उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्" (६।५) (अर्थात्, अपनी उन्नति अपने भरोसे पर करो और आत्मग्लानि से अपने को बचाओ) की शिक्षा देती है, वहाँ दूसरी ओर भगवान् कृष्ण के प्यार-भरे शब्दो में विश्वास दिलाती है·

कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति । (९।३१)
नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात ! गच्छति । (६।४०)
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते । (२।४०)

अर्थात्, हे प्रिय अर्जुन ! इसका विश्वास रखो कि कर्त्तव्य-बुद्धि से कर्म करने वाला, कल्याणमार्ग का पथिक कभी दुर्गति को प्राप्त नही हो सकता । कोई भी सत्प्रयत्न निष्फल रहे, ऐसा नही हो सकता ।

यह कल्याण-भावना भोगैश्वर्यप्रसक्त, इन्द्रियलोलुप, या समयानुकूल अपना काम निकालने वाले आदर्शहीन व्यक्तियो की वस्तु नही है । इसके स्वरूप को तो वही समझ सकता है, जिसका यह विश्वास है कि उसका सत्य बोलना, सयत जीवन व्यतीत करना, आपत्तियो के आने पर भी अपने कर्तव्य से मुँह न मोडना उसके स्वभाव, उसके व्यक्तित्व के अतस्तम स्वरूप की आवश्यक्ता है । जैसे एक फूल का सौन्दर्य और सुगन्ध किसी वाह्य कारण से न होकर, उसके स्वरूप का अग है, ऐसे ही एक कल्याणमार्ग के पथिक का निरपेक्ष या अनासक्त हो कर कर्तव्यपालन करना उसके स्वरूप का अग है, उसके जीवन का सार्थक्य, जीवन की पूर्णागता ही इसमें है । गीता इसी को सात्त्विकी श्रद्धा कहती है । गीता की भक्ति और निष्काम कर्म के मूल में यही आशामय, श्रद्धामय कल्याण-भावना निहित है ।

आशावाद-मूलक गीता की यह कल्याणभावना, और "**यद्भद्रं तन्न आ सुव**" (=भगवन् ! जो भद्र या कल्याण है, उसकी हमें प्राप्ति कराइए,), "**भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि**" (=भद्र या कल्याणमार्ग पर चलते हुए हम अपना जीवन व्यतीत करे), "**भद्रं कर्णेभि. शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्रा.**" (=हम भद्र को सुने और भद्र को ही देखें) इत्यादि अनेकानेक मन्त्रो में वर्णित वैदिक भद्र-भावना, दोनो एक ही है । दोनो के मूल में आशावाद है, और दोनो का लक्ष्य मनुष्य को सतत कर्तव्यशील बनाना है ।

उपसंहार

ऊपर हमने सक्षेप मे गीता के 'कर्म', 'यज्ञ', 'भक्ति' आदि के विषय मे कुछ मौलिक सिद्धान्तो को असाम्प्रदायिक दृष्टि से दिखाने का यत्न किया है। गीता के वास्तविक स्वरूप और महान् उपयोग को समझने मे इससे अवश्य सहायता मिलेगी, ऐसी हमे आशा है।

नि सन्देह गीता की महिमा अनन्त है। वह हमारी जाति का एक अनर्घ समुज्ज्वल रत्न है। आवश्यकता इस बात की है कि हम उसके महत्त्व और उपयोग को ठीक-ठीक समझें और उसके द्वारा जनता में तन्द्रा, क्लान्ति, दैन्य, निराशा, आलस्य, प्रमाद, दम्भ और पाखण्ड को हटा कर, उनके स्थान में स्फूर्ति, उत्साह, आशा, आत्म-सम्मान, कर्तव्यपरायणता और सत्यनिष्ठा की स्थापना द्वारा नव-जीवन का सचार करे।

गीता हमारी है, उसका हमको गर्व है। पर साथ ही उसका सार्वदेशिक और सार्वकालिक महत्त्व भी है। समस्त मानव-समाज के कल्याण का रहस्य उसमें निहित है। कर्तव्य-बुद्धि की भावना मे मधुर रस का सचार करने वाला, गीता का भक्तिवाद तथा आत्म-परीक्षण ही ससार के सन्तप्त तथा उद्विग्न मानव-समाज को शाति प्रदान कर सकता है। हमारा कर्तव्य है कि हम गीता के जीवन-प्रद उपदेश और सन्देश को, उदाहरण द्वारा, देश के कोने-कोने मे पहुँचाएँ, और इस प्रकार वह दिन शीघ्र आए, जब कि प्रवुद्ध भारत मानव-जाति के कल्याण की भावना से उसके अनुपम प्रकाश को ससार मे फैला सके।

—×—

द्वितीय परिशिष्ट

(च)

[अभिनव भारत के निर्माण में रूढि-मूलक वर्ण-भेद एक गहरी समस्या है। इस लेख में इसी समस्या के एक पहलू पर ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन किया गया है। प्रकृत ग्रन्थ में इस विवेचन का कई बार उल्लेख हुआ है।]

वर्णभेद तथा जातिभेद का परस्पर सम्बन्ध[1]

भारतवर्ष मे हिन्दू-समाज की सवसे वडी विशेषता जाति-भेद और वर्ण-भेद है। एक ओर हिंदू-समाज सैकडो विभिन्न जातियो मे बँटा हुआ है, जो व्यवहार में एक दूसरे से वहुत करके बिलकुल असबद्ध है। दूसरी ओर प्राचीन परम्परा के विद्वान् उन सैकडो जातियो के चार वर्णों में वर्गीकरण करने का असफल प्रयत्न् चिरकाल से करते आये हैं। जाति-भेद और वर्ण-भेद का परस्पर क्या सबध है, इसी का विचार हम ऐतिहासिक दृष्टि से इस लेख में करना चाहते हैं।

इस पर विचार करने से पहले यह वतला देना आवश्यक है कि वर्ण-व्यवस्था का विचार वैज्ञानिक और व्यावहारिक, दोनो दृष्टियो से किया जा सकता है। वैज्ञानिक विचार तो समस्त सभ्य जातियो पर लागू हो सकता है, क्योकि वैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार तव तक किसी सभ्य जाति का काम चल ही नही सकता, जव तक उसमें चारो वर्णो के मनुष्य उचित सख्या में न हो। वास्तव में जो जाति जितनी ही सभ्य और उन्नत होगी, उसमें उतने ही वस्तुत: उन्नत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होगे। इस प्रकार की वास्तविक तथा

---

१ काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'श्री सपूर्णानन्द अभिनन्दन-ग्रन्थ' से कुछ परिवर्तन और परिवर्धन के साथ उद्धृत ग्रन्थ-कर्ता का लेख।

अकृत्रिम वर्ण-व्यवस्था बहुत अशो मे, उदाहरणार्थ, आजकल योरप के इग्लैण्ड आदि देशो मे पायी जाती है । इसीलिए वे देश रूढि-मूलक वर्ण-व्यवस्थावाले देशो की अपेक्षा अधिक ज्ञान, बल, धन और शिल्प से भरपूर है । जितने ज्ञानी (=ब्राह्मण), बली (=क्षत्रिय), धनी (=वैश्य) और शिल्पी (=शूद्र) उन देशो मे है, उतने हमारे जैसे देशो में नही ।

पुराणो[1] में जहाँ तत्तद् द्वीप के भेद से भिन्न-भिन्न चार नामो से चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का वर्णन किया है वहाँ इसी प्रकार की वैज्ञानिक वर्ण-व्यवस्था से अभिप्राय है ।

परतु भारतवर्ष की आधुनिक वर्ण-व्यवस्था का विचार वैज्ञानिक दृष्टि के स्थान मे व्यावहारिक दृष्टि से ही किया जा सकता है । यहाँ वर्ण-व्यवस्था का विचार यही कह देने से समाप्त नही हो जाता कि ज्ञान-प्रधान, कर्म-प्रधान और इच्छा-प्रधान व्यक्तियो को क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और जिनमें ज्ञान, क्रिया, इच्छा का समुचित विकास न हुआ हो उनको शूद्र समझना चाहिए । यहाँ तो वैज्ञानिक दृष्टि से साकर्य, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषो के रहने पर भी, रूढि या व्यवहार के अनुसार ही वर्ण-भेद माना जा सकता है । यहाँ "**शास्त्राद्रूढिर्बलीयसी**" यह न्याय बिलकुल घट जाता है । इसी कारण से रूढि-मूलक वर्ण-भेद के पोषको ने भिन्न-भिन्न वर्णों को देखते ही उनका भेद प्रतीत हो जाए, इस उद्देश्य से भिन्न-भिन्न अवस्थाओं मे उन के लिए भिन्न-भिन्न कृत्रिम चिह्नो के रखने का विधान किया है । उदाहरणार्थ, ब्राह्मण, क्षत्रिय

---

१ उदाहरणार्थ, जम्बू-द्वीप (जिसमे भारतवर्ष है) के अतिरिक्त प्लक्ष, शाल्मल, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर, इन छह द्वीपो के वर्णन के प्रसङ्ग में उन सबमे, भिन्न-भिन्न नामो से, चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का वर्णन **विष्णु-पुराण** में इस प्रकार किया गया है—"वर्णाश्च तत्र (=प्लक्षे) चत्वारस्तान् निबोध वदामि ते ।। **आर्यकाः कुरराश्चैव विदिश्या भाविनश्च ते** । विप्रक्षत्रियवैश्यास्ते शूद्राश्च मुनिसत्तम ।। शाल्मले ये तु वर्णाश्च वसन्त्येते महामुने । **कपिलाश्चारुणाः पीताः कृष्णाश्चैव** पृथक् पृथक् ।। ब्राह्मणा क्षत्रिया वैश्या शूद्राश्चैव वर्णास्तत्रापि (=कुशद्वीपे) चत्वारो **दमिन शुष्मिणः स्नेहा मन्देहाश्च** महामुने ।। ब्राह्मणा क्षत्रिया वैश्या शूद्राश्चानुक्रमोदिता । (क्रौञ्चद्वीपे) **पुष्करा पुष्कला धन्यास्तिष्याख्याश्च** महामुने । ब्राह्मणा क्षत्रिया वैश्या शूद्राश्चानुक्रमोदिता ।। (शाकद्वीपे) **वङ्गाश्च मागधाश्चैव मानसा मन्दगास्तथा** । वङ्गा ब्राह्मणभूयिष्ठा मागधा क्षत्रियास्तथा । वैश्यास्तु मानसास्तेषा शूद्रास्तेषा तु मन्दगा ।। (पुष्करद्वीपे) वर्णाश्रमाचारहीन धर्माचरणवर्जितम् । " (विष्णुपुराण २।४।१६-१७, ३०-३१, ३८-३९, ५३, ६९, ८२) ।

और वैश्य वर्ण के ब्रह्मचारियो के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के दड, मेखला आदि का विधान **मनुस्मृति** आदि मे किया गया है ।[1]

इतनी उपक्रमणिका के पश्चात् अब हमें यह विचार करना चाहिए कि भारतीय आधुनिक वर्ण-भेद और जाति-भेद मे परस्पर क्या सबन्ध है। इस सबध के विषय में कई मत हो सकते हैं । प्रथम तो उन लोगो का मत है, जो चिरकाल से भारतवर्ष मे वैज्ञानिक वर्ण-व्यवस्था को रूढि-मूलक वर्ण-व्यवस्था का रूप देने का प्रयत्न करते रहे है। उनका मत है कि सृष्टि के प्रारभ से ही चारो वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख आदि अगो से पृथक् पृथक् हुई ।

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मणा वर्णतां गतम् ।।

(महाभारत । शान्तिपर्व १८८।१०)

तथा (कृतयुगे). **.वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च न तदासन्न संकरः ।**

(वायुपुराण ८।६०)

इस प्रकार के अनकानेक स्पष्ट वचनो के प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थो में पाये जाने पर भी, वे लोग

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्य. पद्भ्याᳬ शूद्रो अजायत ।।

(यजुर्वेद ३१।११)

जैसे वचनो का उपर्युक्त अर्थ ही करते हैं।

इस मत की प्रत्यक्ष दुर्बलता तथा अनैतिहासिकता के विषय मे यहाँ कुछ न कहकर, हम उसके केवल इस अभिप्राय को लेकर ही विचार करेंगे कि

---

१ उदाहरणार्थ, **मनुस्मृति** मे विभिन्न वर्णों के ब्रह्मचारियो के लिए भिन्न-भिन्न चर्म, मेखला आदि का विधान इस प्रकार किया गया है—"कार्ष्णरौरवबास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिण । वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमादिकानि च ।। मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला। क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ।। कार्पासमुपवीत स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृत त्रिवृत् । शणसूत्रमय राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ।। ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ । पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मत ।।" (मनु० २।४१–४२, ४४–४५) इत्यादि। इस प्रकार की पृथक्त्व की प्रवृत्ति प्रारम्भ मे न होकर क्रमश वढती गयी, यह प्राचीन तथा नवीन गृह्य-सूत्रो के काल-क्रमिक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। भेद-भाव की इस प्रवृत्ति के इतिहास पर हम फिर कभी विचार करेंगे।

उपर्युक्त चारो भेद सृष्टि के प्रारभ से ही है। इस मत के मान लेने पर यह प्रश्न उठता है कि ऐसी दशा मे आजकल की अनेकानेक जातियाँ कहाँ से आ गयी ? इसका उत्तर उक्त मतवादियो की तरफ से यही दिया जाता है कि इन जातियो मे से कुछ तो उपर्युक्त वर्णो की ही भिन्न-भिन्न शाखाएँ है, और कुछ की उत्पत्ति चारो वर्णों के परस्पर सकर से हुई है। **मनुस्मृति**[1] आदि ग्रथो मे इसी प्रकार से अनेक (मागध, सूत, चर्मकार आदि) जातियो की उत्पत्ति बतलायी गयी है। दूसरे शब्दो मे, इस मत के अनुसार रूढ वर्ण-व्यवस्था पहले से है, और जातियो का भेद उसके बाद का है। इसीलिए इस मत के अनुसार जाति-भेद का वर्ण-भेद से घनिष्ठ मौलिक सबध है। इस मत के आधार पर वर्णों के भी जाति-भेद मानकर जातियो को अवातर जातियाँ कहा जाता है।

दूसरा मत आजकल के अनेक सुधारको का है। वे कहते है, प्राचीन समय मे अनेकानेक जातियाँ नही थी। गुण-कर्मानुसार उपर्युक्त वैज्ञानिक अर्थ मे केवल चार वर्ण थे। उसके पश्चात् आर्थिक, सामाजिक तथा स्थानीय आदि अनेक कारणो से अनेकानेक जातियाँ हो गयी। सकरज कहलाने वाली जातियो के विषय मे उनका क्या मत है, यह हम ठीक-ठीक नही कह सकते। कदाचित् ये लोग सकरज जातियाँ नही मानते।

कई विशेष अशो में उक्त मतो से समानता रखने पर भी, सामान्य रूप से हमारा विचार उनसे भिन्न है। हमारे विचार मे अनेकानेक वर्तमान जातियो का वर्ण-भेद से कोई मौलिक सबध नही है। जाति-भेद का कारण वर्ण-सकरता बहुत ही कम है। वास्तविक कारण आर्थिक और सामाजिक तथा मनुष्य-जाति-विज्ञान आदि से सबध रखनेवाले है। बहुत अशो मे अनेक जातियाँ वर्ण-विभाग से पूर्व की भी हो सकती है। इसलिए जातियो को वर्णो का विकृत या परि-वर्त्तित रूप न मानकर यही कहना ठीक होगा कि अनेक भिन्न-भिन्न कारणो से स्वतत्रतया सिद्ध और कई अशो में वर्ण-व्यवस्था से पूर्ववर्ती जातियो पर बाहरी वर्ण-व्यवस्था का आरोप करने का प्रयत्न चिरकाल से बराबर किया गया है।

सभ्यता के इतिहास मे एक समय ऐसा आता है, जब अनेक कारणो से अनेक बिरादरियाँ या जातियाँ बन जाती है। अनेक कारणो मे से एक कारण आर्थिक होता है। सभ्यता की उस अवस्था मे, जब कि मनुष्यो की आवश्यकताए बहुत अधिक न होकर नियत होती है, साथ ही दूर देशो के साथ गमनागमन भी कम होता है, भिन्न-भिन्न पेशो के अनुसार भिन्न-भिन्न मनुष्य-समुदाय अपना पृथक् समाज बना लेते है। उनको इसमे सहूलियत होती है कि आपस मे ही विवाहादि

१ देखिए—**मनुस्मृति** का १० वाँ अध्याय।

सवध करे। उदाहरणार्थ, एक कुम्हार के लडके को कुम्हार ही की लडकी से शादी करने मे वडी सुविधा होती है। वह अपने वाल्यकाल मे ही अपने पेशे मे निपुण हो जाती है, और पति के घर आते ही उसको उसके काम मे सहायता देने लगती है। यही दशा चर्मकार आदि दूसरे पेशो के लोगो की है। जातियो का एक कारण वश-मूलक भी हो सकता है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की जातियो का रूढि-मूलक वर्ण-भेद से कोई मौलिक सवध नही है।

जाति-भेद का कारण वर्ण-साकर्य वहुत कम है, इसका एक प्रमाण **यजुर्वेद** (माध्यदिन-सहिता, अध्याय ३०) से मिलता है। इसमे सूत, रथकार, मागध, चर्मकार, चाडाल आदि अनेक ऐसी जातियो का उल्लेख है, जो **मनुस्मृति** आदि के अनुसार वर्णसकरता से ही उत्पन्न हुई हे। **मनुस्मृति** आदि के इस कथन को माननेवाले लोगो से पूछना चाहिए कि जब वेद, वर्णों की तरह, सृष्टि के प्रारभ में ही उत्पन्न हुए, तो उसी समय ये वर्ण-साकर्य से उत्पन्न जातियाँ कहाँ से आ गयी ?

महाभाष्य, अष्टाध्यायी आदि से भी मनुस्मृति आदि ग्रथो के वर्णसकरमूलक सिद्धात का विरोध प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, **मनुस्मृति** (अध्याय १०) आदि के अनुसार आम्बष्ठ्य, और मागध सकर-मूलक जातियाँ हे, परतु **पाणिनीय-अष्टाध्यायी** (देखिए अध्याय ४, पाद १, सूत्र १६८–१७१) तथा **महाभाष्य** के अनुसार ये क्षत्रियो की विशेष जातियाँ थी।

इस विरोध का कारण हमे निम्नलिखित प्रतीत होता है।

प्रारभ में 'ब्राह्मण', 'क्षत्रिय' आदि वर्णवाची शब्द यौगिक समझे जाते थे। इसी कारण आर्यावर्त्त के अदर तथा आसपास रहनेवाली अनेक आर्य तथा अनार्य जातियो को उनके कर्म के अनुसार आर्य लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि शब्दो से पुकारते थे। पीछे से जव ये शव्द आर्यावर्त मे रूढार्थक हो गये, तव उन आर्य या अनार्य जातियो को जिनमे आर्यावर्तीय आर्य-सस्कृति ठीक रूप मे नही पायी जाती थी, यहाँ के शास्त्री लोग सकरज या शूद्र कहने लगे। यही कारण है कि जहाँ एक ओर **अष्टाध्यायी** (देखिए काशिका ४।१। १६८–१७८) आदि के अनुसार पौण्ड्र, कवोज, चोल, केरल, शक आदि आर्य या अनार्य जातियाँ क्षत्रिय कही गयी हे, वहाँ दूसरी ओर **मनुस्मृति**[1] आदि के अनुसार वे या तो वृषल कही गयी हे या सकरज वतलायी गयी हे। चीनी आदि अनार्य जातियो के विषय में

---

१ देखिए—"शनकैस्तु क्रियालोपादिमा क्षत्रियजातय । वृपलत्व गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ।। पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडा काम्वोजा यवना शका । पारद: पह्लवाश्चीना किराता दरदा खशा ।। (मनु० १०।४३–४४)

मनुस्मृति का [यह कहना कि वे "शनकैस्तु क्रियालोपाद् . ब्राह्मणादर्शनेन च", अर्थात् पूर्ववर्ती आर्य-सस्कृति के छोड देने से शूद्रता को प्राप्त हो गयी है, केवल उपहासास्पद है।

ऊपर के उदाहरणो से प्रतीत होता है कि सृष्टि के प्रारभ से ही चार पृथक्-पृथक् रूढिपरक वणो की स्थिति के सिद्धान्त को माननेवालों ने जब अनेकानेक जातियाँ देखी, विशेष कर भारतवर्ष के उन प्रान्तो मे जहाँ रूढिपरक वर्ण-व्यवस्था प्रचलित नही हुई थी, तब उनको सकर-मूलक कहना प्रारभ कर दिया। वास्तव मे उनका वर्ण-भेद-व्यवस्था से कोई सबध उस समय तक नही होने पाया था, और वे प्रायेण स्वतन्त्रतया सिद्ध जातियाँ थी।

जाति-भेद और वर्ण-भेद के सबध को समझाने के लिए हम 'शूद्रो' का उदाहरण ले सकते है। शूद्र कहलाने वाले लोगो के लिए जाति-भेद तो वास्तविक है। वे शूद्र है, इसको न तो वे कहते है, न जानते ही है। 'शूद्र' शब्द उनकी बोली या भाषा मे है ही नही। वास्तव मे देखा जाए, तो यही कहना होगा कि 'शूद्र' शब्द शास्त्री लोगो ने उनके ऊपर उसी तरह लाद दिया है, जैसे 'नेटिव' शब्द का समारोप हमारे ऊपर विदेशी लोग करने लगे थे।

हिंदू-समाज में इस समय भी अनेकानेक ऐसी जातियाँ है, जिनके विपय में एकमत से यह नही कहा जा सकता कि उनका किस वर्ण से सबध है। इससे भी यह स्पष्ट है कि वर्ण-भेद जाति-भेद से वस्तुत असबद्ध है, और कई अशो मे उसके बाद का भी हो सकता है।

रूढि-मूलक वर्ण-व्यवस्था के पक्षपाती यह देखकर प्राय बुरा मानते है कि अनेक जातियाँ किसी ऋषि आदि की अपने आदि-पुरुप के रूप मे कल्पना करके अपने को तत्तद्वर्ण का कहना चाहती है। यह प्रवृत्ति आजकल कुछ अधिक देखी जा रही है, यद्यपि भारतवर्प के इतिहास मे यह बिलकुल नई नही है। हमारे सिद्धान्त से तो रूढि की दृष्टि से किसी अनिश्चित-वर्ण जाति के लोगो का भिन्न-भिन्न वर्णों मे घुसने का प्रयत्न बिलकुल व्यर्थ है। इससे उनमे आत्म-सम्मान की मात्रा की कमी और रुढि के प्रति दास्य-बुद्धि ही प्रकटित होती है।

वर्ण-भेद और जाति-भेद के परस्पर सबध के विपय में परपरागत विचार ही उक्त प्रयत्न का प्रेरक होता है। इस सबध का यदि वास्तविक स्वरूप और इतिहास लिया जाय, तब तो यही कहना ठीक होगा कि उन लोगो का रुढि मूलक वर्णव्यवस्था से अभी तक कोई सबध नही हुआ है। परतु सामाजिक वातावरण में फैले हुए विचार उनको विवश करते है। जो दशा आज है, वही प्राचीन

समय में रही होगी। अनेक भारतीय जातियाँ, जिनका रूढ वर्ण-भेद से कोई सबध नहीं था, वर्ण-भेद को मानने वाली तथा राजनीतिक आदि कारणो से अपने से प्रबल जातियो की देखा-देखी अपने को भी उस-उस वर्ण का कहने लगती होंगी। मुसलमानो मे वर्ण-भेद के लगभग समानार्थक 'शेख', 'पठान', और 'सैयद' शब्दो की भी यही गति रही है। हिन्दुओ की अनेक जातियाँ धर्मपरिवर्तन के बाद अपने को इन्ही नामो से कहने लगी हे।

जाति-भेद और वर्णभेद के इतिहास का वास्तव मे परस्पर कोई मौलिक सबध नही है। बहुत अशो मे जातियाँ, किसी न किसी रूप मे, वर्ण-भेद से पूर्व भी रही होगी। हाँ, प्राचीन समय मे वे आजकल के समान पक्की तौर पर एक-दूसरे से बिलकुल असम्बद्ध न रही होगी। वैदिक 'पञ्चजना' शब्द का अर्थ विद्वान् यह समझते हे कि उस समय आर्यों मे मुख्य पाँच कुल या जातियाँ थी। इसी प्रकार स्काटलैण्ड आदि दूसरे देशो में भी प्राचीन समय मे लोगो में अनेकानेक गण होते थे। जाति-भेद का एक बडा अच्छा उदाहरण अमेरिका के सयुक्तराज्य से मिलता है। वहाँ योरप के भिन्न-भिन्न देशो के लोग जाकर वसे हे। उनके इटैलियन, रशियन, जर्मन आदि गण बन गये हे, यद्यपि वे ऐसे परस्पर असवद्ध नही हे, जैसी आजकल की भारतवर्ष की बिरादरियाँ।

सामान्य रीति से यह कहा जा सकता है कि बहुत अंशो में जाति-भेद और वर्ण-भेद का इतिहास पृथक्-पृथक् है। ये दो स्वतंत्र धाराएँ हे। जाति-भेद की धारा को यदि ऐतिहासिक कहा जाए, तो वर्ण-भेद की धारा को रूढ़ या साकेतिक कह सकते हे। प्रथम का कारण यदि ऐतिहासिक या वस्तुगत है, तो दूसरी का काल्पनिक या केवल विचार-मूलक ।

उपर्युक्त सिद्धान्त की दृष्टि से यही कहना होगा कि सामान्य रूप से पूर्व-सिद्ध चार वर्णो से विकृत या परिवर्तित होकर ये आजकल की अनेकानेक जातियाँ नही वनी हे, किन्तु इसके विपरीत अनेक अन्य कारणो से स्वतन्त्रतया सिद्ध अनेक जातियो को ही पहले आर्यभाषा के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार शब्दो द्वारा, वहुत-कुछ इनके यौगिक अर्थो में, चार विभागो में बाँटा गया। पीछे से ये शब्द रूढि-परक होकर प्रयुक्त होने लगे। इसका काल वह ज्ञात होता है, जब कि आर्य लोग पजाब से आगे बढ़कर मध्यदेश में बस चुके थे। उसी काल में पहले यौगिक और पीछे से रूढि-मूलक वर्ण-व्यवस्था का प्रचार हुआ। रूढिमूलक वर्ण-व्यवस्था के स्थिर हो जाने पर यह माना जाने लगा कि सृष्टि के प्रारभ से ही चारो वर्ण एक-दूसरे से पृथक् हे। उस समय के पीछे जब आर्य पडितो ने दूसरी अनार्य या आर्य होते हुए भी रूढ वर्ण-व्यवस्था

को न माननेवाली जातियो को देखा, तब विवशतया उन्हे सकर के सिद्धान्त की कल्पना करनी पडी। तब भी आर्यों के प्रभाव और भारतवर्ष मे विस्तार के बढने के साथ-साथ वे जातियाँ अपने को तत्तद् वर्ण के साथ सबद्ध करने का प्रयत्न करती रही। अनेक जातियो मे अपने-अपने वर्ण के विषय मे जो विवाद पाया जाता है, वह बहुत करके इसी प्रयत्न का लक्षण है। ऐसी जातियों में से अनेक, जिनका प्रभाव अधिक था, अपने पेशे आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न उच्च वर्णों की बन गयी। परतु अनेक जातियो को शास्त्रीय पडित अब तक सकरज या शूद्र ही कहते है।

इस प्रकार की अनेक अनार्य या अनार्य-बहुल जातियाँ आजकल के प्रत्यक वर्ण मे मौजूद है। इसका प्रमाण, मनुष्य-जाति-विज्ञान की सहायता के बिना भी, प्राचीन पुस्तको मे पाया जाता है। **अष्टाध्यायी** में एक सूत्र है—**"आर्यो ब्राह्मण-कुमारयोः"** (६।२।५८)। इसके उदाहरण और प्रत्युदाहरण है—**'आर्यब्राह्मणः'** और **'आर्यक्षत्रियः'**। दोनो मे कर्मधारय समास है। दोनो जगह 'आर्य' शब्द मूलत विशिष्ट-जाति-परक (या 'रेशियल सेन्स' मे) ही हो सकता है, क्योकि उस काल के साहित्य मे 'आर्य' शब्द, 'शूद्र' शब्द के मुकाबले में प्रयुक्त होने से, यही अर्थ रख सकता था।[1] इन उदाहरणो से अर्थापत्ति से यही सिद्ध होता है कि उस काल मे भी अनेक जातियाँ ब्राह्मणो और क्षत्रियो आदि मे ऐसी रही होगी, जो वास्तव मे 'अनार्य' थी। **शतपथ-ब्राह्मण** (१।१।४।१४) में **असुर-ब्राह्मणो**[2] के उल्लेख से भी यही सिद्ध होता है। इसी प्रकार आसाम के इतिहास मे **'म्लेच्छ-ब्राह्मणों'**[3] का उल्लेख मिलता है। धर्मशास्त्र के ग्रथो में श्राद्ध में जो **द्राविडादि ब्राह्मणो** के निमत्रण का निषेध पाया जाता है[4], उसके भी मूल मे यही कारण प्रतीत होता है।

---

१ तु० **"अवरोऽप्यार्यः शूद्रेण"** (गौतमधर्मसूत्र ६।११) पर हरदत्त की टीका **"आर्यस्त्रैवर्णिक।"**

२ देखिए—**"किलाताकुली इति हासुरब्रह्मावासतु"** (शतपथ-ब्रा० १।१।४।१४)

३ देखिए—"The Social History of Kāmarūpa", Vol. I, by N. N. Vasu, पृष्ठ १२७, १५४

४. तु० **"हेमाद्रौ मात्स्ये। त्रिशङ्कून् बर्बरानन्ध्रान् चीनद्रविडकोङ्कणान्। कर्णाटकांस्तथाभीरान् कलिङ्गांश्च विवर्जयेत्॥ तत्रैव सौरपुराणे। अङ्गवङ्गकलिङ्गांश्च द्राविडान्। आवन्त्यान् मागधांश्चैव ब्राह्मणास्तु विवर्जयेत्॥"** (निर्णयसिन्धु, श्राद्ध में निषिद्ध ब्राह्मणो का प्रकरण)। यहाँ चीनी और बर्बर आदि **ब्राह्मणो** का भी उल्लेख है।

यदि यह ठीक है कि आज-कल के रूढि-मूलक ब्राह्मण आदि वर्णों मे अनेक अनार्य जातियाँ भी सम्मिलित है, तब तो यही कहना होगा कि पजाब का एक ब्राह्मण, ऐतिहासिक दृष्टि से, पजाब के खत्री से जितना घनिष्ठ संबध रखता है, उतना मदरास के अनेक ब्राह्मणो से नही । यही बात दूसरे वर्णों के विषय में भी ठीक है।

उपसंहार

ऊपर के प्रतिपादन के अनुसार जातियो के साथ वर्ण-भेद का सबन्ध केवल साकेतिक या रिवाजू है। उसमें ऐतिहासिकता प्राय. नही है। ऐसी दशा मे **आचार-विचार और रुचि की समानता रहने पर** विभिन्न जातियो में वैवाहिक सवन्ध, भिन्न-भिन्न गोत्रो के समान ही, हो सकते है। उसमे रूढि-मूलक वर्ण-व्यवस्था के विचार को लाना अनावश्यक और अवैज्ञानिक भी है, विशेषकर आजकल, जब कि आजीविका के प्रकार में और वर्ण-भेद मे कोई घनिष्ठ सवन्ध नही रहा है।

दूसरे, परम्परागत विचार-धारा के अनुसार वर्ण-भेद के साथ ऊँच-नीच की भावना का गहरा सबन्ध है, जाति-भेद के साथ नहीं । रूढिमूलक वर्ण-भेद की भावना की उपेक्षा से, जातियाँ एक स्तर पर आ जाती है। वे आचार-विचार और रुचि की समानता के आधार पर आसानी से मिल भी सकती है।

—०—

डाक्टर मङ्गलदेव शास्त्री द्वारा
प्रणीत अथवा संपादित ग्रन्थों का परिचय[1]

(हिन्दी भाषा में)

		मूल्य
(१)	भाषाविज्ञान (अथवा तुलनात्मक भाषाशास्त्र), चतुर्थ संस्करण (परिवर्धित पञ्चम संस्करण छप रहा है)। प्राप्तिस्थान—इंडियन प्रेस लिमिटेड, बनारस।	५)
(२)	भारतीय आर्यधर्म की प्रगतिशीलता (भारतीय संस्कृति के विकास का विवेचनात्मक अध्ययन)। प्राप्तिस्थान—इंडियन प्रेस लिमिटेड, बनारस।	॥)
(३)	मिना (=प्रेम और प्रतिष्ठा का संघर्ष) ('मिना फन वार्नहेल्म' नामक जर्मन नाटक का अनुवाद)। प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।	२।)
(४)	वेदों का वास्तविक स्वरूप, अथवा 'वेदों के महान् आदर्श'। प्राप्तिस्थान—मेसर्स मोतीलाल बनारसीदास, बुकसेलर्स, पोस्ट बाक्स नं० ७५, बनारस।	।=)
(५)	रश्मिमाला (अथवा 'जीवन-संदेश-गीताञ्जलि')। मूल संस्कृत पद्य तथा हिन्दी अनुवाद। उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत। प्रकाशक—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद।	३॥)

(संस्कृत भाषा में)

(६)	ऋग्वेदप्रातिशाख्यम्, उवटाचार्यकृतभाष्येण सहितम्। प्राप्तिस्थानम्—इंडियन प्रेस लिमिटेड, बनारस।	८॥)
(७)	प्रबन्धप्रकाश (संस्कृतनिबन्धसंग्रहात्मक) प्रथमो भाग, नवम संस्करणम्। प्राप्तिस्थानम्—इंडियन प्रेस लिमिटेड, बनारस।	३)
(८)	प्रबन्धप्रकाश, द्वितीयो भाग (दीक्षान्तादिभाषणाना संग्रहात्मक 'सुविचारमाधुकर्या' तथा 'ऐतरेयब्राह्मणपर्यालोचनेन' सहितश्च)। प्राप्तिस्थानम्—इंडियन प्रेस लिमिटेड, बनारस।	३)

---

१ गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस, के प्रिंसिपल के रूप में प्रकृत लेखक द्वारा संपादित 'सरस्वती भवन ग्रन्थमाला' की पुस्तकों का उल्लेख इस सूची में नहीं है।

(९) न्यायसिद्धान्तमाला (द्वौ भागौ)। प्रकाशक—गवर्नमेण्ट प्रेस, इलाहाबाद।

(१०) उपेन्द्रविज्ञानसूत्रम् (वेदान्त)। प्रकाशक—गवर्नमेण्ट प्रेस, इलबाहाबाद। १)

(११) उपनिदानसूत्रम् (सामवेदीयम्)। प्रकाशक—गवर्नमेण्ट प्रेस, इलाहाबाद। ॥)

(१२) आश्वलायनश्रौतसूत्रम् (सिद्धान्तिभाष्यसहितम्) प्रथमो भाग। प्रकाशक—गवर्नमेण्ट प्रेस, इलाहाबाद। ॥)॥

(१३) आर्यविद्यासुधाकर। प्रकाशक—श्रीमोतीलाल बनारसीदास, बुक-सेलर्स, चौक, बनारस। १०)

(१४) भारतीयसंविधानस्य (उत्तरार्धस्य) संस्कृतानुवाद। प्रकाशक—गवर्नमेंट आफ इंडिया, देहली।

(१५) ऐतरेयारण्यकपर्यालोचनम् (अथवा 'ऐतरेयारण्यक आचार-विचारा')। प्राप्तिस्थानम्—श्री मोतीलाल बनारसीदास, बुकसेलर्स, पोस्ट बाक्स नं० ७५, बनारस। २)

(इंगलिश भाषा में)

(१६) ऋग्वेदप्रातिशाख्यम् (English Translation, Critical Notes, Appendices, etc).
प्रकाशक—श्री मोतीलाल बनारसीदास, बुकसेलर्स, पोस्ट बाक्स नं० ७५, बनारस। २०)

(१७) ऋग्वेदप्रातिशाख्यम् (Critical Introduction, Text in Sanskrit Stanzas, Appendices, etc). In the Press (to be had from the above address)

—— o ——